क्रान्तिकारी सन्तवाणी
'मानव सेवा संघ' के प्रवर्तक
ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज
के चुने हुए अनमोल वचन
त्याग
प्रेम
सेवा
मानव सेवा संघ, वृन्दावन

क्रान्तिकारी सन्तवाणी

'मानव सेवा संघ' के प्रवर्तक
ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज
के चुने हुए अनमोल वचन

संकलनकर्त्ता
राजेन्द्र कुमार धवन

मानव सेवा संघ, प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

• *प्रकाशक :*
मानव सेवा संघ
वृन्दावन (मथुरा)
पिन—281121

• *प्रथम संस्करण :* 2010

• 2000 प्रतियाँ

• *मूल्य :* 50.00 रुपये

• *मुद्रक :*
पावन प्रिन्टर्स
मेरठ

प्राक्कथन

ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्री शरणानन्दजी महाराज एक अभूतपूर्व दार्शनिक सन्त हुए हैं। अध्यात्म-क्षेत्र में वे जितनी गहराई तक पहुँचे थे, उतनी गहराई तक शायद ही कोई दार्शनिक पहुँचा हो ! विश्व में उनके समान महान् विचारक मिलना दुर्लभ है ! अध्यात्म-जगत् में उन्होंने अनेक नये-नये आविष्कार किए। उनके विचार किसी धर्म, मत, सम्प्रदाय, देश आदि में सीमित न होकर मानव मात्र के लिये हितकारक हैं। परन्तु अभी तक उनके क्रान्तिकारी विचारों का व्यापक प्रचार नहीं हुआ है। इतना अवश्य कह सकते हैं कि जिस समय संसार उनकी विचारधारा को जान लेगा, उस समय अध्यात्म-जगत् में एक क्रान्ति आ जायगी, इसमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है।

श्री महाराज की पुस्तकों की शैली जटिल होने से हर किसी को उनकी बातें सहज समझ में नहीं आतीं। ऐसी स्थिति में उनके साहित्य का प्रचार कैसे हो, उनकी अमूल्य बातें जन साधारण तक कैसे पहुँचें, उनके अनूठे भावों से लोग कैसे परिचित एवं लाभान्वित हों—इस उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक **'क्रान्तिकारी सन्तवाणी'** की रचना की गई है। इसमें विषयानुसार ढाई हजार से अधिक अमूल्य वचनों का संग्रह किया गया है। इससे पाठकों को विषयानुसार श्री महाराज जी के विचारों को जानने में सुविधा होगी।

श्री महाराज जी की पुस्तकों में आयी सामग्री इतनी ठोस एवं मार्मिक है कि उसमें से कौन-सी ली जाय और कौन-सी बात छोड़ दी जाय इसका निर्णय करना बड़ा ही कठिन कार्य है ! अत: अपनी सीमित बुद्धि से जितना सम्भव हो सका, वचनों का संकलन कर दिया है। यदि पाठकों को यह संकलन उपयोगी लगा हो तो यह श्री महाराज जी की ही कृपा का परिणाम है।

पाठकों से प्रार्थना है कि यदि उन्हें इस पुस्तक में आयी किसी बात को विशेष रूप से समझना हो तो वे मूल पुस्तक का अवलोकन करें।

जिज्ञासु पाठकों से निवेदन है कि वे इस पुस्तक में ही सन्तोष न कर लें, प्रत्युत **'मानव सेवा संघ'** से प्रकाशित श्री महाराज जी के साहित्य का भी अवश्य अध्ययन करें। कारण कि उनके साहित्य-सागर में न जाने कितने बहुमूल्य रत्न छिपे पड़े हैं, जिन्हें कोई भी जिज्ञासु खोजकर निकाल सकता है और विशेष लाभ प्राप्त कर सकता है।

इस पुस्तक में जो भी लिखा गया है, वह केवल पढ़ने के लिये नहीं है, प्रत्युत पढ़कर उस पर गम्भीरतापूर्वक मनन-विचार करने के लिये है। आशा है, सत्य की खोज में रत जिज्ञासु साधक इस पुस्तक का अध्ययन-मनन करके लाभ उठायेंगे।

निवेदक

वि.सं. 2067 **राजेन्द्र कुमार धवन**

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी

सुधामयी,

सर्व समर्थ,

पतित पावनी,

अहैतुकी कृपा से

दुःखी प्राणियों के हृदय में

त्याग का बल

एवं

सुखी प्राणियों के हृदय में

सेवा का बल

प्रदान करें,

जिससे वे

सुख-दुःख के

बन्धन से

मुक्त हो,

आपके पवित्र प्रेम का

आस्वादन कर

कृतकृत्य हो जायँ।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

उपोद्घात

"क्रान्तिकारी सन्तवाणी" के रूप में यह संकलन संघ साहित्य के अध्येता-साधकों के समक्ष प्रस्तुत है। इसमें आज के युग के महान क्रान्तदृष्टा, मानवता के पुजारी, अनन्त के नित्य सखा, हम सबके अपने, योगवित्, जीवन्मुक्त और भगवद्भक्त महापुरुष की अमरवाणी का विषयानुसार चयन एवं संकलन है। संकलनकर्त्ता श्री राजेन्द्र धवन से अधिकांश पाठक एवं अध्येता परिचित हैं। परिचित कराना समीचीन होगा कि आपने ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी रामसुखदास जी महाराज की प्राय: सभी पुस्तकों को लिपिबद्ध एवं सम्पादित कर प्रकाशित कराया है।

पूज्य स्वामी रामसुखदास जी महाराज मानव सेवा संघ के प्रणेता सन्त की अमर वाणी के अनन्य प्रेमी थे। स्वामी शरणानन्द जी महाराज के दर्शन को वे 'सातवाँ दर्शन' (मानव दर्शन) कहकर अभिहित करते थे। अपने परिपार्श्व में रहने वाले परिकर समुदाय को वे प्राय: स्वामी शरणानन्द जी महाराज की पुस्तकें पढ़ने की प्रेरणा दिया करते थे। वे शरणानन्द जी महाराज की वाणी को 'अकाट्य' मानते थे।

श्री राजेन्द्र धवन पू०पा० स्वामी शरणानन्द जी महाराज की दिव्य वाणी के भी अच्छे अध्येता हैं। प्रस्तुत पुस्तक में आपने मानव सेवा संघ के प्रणेता सन्त के अमृत-वचनों को उनकी विविध पुस्तकों से चुनकर विषयानुसार पाठकों के लाभार्थ एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। आशा है कि पुस्तक जिज्ञासु साधकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

इसी सद्भावना के साथ !

बसन्त पंचमी
दिनाँक 20-01-2010

शुभेच्छु

स्वामी अद्वैत चैतन्य
मानव सेवा संघ
वृन्दावन

विषय-सूची

		पृष्ठ-संख्या
1.	अप्रयत्न (कुछ न करना)	9
2.	असाधन	15
3.	अहम्	17
4.	आस्था	22
5.	आस्तिकता-नास्तिकता	25
6.	उन्नति	28
7.	उपदेश	30
8.	एकता	31
9.	कर्तव्य	33
10.	काम	39
11.	कामना	41
12.	कृपा	50
13.	गुण-दोष	53
14.	गुरु	62
15.	चिन्तन	67
16.	जीवन	70
17.	ज्ञान	73
18.	त्याग	80
19.	धन	84
20.	धर्म	87
21.	ध्यान	89
22.	न्याय	91
23.	परदोषदर्शन	93
24.	परमात्मा	97
25.	परमात्म प्राप्ति	103
26.	परिस्थिति (अनुकूलता-प्रतिकूलता)	110
27.	प्रवृत्ति-निवृत्ति	114
28.	प्रार्थना	116
29.	प्रेम	120
30.	बुराई (परदोषदर्शन)	135

31. भक्त 138
32. भय 141
33. भोजन 143
34. मन 145
35. ममता 150
36. मानव 156
37. मानव-सेवा-संघ 163
38. मुक्ति (कल्याण) 167
39. मूक सत्संग 170
40. मृत्यु 176
41. योग 179
42. राग-द्वेष 181
43. राजनीति 184
44. रोग 187
45. लक्ष्य (उद्देश्य) 191
46. वस्तु 193
47. विवेक 198
48. विश्व शान्ति 201
49. विश्वास 203
50. विश्राम 206
51. वैराग्य 209
52. शरणागति 210
53. शरीर 214
54. शिक्षा 221
55. संकल्प 223
56. संघर्ष 227
57. संसार (सृष्टि, विश्व) 229
58. सत्संग (दे० मूक सत्संग) 234
59. सदुपयोग 238
60. समाज 241
61. साधक 245
62. साधन 251
63. सामर्थ्य (बल) 265

64. सुख और दु:ख 268
65. सुखभोग 278
66. सेवा 282
67. स्वरूप 291
68. स्वाधीनता 293
69. 'है' 295
70. प्रकीर्ण 298
हृदय उद्गार 317
प्रार्थना 319
मानवता के मूल सिद्धान्त 320

अप्रयत्न (कुछ न करना)

1. कुछ न करने से जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाता है और सही करने से जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाता है।

—संतवाणी 6

2. यह नियम है कि 'करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव नहीं रहता अर्थात् नित्य नहीं है। किन्तु 'कुछ न करने' से जो कुछ मिलता है, वह सदैव रहता है अर्थात् नित्य है।

—मानव की माँग

3. सही करने से गलत करना भी मिट जाता है और 'न करना' भी स्वत: प्राप्त होता है। —मानव की माँग

4. 'न करने' की स्थिति में जो जीवन है, वह मेरा अपना जीवन है। और काम 'करने' में जो जीवन है, वह सामाजिक जीवन है।

—साधन-त्रिवेणी

5. एक गहरी बात है कि वर्तमान में जिसका अनुभव होगा, उसके लिए कोई भी प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा।...... प्रयत्न तो उदय होता है अहम्-भाव से, और अनुभव होता है अहम् मिटने से।...... अनुभव के लिए अप्रयत्न ही प्रयत्न है। —मानव की माँग

6. जो जीवन उत्पत्ति-विनाश-रहित है और जिससे देश-काल की भी दूरी नहीं है, उसे तो वर्तमान में ही अप्रयत्नरूपी प्रयत्न से प्राप्त कर सकते हैं। —मानव की माँग

7. 'करने' का जन्म किसी-न-किसी चाह से ही होता है। 'न करना' उन्हीं को प्राप्त होगा, जो चाह से रहित हैं। —मानव की माँग

8. जब हम 'कुछ नहीं करते', तब वे हमें सब कुछ देते हैं। जब हम सही करते हैं, तब भी हमारी उत्तरोत्तर उन्नति होती है और जब

हम गलत करते हैं, तब भी वे दुःख के स्वरूप में प्रकट होकर सचेत करते हैं।

—मानव की माँग

9. ममता रखते हुए, चाह रखते हुए क्या अप्रयत्न हो सकते हो ? कदापि नहीं हो सकते ।

—संतवाणी 7

10. श्रम के द्वारा उसी को जाना जाता है, जिससे देश, काल आदि की दूरी हो। जो देश, काल आदि की दूरी से रहित है, उसका परिचय श्रम-रहित होने पर ही सम्भव है।

—मानव-दर्शन

11. करने का राग रहते हुए अप्रयत्न होना सम्भव नहीं है।

—मानव-दर्शन

12. प्राकृतिक नियमानुसार सब कुछ करने पर जिसकी प्राप्ति होती है, कुछ न करने पर भी उसी की उपलब्धि होती है। पर कुछ न करने के लिए सामर्थ्य तथा विवेक के अनुरूप फलासक्ति से रहित कर्तव्य-पालन अनिवार्य है।

—मानव-दर्शन

13. किया हुआ साधन साधक के अहंभाव को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखता है।

—मूक सत्संग

14. करने से जो कुछ मिलता है, वह सदैव नहीं रहता। जो सदैव नहीं रहता, वह मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं हो सकता।

—मूक सत्संग

15. वास्तविक माँग की जागृति श्रम-रहित होने पर ही होती है। कामनाओं की पूर्ति के लिए श्रम अपेक्षित है और श्रम के लिए शरीरादि वस्तुओं की आवश्यकता होती है।

—मूक सत्संग

16. श्रम का सम्पादन शरीरादि के बिना सम्भव नहीं है। किन्तु सत् का संग करने के लिए तो शरीर के सहयोग की भी आवश्यकता नहीं होती। वह तो श्रम-रहित होने पर अपने-आप हो जाता है।

—मूक सत्संग

17. सत्संग श्रम-रहित होने पर स्वतः हो जाता है। श्रम-रहित होने के लिए मिले हुए का सदुपयोग, जाने हुए का प्रभाव और सुने हुए में अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अनिवार्य है।

—मूक सत्संग

18. अपने लिए कुछ करना है -यह असत् का संग है।

— मूक सत्संग

19. 'अकर्मण्य' तो वह होता है, जो दूसरे के कर्तव्य पर दृष्टि रखता है; और 'अप्रयत्न' वह होता है, जो निष्कामता को अपनाता है। अप्रयत्न बहुत बड़ा साधन है। अकर्मण्यता बहुत बड़ा असाधन है।
—संतवाणी 5

20. कुछ न करने का संकल्प भी श्रम है। —मूक सत्संग

21. जिसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है, वही विश्व-प्रेम, आत्म-रति तथा प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण होता है, जो वास्तविक जीवन है। —मूक सत्संग

22. करने की वासना का त्याग करने से साधक को वह प्राप्त होता है, जो करने से नहीं होता। —संत-सौरभ

23. 'न करने' से अविनाशी का संग स्वत: होता है। —मूक सत्संग

24. 'करने' के आधार से किसी प्रकार उनको नहीं पाया जा सकता; क्योंकि करने वाले मजदूर होते हैं। —संत पत्रावली 1

25. करने का सम्बन्ध परहित में भले ही हो, पर उससे अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। —मानव-दर्शन

26. जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे अपने लिए कुछ नहीं करना है। जिसे कुछ नहीं करना है, उसका देहादि वस्तुओं से तादात्म्य नहीं रहता।
—मूक सत्संग

27. श्रम रहित हुए बिना असंगता उदित नहीं होती और असंगता के बिना जड़ता, पराधीनता आदि विकारों का नाश नहीं होता।
—मूक सत्संग

28. किसी भी मानव को अपने लिए कुछ नहीं करना है। देहाभिमान के कारण करने की रुचि उत्पन्न होती है, जो अविवेक-सिद्ध है।
—मूक सत्संग

29. योग, बोध तथा प्रेम वर्तमान की वस्तु है। इसी कारण उसकी साधना श्रम-रहित है। श्रम का आरम्भ अहंभाव से होता है, जो कामना-पूर्ति के लिए अपेक्षित है। —पाथेय

30. जब विश्वासी आस्तिक साधक को अपने लिए कभी भी कुछ करना नहीं है, तब भला कोई भी प्रवृत्ति उसे कब छू सकती है ?
—पाथेय

31. किसी भी साधक को अपने लिए तो कुछ भी करना है नहीं, कारण कि निर्ममता, निष्कामता, असंगता विचार-सिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं; और शरणागति श्रद्धा-सिद्ध है।

—पाथेय

32. करना यही है कि करना कुछ नहीं है। केवल प्रेमास्पद के अस्तित्व और महत्त्व को अपनाना है।

—पाथेय

33. 'करने' का अन्त प्रिय है, 'करना' प्रिय नहीं है। 'करने' की आसक्ति रहते हुए साधक यह रहस्य जान नहीं पाता।

—सत्संग और साधन

34. कुछ न करने का अर्थ आलस्य तथा अकर्मण्यता नहीं है, अपितु जो 'है' उससे संग करने का उपाय 'कुछ न करना' है। जिससे विभाजन हो ही नहीं सकता, दूरी हो ही नहीं सकती, उससे अभिन्न होने में 'कुछ न करना' ही हेतु है। बस यही 'मूक सत्संग' है।

—सत्संग और साधन

35. जिसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं है, वही वास्तव में कर्तव्यनिष्ठ हो सकता है। जब तक साधक को अपने लिए कुछ करना है, तब तक सर्वांश में कर्तव्यपरायणता नहीं आती।

—सत्संग और साधन

36. 'कुछ न करने' की स्थिति, जो करना चाहिए, उसके करने पर अर्थात् प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से, अथवा निष्कामता से उदित चिर-विश्राम प्राप्त होने पर, अथवा असंगतापूर्वक स्वाधीनता से अभिन्न होने पर, अथवा अविचल आस्था, श्रद्धा एवं विश्वास-पूर्वक शरणागत होने पर ही आती है। उससे पूर्व 'न करने' के गीत गाना अकर्मण्यता, आलस्य, प्रमाद, असावधानी आदि को ही पोषित करना है, जो सर्वथा त्याज्य है।

—दुःख का प्रभाव

37. देहाभिमान से रहित होने के लिए किसी श्रम-साध्य उपाय की अपेक्षा नहीं है, अपितु इस तथ्य को अपना लेना है कि अपने लिए कुछ नहीं करना है। कुछ न करने की स्थिति से देह का तादात्म्य अपने-आप मिट जाता है।

—सफलता की कुंजी

38. अप्रयत्न होने के लिए मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग करना है; किन्तु उसके बदले में कुछ नहीं चाहिए - इस वास्तविकता में दृढ़ रहना है। —सफलता की कुंजी

39. यह मान लेना कि हम जब कुछ करेंगे, तभी कुछ मिलेगा, बिना किए कुछ नहीं मिलता है—इस धारणा में आस्था करना मानव को अविनाशी जीवन से विमुख करना है। —सफलता की कुंजी

40. जिसका कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता अर्थात् वह अप्रयत्न हो जाता है।
—सफलता की कुंजी

41. विषयी बेचारा तो विषय-प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीनता मिटाने के लिए आराम करता है। आराम क्रिया नहीं होती, यह सभी जानते हैं। अत: इस प्रकार वह 'न करने' की शरण लेता है; परन्तु उसकी रुचि में विषय-प्रवृत्ति विद्यमान रहती है; अत: आराम से शक्ति पाकर वह फिर विषय-प्रवृत्ति करता है। किन्तु भक्त अपने को समर्पण कर 'न करने' की अवस्था को प्राप्त होता है। भक्त की रुचि में प्रेम-पात्र का मिलन विद्यमान है; अत: समर्पण होने पर मिलन का अनुभव होता है। जिज्ञासु असंगता के भाव से 'न करने' का अनुभव करता है। उसकी रुचि में तत्त्व-साक्षात्कार विद्यमान है; अत: 'न करने' से वह तत्त्व ज्ञान का अनुभव करता है।
—सन्त-समागम 1

42. जिस प्रकार फाँसी का कैदी सभी सजाओं से छूट जाता है, उसी प्रकार सद्भावपूर्वक समर्पण करने वाला 'करने' से छूट जाता है। प्रेम पात्र ऐसे प्रेमी का ध्यान करते हैं, आते हैं अथवा उससे प्रेम करते हैं। 'करना' तब तक है, जब तक करने की शक्ति हो। प्रेम की पूर्णता होने पर करने की शक्ति शेष नहीं रहती अर्थात् मिट जाती है। —सन्त-समागम 1

43. प्रत्येक करना 'न करने' के लिए होता है, इसलिए करना तभी सार्थक है कि 'करना' न रहे। —सन्त-समागम 1

44. ऐसी कोई कमी नहीं है, जिसकी पूर्ति 'न करने' से न हो।
—सन्त-समागम 1

45. किसी प्रकार की कामनाओं का शेष न रहना ही अक्रियता है; क्योंकि आप्तकाम अक्रिय होता है।
—सन्त-समागम 1

46. प्यारे, करने की शक्ति का अन्त होने पर तो सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है; क्योंकि जो 'कुछ नहीं करता', वह सबसे बड़ा है, यहाँ तक कि वह ईश्वर का भी ईश्वर तथा गुरुओं का गुरु, प्रेमियों का प्रेम, ज्ञानियों का ज्ञान अर्थात् सबका सब कुछ है। कुछ न करने के लिए ही सब कुछ किया जाता है।
—सन्त-समागम 1

47. अभिलाषा होते हुए 'मैं कुछ नहीं करता' ऐसा कहना अपने-आपको धोखा देने के सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता।
—सन्त-समागम 1

48. क्रिया का अन्त करने के लिए निष्क्रियता साधन है, जीवन का लक्ष्य नहीं ।
—सन्त-समागम 1

49. करने से जो कुछ मिलता है, वह अपने काम नहीं आता।
—सन्तवाणी 8

निज-विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। उस विधान के अधीन बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि को कर्म में लगाना है, अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का उपयोग वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म में विवेक के प्रकाश में ही करता है। निज-विवेक का प्रकाश अविवेक का नाशक है। अविवेक के नष्ट होते ही अकर्त्तव्य शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर कर्त्तव्य-पालन में स्वाभाविकता आ जाती है। इस दृष्टि से विवेकयुक्त मानव ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकते हैं। अतः विवेक-विरोधी कर्म का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

असाधन

1. असाधन और कुछ नहीं, विवेक-विरोधी 'कर्म' ही असाधन है, विवेक-विरोधी 'विश्वास' ही असाधन है और विवेक-विरोधी 'सम्बन्ध' ही असाधन है। —सफलता की कुंजी
2. साधक का पुरुषार्थ असाधन के त्याग में है। विवेक-विरोधी स्वीकृति, कर्म, सम्बन्ध और चिन्तन असाधन हैं। —संत-उद्बोधन
3. असाधन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो सभी दोषों का मूल है। —संत-उद्बोधन
4. जो हो चुका है उसका चिन्तन करना और उसके अर्थ को न अपनाना असाधन ही है। —संत-उद्बोधन
5. सुख-दुःख का भोगं असाधन और सदुपयोग साधन है। —संत-उद्बोधन
6. असाधन के रहते हुए बलपूर्वक किया हुआ साधन सत् की चर्चा तथा सत् का चिन्तन है, सत्संग नहीं। —मूक सत्संग
7. साधन का अभिमान ही असाधन का मूल है और असाधन के ज्ञान में ही असाधन का नाश है। —संत पत्रावली 1
8. समस्त असाधनों की उत्पत्ति का मूल जाने हुए असत् का संग है। —संत पत्रावली 2
9. असाधन के साथ-साथ किया हुआ साधन कालान्तर में भले ही फलदायक हो, किन्तु वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है। —संत पत्रावली 2
10. बलपूर्वक किया हुआ साधन असाधन को दबा देता है, उसे मिटा नहीं पाता। इतना ही नहीं, साधक साधन करने का मिथ्या अभिमान और कर बैठता है, जो बड़ा ही भयंकर असाधन है। —सत्संग और साधन
11. समस्त असाधन अभिमान में और समस्त साधन निरभिमानता में निहित हैं। —सत्संग और साधन

12. असत् के संग से असाधन की उत्पत्ति और सत् के संग से साधन की अभिव्यक्ति स्वत: होती है।
—सत्संग और साधन
13. जो प्रवृत्ति अपने लिए प्रसन्नता देने वाली न हो और दूसरों के लिए हितकर न हो, वह असाधन है। —सफलता की कुंजी
14. असावधानी की भूमि में ही असाधन की उत्पत्ति होती है। जो जानते हैं, उसको न मानना और जो कर सकते हैं, उसको न करना ही असावधानी है।
—चित्तशुद्धि
15. असाधन का त्याग सभी मत, सम्प्रदाय, विचारधारा के साधकों के लिए समान है।
—साधन-तत्त्व
16. अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को मानना असाधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।
—साधन-तत्त्व
17. सुख के प्रलोभन का ही दूसरा नाम असाधन है।—संतवाणी 6

प्रत्येक कर्म कर्त्ता का ही चित्र है। अतः कर्त्ता की सुन्दरता तथा असुन्दरता का परिचय उसके किए हुए कर्म से ही व्यक्त होता है। सुन्दर कर्त्ता के बिना सुन्दर कार्य सम्भव नहीं हैं कर्त्ता वही सुन्दर हो सकता है जिसका कर्म 'पर' के लिए हितकर सिद्ध हो तथा किसी के लिए अहितकर न हो। अतः कार्यारम्भ से पूर्व यह विकल्प-रहित निर्णय कर लेना चाहिए कि उस कार्य का मानव-जीवन में स्थान ही नहीं है, जो किसी के लिए भी अहितकर है। अहितकर कार्य का अर्थ है कि जो किसी के विकास में बाधक हो।

अहम्

1. 'मेरा कुछ नहीं है' तो यह भी आ जाएगा कि 'मुझे कुछ नहीं चाहिए'। जब मुझे कुछ नहीं चाहिए तो 'मैं' जैसी कोई चीज नहीं रह गयी। —संतवाणी 3
2. न अहम् रहे, न दुःखी होने का भय रहे, न पराधीन होने का भय रहे। —संतवाणी 5
3. यह संसार जो है, वह 'मैं' के भीतर है और 'मैं' जो है, वह मरमात्मा के भीतर है। —संतवाणी 7
4. जो दिन-रात अपने अहम् के ही महत्त्व को बढ़ाता रहता है, दुनिया उसका मुँह देखना पसन्द नहीं करती ईमानदारी से। —संतवाणी 7
5. यह अहंरूपी अणु है, जिसका मूल है -लेने और देने का रस। — संतवाणी 7
6. समस्त जगत् का बीज अहम् में ही विद्यमान है। —मूक सत्संग
7. कामना और जिज्ञासा का पुंज रूप 'मैं' है। 'मैं' के इस पार जगत् और उस पार जो कोई हो, सो। —संतवाणी 7
8. अभेद भाव के सम्बन्ध से सीमित अहम् की और भेद-भाव के सम्बन्ध से सीमित प्यार की उत्पत्ति हो गई है। —चित्तशुद्धि
9. जितने भेद उत्पन्न होते हैं, वे सब सीमित अहंभाव से और जितने संघर्ष उत्पन्न होते हैं, वे सब सीमित प्यार से। —मानव की माँग
10. शरणागति के बिना सीमित अहंभाव का सर्वांश में नाश नहीं होता। —मानव-दर्शन

11. 'अहम्' की पुष्टि सम्बन्ध में सत्यता प्रदान करती है और 'मम' की पुष्टि सम्बन्धित वस्तुओं और व्यक्तियों में प्रियता प्रदान करती है अर्थात् जिसे हम अपने को मान लेते हैं, वह हमें 'सत्य' भासता है और जिसे हम अपना मान लेते हैं, वह 'प्रिय' मालूम होता है।

—मानव की माँग

12. अच्छाई और बुराई जब दोनों होती हैं, तब तो बनता है अहम्, बनती है परिच्छिन्नता; और जब बुराई बिल्कुल नहीं रहती, अच्छा-ही-अच्छा रह जाता है, तब अहम् का नाश हो जाता है। द्वन्द्व में अहम् बनता है, द्वन्द्वातीत में अहम् नहीं बनता।

—संत-उद्‌बोधन

13. 'यह' से विमुख होते ही 'मैं' 'वह' से, जो दृश्य से अतीत है, अभिन्न हो जाता है।

—मानव की माँग

14. 'यह' की ममता तथा कामना ने ही 'मैं' को जीवित रखा है।

—मानव-दर्शन

15. जब जड़-चेतन का मिलन ही नहीं है, तब उसके मिलने से जो उत्पन्न हुआ वह 'मैं' है, यह भी भूल ही है। —मानव-दर्शन

16. सृष्टि का मूल बीज अहम् है।

—मानव-दर्शन

17. शान्ति और स्वाधीनता के आश्रित अहम्-रूपी अणु रह सकता है, किन्तु प्रियता में तो अहम् की गन्ध भी नहीं रहती ।

—मानव-दर्शन

18. प्रियता की जागृति के बिना अहम्-भावरूपी अणु का नाश नहीं होता, और उसके हुए बिना सर्वांश में दूरी, भेद, भिन्नता का नाश नहीं होता।

—साधन-निधि

19. सभी संस्कार अहंता में अंकित रहते हैं; परन्तु अहंता परिवर्तित् होने पर पूर्व संस्कार भुने हुए बीज के समान निर्जीव हो जाते हैं अर्थात् उनमें उपजने की शक्ति नहीं रहती। पूर्व संस्कारों को निर्जीव करने के लिए अहंता-परिवर्तन परम अनिवार्य है।

—संत पत्रावली (1)

20. *'सबहिं नचावत राम गोसाईं,'*—यह उस भक्त के हृदय की पुकार है कि जिसका अहंभाव मिट गया हो। —संत पत्रावली (1)

21. अहंकृति-रहित प्रवृत्ति किसी भी निवृत्ति से कम नहीं है, और संकल्पयुक्त निवृत्ति किसी भी प्रवृत्ति से कम नहीं है।
—पाथेय

22. किसी-न-किसी प्रकार का सुख ही अहंभाव को जीवित रखता है।
—पाथेय

23. प्राकृतिक विधान के अनुसार अहम् रूपी अणु में असाधन का बीज भी है और साधन की माँग भी। 'पराधीनता में जीवन-बुद्धि'—यही असाधन का बीज है और 'स्वाधीनता में स्वाभाविक प्रियता' -यही साधन की माँग है। —सत्संग और साधन

24. 'यह' की आसक्ति और जिज्ञासा तथा प्रियता जिसमें है, वही 'मैं' है। —मानव-दर्शन

25. अनित्य और अनित्य जीवन के मध्य में अहंभाव रूपी अणु ही एक ऐसा आवरण है, जो दिव्य जीवन की दिव्यता को इस भौतिक जीवन में अवतरित नहीं होने देता। —जीवन-दर्शन

26. सुख-भोग की रुचि का सर्वांश में नाश होते ही अहंरूपी अणु नष्ट हो जाता है। —सफलता की कुंज़ी

27. अहंरूपी अणु में समस्त विश्व और अनन्त में अहम् विद्यमान है।
—सफलता की कुंजी

28. ममता का अन्त होते ही सब प्रकार की चाह का अन्त होगा और चाहरहित होते ही अहंरूपी अणु स्वतः टूट जाएगा -उसके लिए कोई अन्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। —जीवन-दर्शन

29. हमें अपने में से 'मैं सर्वहितैषी हूँ', 'मैं अचाह हूँ' अथवा —'मुझे अपने लिए संसार से कुछ नहीं चाहिए'—यह अहंभाव भी गला देना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति होने पर भी अपने में करने का अभिमान न हो और चाहरहित होने पर भी 'मैं चाहरहित हूँ' ऐसा भास न हो। कारण कि अहंभाव के रहते हुए वास्तव में कोई अचाह हो नहीं सकता; क्योंकि सेवा तथा त्याग का अभिमान भी किसी राग से कम नहीं है।
—जीवन-दर्शन

30. राग-निवृत्ति होने पर उन सभी दुःखों का अन्त हो जाता है, जो सुख की दासता से उत्पन्न हुए थे; परन्तु 'मैं वीतराग हूँ', 'मैं शान्त

हूँ', 'मुझे कुछ नहीं चाहिए'—यह जिस अहं की ध्वनि हैं, वह शेष रहता है। उसका नाश किसी की स्मृति से ही होता है।

—जीवन-दर्शन

31. दृष्टि का उद्गम अहम् है और अहम् भी दृश्य ही है; क्योंकि जिसकी प्रतीति होती है और जो भासित होता है, वह दृश्य ही है। इस दृष्टि से अपने को अहम् रूपी दृश्य से भी असंग होना है, जो एकमात्र अप्रयत्न से ही साध्य है। —सफलता की कुंजी

32. शरीर रूपी वस्तु में अहम्-बुद्धि हो जाने पर वस्तुओं की कामना स्वतः उत्पन्न होती है; क्योंकि शरीर और सृष्टि में गुणों की भिन्नता और स्वरूप की एकता है।

—चित्तशुद्धि

33. जब तक अहंभाव रूपी अणु न तोड़ दिया जाय, तब तक न तो चित्त ही शुद्ध हो सकता है और न दिव्य चिन्मय जीवन से ही अभिन्नता हो सकती है।

—चित्तशुद्धि

34. जिसे अपने में संयम, सदाचार तथा सेवा प्रतीत होती है, वह वास्तव में संयमी, सदाचारी तथा सेवक है ही नहीं। सर्वांश में असंयम का अन्त संयम के अभिमान को खा लेता है और फिर सदाचार तथा सेवा तो रहती है, पर सदाचारी तथा सेवक नहीं रहता। 'सेवक' से रहित जो सेवा और 'सदाचारी' से रहित जो सदाचार है, वही वास्तव में संयम, सदाचार तथा सेवा है।

—चित्तशुद्धि

35. सब इच्छाओं के मिटते ही अहंभाव मिट जाता है।

—सन्त-समागम I

36. जो अपने व्यक्तित्व को मिटा देता है, उसे फिर किसी भी व्यक्ति की गुलामी की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि व्यक्तित्व को ही व्यक्ति की आवश्यकता होती है।

—सन्त-समागम I

37. अस्वाभाविक अहंभाव समाधि तक जीवित रहता है।

—सन्त-समागम I

38. अहंभाव का परिवर्तन होने पर क्रिया तथा भाव का परिवर्तन स्वयं हो जाता है और अहंभाव के मिटने पर सब कुछ मिल जाता है।

—सन्त-समागम I

39. वस्तुओं के सदुपयोग से वस्तुओं का आश्रय और व्यक्तियों की सेवा से व्यक्तियों का सम्बन्ध शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर अहम् अपने-आप मिट जाता है। —साधन-तत्त्व
40. अहम् के नाश में ही स्वाधीनता, चिन्मयता एवं अमरत्व की उपलब्धि निहित है और अहम् के नाश में ही परम प्रेम की अभिव्यक्ति हो सकती है। —साधन-तत्त्व
41. बड़े-बड़े वैज्ञानिक यह तो कह सकते हैं कि शरीर की उत्पत्ति हुई, लेकिन कोई वैज्ञानिक यह नहीं कह सकता कि 'मैं' की उत्पत्ति हुई। .... 'मैं' की खोज की तो 'है' मिल गया और 'मैं' मिट गया। —संतवाणी 8
42.. यदि आप शान्ति में रमण करेंगे अथवा अपने में दिव्य गुणों का आरोप करके अपने में सन्तुष्ट होंगे, तो अहंरूपी अणु ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रहेगा। जब तक वह सुरक्षित रहेगा, तब तक किसी-न-किसी रूप में सत् से दूरी रहेगी। —संतवाणी 6
43. जब हम और आप निष्पक्ष भाव से विचार करेंगे तो भाई, उस अहम् का स्वरूप निकलेगा -पराश्रय। —संतवाणी 4
44. अहंभाव के मिटते ही निर्गुण का बोध और प्रेम का उदय स्वतःसिद्ध है। —मानव की माँग

कोई भी कर्म कर्म-विज्ञान के विरुद्ध करने से सांगोपांग सिद्ध न होगा। अतः प्रत्येक कर्म उस कर्म की विधि से ही करना चाहिए, जो विज्ञान-सिद्ध है। कर्म-विज्ञान के विरुद्ध किया हुआ कर्म फलदायक नहीं होता। कर्म के बाह्य रूप में कर्म सम्बन्धी ज्ञान की अपेक्षा है। अतः प्रत्येक कर्त्ता को कार्यारम्भ से पूर्व उस कार्य-सम्बन्धी ज्ञान का सम्पादन अनिवार्य है।

आस्था

1. सन्देह रहते हुए आस्था सजीव नहीं होती। —मानव-दर्शन
2. यह आवश्यक नहीं है कि आस्था विवेक से समर्थित हो, पर यह आवश्यक है कि आस्था में विवेक का विरोध न हो। —मानव-दर्शन
3. सन्देह देखे हुए में होता है, बोध जाने हुए का होता है और आस्था सुने हुए में होती है। —मानव-दर्शन
4. जब मिला हुआ और देखा हुआ अपने को संतुष्ट नहीं कर पाता, तब स्वभाव से ही बिना जाने हुए में आस्था होती है। —मानव-दर्शन
5. अधूरे ज्ञान से जिज्ञासा जाग्रत होती है, आस्था नहीं। आस्था एकमात्र उसी में हो सकती है, जिसे कभी भी इन्द्रिय तथा बुद्धि-दृष्टि से अनुभव नहीं किया। —मानव-दर्शन
6. 'नहीं' की निवृत्ति में विचार और 'है' की प्राप्ति में आस्था ही समर्थ है। —मानव-दर्शन
7. आस्था 'स्व' के द्वारा होती है। उसके लिए कोई कारण अपेक्षित नहीं है। —मानव-दर्शन
8. जिसने आस्था स्वीकार की है, वह कोई करण नहीं है, अपितु कर्ता है। —मानव-दर्शन
9. आस्था का उपयोग कामना की पूर्ति तथा निवृत्ति में करना आस्था का दुरुपयोग है। आस्था का सदुपयोग एकमात्र आत्मीयतापूर्वक प्रियता की जागृति में ही है। —मानव-दर्शन
10. आस्था देखे हुए तथा मिले हुए में हो ही नहीं सकती, अपितु उसी में हो सकती है, जिसे देखा नहीं है। —मानव-दर्शन

11. मिले हुए का उपयोग किया जा सकता है, उसमें आस्था नहीं की जा सकती। देखे हुए पर विचार किया जा सकता है, आस्था नहीं की जा सकती। सुने हुए में आस्था की जा सकती है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। —साधन-निधि
12. सुने हुए प्रभु की आस्था स्वीकार करने पर मिले हुए शरीर और देखे हुए जगत् की आस्था निर्जीव हो जाती है। कारण कि दो आस्थाएँ एक काल में जीवित नहीं रह सकतीं। —साधन-निधि
13. विचारशील माँग के आधार पर और विश्वासी भक्तों, सन्तों तथा ग्रन्थों के आधार पर उसमें आस्था करते हैं, जो अगोचर है। —साधन-निधि
14. विश्व के रचयिता का वर्णन उसकी रचना नहीं कर सकती; किन्तु साधक उसमें अविचल आस्था कर सकता है। —साधन-निधि
15. देखा हुआ मिला नहीं, किये हुए का परिणाम भाता नहीं, तब मानव विवश होकर सुने हुए में आस्था करता है। —मूक सत्संग
16. मिले हुए तथा देखे हुए में आस्था नहीं रह सकती। हाँ, मिले हुए का सदुपयोग और देखे हुए के प्रति जिज्ञासा हो सकती है। —मूक सत्संग
17. दार्शनिकों के दृष्टिकोण को अपनाना आस्था है, दर्शन नहीं। —मानव-दर्शन
18. जिज्ञासा की जागृति सन्देह की वेदना में निहित है। सन्देह काल में आस्था का भार जिज्ञासु पर लाद देना जिज्ञासा को निर्जीव बनाना है। —मानव-दर्शन
19. 'है' में आस्था 'है' की प्राप्ति का अचूक उपाय है। —पाथेय
20. 'यह' को जानो और 'वह' में आस्था करो। —दुःख का प्रभाव
21. आस्था उसी में की जाती है, जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से अगोचर है, जिसे भक्तों से सुना है और जिसकी माँग अपने में है। —सफलता की कुंजी
22. साधननिष्ठ होने के लिए प्रत्येक साधक की अपने साध्य में अविचल आस्था होनी अनिवार्य है। —सफलता की कुंजी
23. दृश्य की आस्था ने साध्य की आस्था को शिथिल किया है। यद्यपि साध्य की माँग साधक में विद्यमान है, परन्तु दृश्य की आस्था ने माँग को शिथिल और रुचि को बलवती कर दिया है। —सफलता की कुंजी

24. साध्य की आस्था शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सम्भव नहीं है, अपितु अपने ही द्वारा अपने साध्य में आस्था करना सम्भव है अर्थात् प्रत्येक साधक स्वयं अपने साध्य में आस्था कर सकता है।

—सफलता की कुंजी

25. आस्था तभी सजीव होती है, जब साधक साध्य के महत्त्व को अपना कर साध्य में अपनत्व स्वीकार करे।

—सफलता की कुंजी

26. विचार उस पर किया जा सकता है, जो बुद्धि की सीमा में हो, सीमित हो, परिवर्तनशील हो। पर जो सदैव है, अनन्त है और असीम है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता। वह तो आस्था का विषय है।

—सन्त-उद्बोधन

27. आस्था का अर्थ है 'प्रभु हैं'। कैसे हैं, कहाँ हैं, हम नहीं जानते। यह जानना बिलकुल जरूरी नहीं है। इतना जानना पर्याप्त है कि 'प्रभु हैं'।

—जीवन-पथ

कर्म-विज्ञान के अनुसार सम्पादित कार्य यदि पवित्र भाव से न किया गया, तो उसमें सरसता नहीं आएगी। सरसता के बिना कार्य यन्त्रवत् होगा। मानव की माँग जहाँ कर्म-विज्ञान रहित कार्य करने की है, वहीं कार्य की मधुरता भी उसे अभीष्ट है। अतः मानव को प्रत्येक कार्य पवित्र भाव से भावित होकर करना अनिवार्य है।

आस्तिकता-नास्तिकता

1. जिसकी अस्ति हर काल में है, उसकी स्वीकृति 'आस्तिकता' है। जिसकी अस्ति हर काल में नहीं है, उसकी स्वीकृति 'नास्तिकता' है। —सन्त-समागम 1
2. बहुत-से लोग हैं जो प्रभु को मानते हैं। बहुत-से लोग हैं जो संसार की वास्तविकता को जानते हैं। महत्त्व की बात यह है कि उस जाने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में; उस माने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में। —सफलता की कुंजी
3. चिन्ता नास्तिक को होती है, आस्तिक को नहीं; क्योंकि जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार एक स्थान में नहीं रह पाते, उसी प्रकार आस्तिकता और चिन्ता एक स्थान में नहीं रहने पाते। —सन्त-समागम 1
4. भगवान् का स्मरण करने से जीव का कल्याण होता है -यह बात भी हम अच्छी तरह जानते हैं, फिर भी मन भगवान् में नहीं लगता, तो इससे बढ़कर और नास्तिकता क्या होगी ? आश्चर्य इस बात का है कि हम महामूर्ख व नास्तिक होकर भी स्वयं को आस्तिक व बुद्धिमान मानते हैं। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
5. ईश्वर में विश्वास करो और उसे अपना मानो -इसका नाम ईश्वर-वाद है। —संतवाणी 8
6. 'ईश्वर है' यही समझकर सन्तोष मत करो, बल्कि उसका अनुभव करने के लिए अखण्ड प्रयत्न करो। —संत पत्रावली 1
7. सच्चा ईश्वरवादी अनीश्वरवादी में भी ईश्वर का दर्शन करता है। —संत-सौरभ
8. वस्तु विशेष में भगवद्बुद्धि होना कोई कठिन बात नहीं है। पर यह अधूरी आस्तिकता है। पूरी आस्तिकता का तो अर्थ यह है कि भगवान् से भिन्न कुछ है ही नहीं। अभी भी नहीं है, पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं होगा। —संतवाणी 7

9. जब तक कुछ भी चाहते हो, तब तक यह नहीं कह सकते कि ईश्वर कुछ नहीं; क्योंकि माँगना ही अपने से बड़ी सत्ता को स्वीकार कर लेना है। —सन्त-समागम 1
10. भगवान् अनीश्वरवादियों के भी प्रतिकूल नहीं हैं। भौतिकवादी भी यदि उन्नति करेगा तो भौतिकता के रूप में वे उसे मिलेंगे। —सन्त-समागम 2
11. किसी आवश्यकता का होना ही अनन्त की सत्ता स्वीकार करने में स्वतःसिद्ध है। —मानवता के मूल सिद्धान्त
12. परमात्मा को मानना कहलाता है कि हमें परमात्मा चाहिए, परमात्मा से हमें कुछ नहीं चाहिए। —संतवाणी 8
13. ईश्वर को मानना एक चीज है और उसके अनुसार अपना जीवन बना लेना दूसरी चीज है। केवल ईश्वर को मान लें, पर उसके साथ अपनत्व और प्रेम न हो तो जीवन नहीं बदलता। —संत सौरभ
14. पूर्ण आस्तिकता तो यह है कि जगत् और परमात्मा का विभाजन कभी हुआ ही नहीं। —संतवाणी 7
15. परमात्मा के मानने की जरूरत क्यों पड़ती है ? केवल इसलिए पड़ती है कि सदा-सदा के लिए रहने वाला कोई साथी मिलता नहीं संसार में। —संतवाणी 3
16. अगर आप भगवान् को मानते हैं, तो उस मान्यता का परिचय हमारे आपके जीवन से हो, केवल विचारों से नहीं। हमारा जीवन बता दे कि हम भगवान् को मानते हैं। —सन्त-समागम 2
17. गहराई से देखिए, किसी का होना कुछ अर्थ नहीं रखता, जब तक कि उससे अपना सम्बन्ध न हो, और किसी से भी सम्बन्ध उस समय तक नहीं होता, जब तक कि उसकी आवश्यकता न हो। —सन्त-समागम 2
18. जो व्यक्ति कुछ भी जानना चाहता है, उसने 'गुरु' मान लिया, और जो व्यक्ति कुछ भी करना चाहता है, उसने 'धर्म' मान लिया, और जिसे अपने से कोई भी बड़ा दिखता है, उसने 'ईश्वर' मान लिया। —संत-उद्बोधन 17

19. बिना देखे 'मैं' को मानते हो तो बिना देखे 'है' को क्यों नहीं मानते?
—संतवाणी 5

20. ईश्वर तो कहते ही उसको हैं कि जिसका होना आपके मानने, न मानने पर निर्भर नहीं।
—प्रेरणा पथ

21. ईश्वरवाद का असली अर्थ है कि वह उसका भी उतना ही है, जो उसे मानता है; और जो उसे नहीं मानता, उसका भी वह उतना ही है।
—प्रेरणा पथ

22. ईश्वर उनका भी है, जो उनमें विश्वास नहीं करते। ईश्वर की सूची में से तुम्हारा नाम नहीं कटेगा। तुम मानो तो और न मानो तो।
—संतवाणी 3

23. भगवान् के खिलाफ जो आवाज उठती है न, वह तर्क से नहीं उठती है। वह आवाज उठती है भगवान् को मानने वालों के दुश्चरित्र से, और कोई बात नहीं है। भगवान् को मानने वाले अगर ठीक आदमी हों तो भगवान् के खिलाफ कोई बोल ही नहीं सकता।
—संतवाणी 3

24. लोग ईश्वर को मानने चलते हैं, किसलिए ? कि हमारी जो कामनाएँ हैं, वे पूरी हो जाएँ। यह ईश्वरवाद नहीं है।
—संत-उद्बोधन

25. परमात्मा कहाँ है, कैसा है, क्या है -इसके पीछे न पड़ते हुए 'परमात्मा है' यह मान लेना चाहिए।
—संत-उद्बोधन

26. कोई भी मिल्कियत बेमालिक की और कोई भी उत्पत्ति बिना आधार के नहीं होती। तो फिर विश्व का कोई मालिक नहीं है तथा उत्पत्ति का कोई आधार नहीं है, यह कैसे हो सकता है ? हाँ, यह अवश्य है कि जो सबका मालिक तथा आधार है, वह इतना उदार है कि उसमें यदि कोई आस्था न करे अथवा उसे कोई न माने, तब भी वह सभी का अपना है।
—मानव-दर्शन

27. अगर आपको उनके बिना अनुकूलता प्रिय है, तो वह उसी प्रकार की है कि एक सुन्दर कमरा सजा है और आप दोस्त के बिना हैं; एक सुन्दर स्त्री श्रृंगार करे और पति से वंचित रहे, या शरीर आत्मा-रहित हो। आस्तिकवाद का न होना जीवन में अकेले पड़े रहने के समान है।
—सन्त-समागम 2

उन्नति

1. शारीरिक उन्नति के लिए 'सदाचार' परमावश्यक है, मानसिक उन्नति के लिए 'सेवा' परमावश्यक है, आत्मिक उन्नति के लिए 'त्याग' परमावश्यक है।
—सन्त-समागम 1

2. आत्मिक उन्नति होने पर और किसी उन्नति की आवश्यकता नहीं रहती है।
—सन्त समागम 1

3. अगर आप भौतिक उन्नति करते हैं, तो उसमें संयम, सदाचार, सेवा, त्याग और श्रम होना चाहिए। आस्तिकवाद की उन्नति दृढ़ता, सरल विश्वास और शरणागति से होती है और अध्यात्मवाद की उन्नति विचार, त्याग और निज ज्ञान के आदर से होती है।
—सन्त-समागम 2

4. प्रत्येक उलझन उन्नति का साधन है, डरो मत। उलझन-रहित जीवन बेकार है। संसार में उन्हीं प्राणियों की उन्नति हुई है, जिनके जीवन में पग-पग पर उलझन आयी है।
—सन्त-समागम 2

5. विकास के लिए जन्म, संस्कार तथा कर्म तीनों ही आवश्यक होते हैं। 'जन्म' केवल छिपी हुई शक्ति है, 'संस्कार' उस छिपी हुई शक्ति को जाग्रत करता है, 'कर्म' संस्कार के अनुरूप फल देता है। अतः जिस वर्ण में जन्म हो, उसके अनुरूप संस्कार तथा संस्कार के अनुरूप कर्म करना उन्नति के लिए परम अनिवार्य हो जाता है।
—सन्त-समागम 2

6. संसार हमारी आवश्यकता अनुभव करे -यह भौतिक उन्नति है, और हमें संसार की आवश्यकता न रहे -यह आध्यात्मिक उन्नति है।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

7. अगर तुम दूसरों के लिए बोलते हो, दूसरों के लिए सुनते हो, दूसरों के लिए सोचते हो, दूसरों के लिए काम करते हो तो तुम्हारी

भौतिक उन्नति होती चली जाएगी। कोई बाधा नहीं डाल सकता। अगर तुम केवल अपने लिए सोचते हो तो दरिद्रता कभी नहीं जाएगी। —संतवाणी 8

8. मैं तो इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि हम सबका वर्तमान हम सबके विकास में हेतु है; चाहे दुःखमय है वर्तमान, चाहे सुखमय है। —संतवाणी 4

9. मनुष्य के विकास में जो प्रेम का विकास है, वह अन्तिम विकास है। स्वाधीनता दूसरे नम्बर का विकास है और उदारता तीसरे नम्बर का विकास है। —साधन-त्रिवेणी 114

कर्म वही सार्थक सिद्ध होता है, जिससे सुन्दर समाज का निर्माण तथा करने के राग की निवृत्ति हो, अर्थात् कर्त्ता राग-रहित हो जाए और उसके द्वारा किया हुआ कर्म सुन्दर समाज के निर्माण के लिए विधान बन जाए। अतः प्रत्येक कर्म मानव को सुन्दर समाज के निर्माण तथा राग-रहित होने के उद्देश्य ही से करना अनिवार्य है।

उपदेश

1. उपदेश करने की जो सेवा है, वह सबसे नीचे दर्जे की है।

—संतवाणी 4

2. आप किसी को वह उपदेश नहीं दे सकते, जो वह नहीं जानता है। जब वह अपना ही जाना हुआ नहीं मानता है, तो आपका बताया हुआ मान लेगा?

—संतवाणी 4

3. सही बताने का फल यह नहीं था कि लोग हमारे पीछे ऐसे चिपक जाएँ कि पीछा न छोड़ें। सही बात बताने का फल यह था कि इन्हें हमारी जरूरत न रहे और जो काम हमने उनके साथ किया, वह दूसरों के साथ करने लग जाएँ। एक स्वाधीनता का साम्राज्य बन जाए।

—संतवाणी 4

4. यह जो उपदेश करने वाली सेवा है, इसको कम-से-कम किया जाए। इस सेवा से मैंने बहुत कठिनाई सही है। आज भी सहनी पड़ती है।

—संतवाणी 4

5. जरा सोचो, जिनके निर्णय में तुमको अविचल श्रद्धा नहीं है, उनके उपदेश से तुम्हारा क्या कल्याण होगा ?

—संतवाणी 4

6. सबसे बड़ा उपदेशक कौन है ? जो जीवन से उपदेश करता है। वह सबसे बड़ा वक्ता है, सबसे बड़ा पण्डित है, सबसे बड़ा सुधारवादी है। और सबसे घटिया कौन है ? जो परचर्चा करके उपदेश करता है। कभी व्यक्तियों की चर्चा, कभी परिस्थितियों की चर्चा।

—संतवाणी 3

7. कर्तव्यनिष्ठ होने से ही कर्तव्यपरायणता फैलती है, समझाने से नहीं, उपदेश करने से नहीं, शासन करने से नहीं, भय देने से नहीं, प्रलोभन देने से नहीं।

—संतवाणी 5

8. जो मनुष्य नेता या प्रचारक बन जाता है या उपदेष्टा बन जाता है, उसका चित्त शुद्ध होना कठिन है।

—संत-सौरभ

एकता

1. आज हम स्वरूप से एकता करने की जो कल्पना करते हैं, वह विवेक की दृष्टि से अपने को धोखा देना है अथवा भोली-भाली जनता को बहकाना है। —मानव की माँग
2. बाह्य भिन्नता के आधार पर कर्म में भिन्नता अनिवार्य है, पर आन्तरिक एकता होने के कारण प्रीति की एकता भी अत्यन्त आवश्यक है। .... नेत्र से जब देखते हैं, तब पैर से चलते हैं। दोनों की क्रिया में भिन्नता है, पर वह भिन्नता नेत्र और पैर की एकता में हेतु है। उसी प्रकार दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, दो देशों में एक-दूसरे की उपयोगिता के लिए ही भिन्नता है।

   —मानव-दर्शन
3. प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, देश यदि दूसरों की उपयोगिता में प्राप्त वस्तु, सामर्थ्य एवं योग्यता व्यय करें तो एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं और फिर परस्पर स्नेह की एकता बड़ी ही सुगमतापूर्वक सुरक्षित रह सकती है, जो विकास का मूल है। —मानव-दर्शन
4. आन्तरिक एकता के बिना बाह्य एकता कुछ अर्थ नहीं रखती। .... संघर्ष का मूल आन्तरिक भिन्नता है, बाह्य नहीं। अब यह विचार करना होगा कि आन्तरिक भिन्नता क्या है ? तो कहना होगा कि बाह्य भिन्नता के आधार पर प्रीति का भेद स्वीकार करना।

   —दर्शन और नीति
5. प्राकृतिक नियम के अनुसार दो व्यक्ति भी सर्वांश में समान रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के नहीं होते और न परिस्थिति ही समान होती है। देश-काल के भेद से भी रहन-सहन आदि में भेद होता है; किन्तु मानव मात्र के वास्तविक उद्देश्य में कोई भेद नहीं होता। इस उद्देश्य की एकता के आधार पर ही मानव-समाज ने मानव मात्र के साथ एकता स्वीकार की है।

   —दर्शन और नीति

6. शरीर का मिलन वास्तव में मिलन नहीं है। लक्ष्य तथा स्नेह की एकता ही सच्चा मिलन है।
—सन्त-समागम 2

7. दो व्यक्तियों की भी रुचि, सामर्थ्य तथा योग्यता एक नहीं है; किन्तु लक्ष्य सभी का एक है। यदि इस वैधानिक तथ्य का आदर किया जाये तो भोजन तथा साधन की भिन्नता रहने पर भी परस्पर एकता रह सकती है।
—मंगलमय विधान

8. अपने गुण और पराये दोष देखने से पारस्परिक एकता सुरक्षित नहीं रहती।
—दर्शन और नीति

प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन का दायित्व तब तक रहता ही है, जब तक कर्त्ता के जीवन से अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्प नष्ट न हो जाएँ, आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट न जाएँ, सहज भाव से निर्विकल्पता न आ जाए, अपने-आप आयी हुई निर्विकल्पता से असंगता न हो जाए तथा असंगतापूर्वक प्राप्त स्वाधीनता को समर्पित कर जीवन प्रेम से परिपूर्ण न हो जाए। कर्त्तव्य-पालन से अपने को बचाना भूल है। अतः प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप मानव का कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

कर्तव्य

1. जिसे लोग कर्तव्यपरायणता कहते हैं, वह 'भूमि' है। जिसे लोग योग कहते हैं, वह 'वृक्ष' है। जिसे लोग तत्त्व-ज्ञान कहते हैं, वह 'फल' है। और जिसे लोग रस कहते हैं, वह 'प्रेम' है।

—जीवन-पथ

2. अकर्तव्य के त्याग में तुम्हारा पुरुषार्थ है। कर्तव्य-पालन तो स्वत: होता है, उसका अभिमान करने से तो कर्तव्य अकर्तव्य के रूप में बदल जाता है। —जीवन-पथ

3. वैराग्य होने पर तो सब प्रकार के धर्म और कर्तव्य की समाप्ति हो जाती है। ऐसे ही आत्म-रति और प्रेम की प्राप्ति होने पर भी कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। —संत-उद्‌बोधन

4. दु:खी का कर्तव्य है त्याग और सुखी का कर्तव्य है सेवा।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

5. कर्तव्यपरायणता आ जाने पर अधिकार बिना माँगे ही आ जाएगा।

—मानव की माँग

6. चाह-रहित होने से कर्तव्यपरायणता की शक्ति स्वत: आ जाती है।

—मानव की माँग

7. प्रत्येक मानव बल, योग्यता और परिस्थिति में समान नहीं है। यह असमानता ही कर्तव्य की जननी है। समानता में प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। एक सबल दूसरे सबल के क्या काम आ सकता है ? सबल ही किसी निर्बल के ही काम आ सकता है। —संत-उद्‌बोधन

8. कर्तव्य पूरा करने पर कर्ता का कोई अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। .... कर्तव्य पूरा होने पर कर्ता की जो आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति हो जाती है और उसकी पूर्ति हो जाने पर कर्ता का अस्तित्व अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। —मानव की माँग

9. दूसरे के अधिकार की रक्षा से कर्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, और अपने अधिकार के त्याग से माने हुए सभी सम्बन्ध टूट जाते हैं।

—मानव की माँग

10. दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग ही वास्तव में कर्तव्य है।

—मानव-दर्शन

11. वास्तविक कर्तव्य वही है, जिससे किसी का अहित न हो और कर्तव्यपालन करने पर कर्ता अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाए।

—मानव की माँग

12. कर्तव्यनिष्ठ होने पर जीवन तथा मृत्यु दोनों ही सरस हो जाते हैं और कर्तव्यच्युत होने पर जीवन नीरस तथा मृत्यु दुःखद एवं भयंकर होती है।

—मानव की माँग

13. जो नहीं कर सकते उसके, और जो नहीं करना चाहिए उसके न करने से जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-परायणता सहज तथा स्वाभाविक है।

—मानव-दर्शन

14. कर्तव्य का प्रश्न 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं। कर्तव्य का सम्पादन जो 'पर' से प्राप्त है, उसके द्वारा होता है, 'स्व' के द्वारा नहीं। इस दृष्टि से कर्तव्य परधर्म है।

—मानव-दर्शन

15. जो प्रवृत्ति परहित में हेतु नहीं है, वह कर्तव्य नहीं है।

—मानव-दर्शन

16. कर्तव्य-पालन उतना आवश्यक नहीं है, जितना अकर्तव्य का त्याग। कारण कि अकर्तव्य का त्याग बिना किए कर्तव्य की अभिव्यक्ति ही नहीं होती।

—मानव-दर्शन

17. किये हुए की फलासक्ति अपने लिए अभीष्ट नहीं है, इसका कर्तव्य-पालन में कोई स्थान नहीं है।

—मानव-दर्शन

18. कर्तव्यपरायणता वह विज्ञान है, जिससे मानव जगत् के लिए उपयोगी होता है और स्वयं योग-विज्ञान का अधिकारी हो जाता है।

—मानव-दर्शन

19. सृष्टि की वस्तु को सृष्टि के हित में व्यय करना अनिवार्य है, जो वास्तव में कर्तव्य का स्वरूप है।

—मानव-दर्शन

20. दूसरों के कर्तव्य की स्मृति अपने कर्तव्य की विस्मृति में हेतु है और कर्तव्य की विस्मृति ही अकर्तव्य की जननी है। इस दृष्टि से दूसरों के कर्तव्य पर दृष्टि रखना ही अपने कर्तव्य से च्युत होना है, जो विनाश का मूल है। —मानव-दर्शन
21. राग तथा क्रोध के रहते हुए न तो कर्तव्य-पालन की सामर्थ्य ही प्राप्त होती है और न कर्तव्य की स्मृति ही जाग्रत होती है, तो फिर कर्तव्य-पालन कैसे सम्भव हो सकता है ? —मानव-दर्शन
22. कर्तव्य का अभिमान अकर्तव्य से भी अधिक निन्दनीय है। कारण कि अकर्तव्य से पीड़ित प्राणी कभी-न-कभी कर्तव्य की राह चल सकता है, किन्तु कर्तव्य का अभिमानी तो अकर्तव्य को ही जन्म देता है। —मानव-दर्शन
23. कर्तव्यनिष्ठ मानव की माँग जगत् को रहती है।........ जो कर्तव्यनिष्ठ नहीं है, उसकी जगत् को कभी आवश्यकता नहीं होती। —मानव-दर्शन
24. किसी प्रलोभन से प्रेरित होकर बलपूर्वक कर्तव्य-पालन करना वास्तविक कर्तव्यपरायणता नहीं है। —मानव-दर्शन
25. कर्तव्य-पालन में असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है, यह निर्विवाद सिद्ध है। —मानव-दर्शन
26. जो किसी को भी बुरा समझता है तथा किसी का भी बुरा चाहता है एवं जानी हुई बुराई कर सकता है, वह कभी भी कर्तव्य की वास्तविकता से परिचित नहीं हो सकता। कर्तव्य-पालन से पूर्व कर्तव्य का ज्ञान अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब मानव यह स्वीकार करे कि मैं किसी को बुरा नहीं समझूँगा। —मानव-दर्शन
27. निष्काम कर्त्ता से ही कर्तव्य-पालन होता है। —साधन-निधि
28. प्राणों का मूल्य कर्तव्य से कम है। कर्तव्य पालन के लिए प्रसन्नतापूर्वक प्राणों का त्याग कर देना साधन-निधि-सम्पन्न साधक का सहज स्वभाव है। —साधन-निधि
29. कर्तव्य का सम्बन्ध प्राप्त परिस्थिति से है। अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान वे ही लोग करते रहते हैं, जो कर्तव्य के नाम पर व्यक्तिगत सुखभोग की रुचि में आबद्ध हैं। —मूक सत्संग

30. भौतिक विकास कर्तव्य-परायणता का बाह्य रूप है और नित्य योग कर्तव्य-परायणता का आन्तरिक फल है। —मूक सत्संग
31. कर्तव्य-परायणता स्वभावसिद्ध है, श्रम-साध्य नहीं है। कारण कि अपने लिए कुछ भी नहीं करना है और वही करना है, जो कर सकते हैं, जिससे किसी का अहित नहीं है। —मूक सत्संग
32. दूसरों के कर्तव्य को वही देखता है, जो अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता। उन्होंने कृपा नहीं की, यह कैसे जाना ? आपको जो करना है, वह कर डालो। उनको जो करना है, वह स्वयं करेंगे। —संत पत्रावली 1
33. अधिकार तो कर्तव्य का दास है। जो अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसको बिना अभिलाषा के भी अधिकार स्वयं प्राप्त हो जाता है। —संत पत्रावली 1
34. कर्तव्य का अन्त योग में, योग का अन्त बोध में तथा बोध का अन्त प्रेम में परिणित हो जाता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-परायणता योग की भूमि है, जो एकमात्र, जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से ही साध्य है। —संत पत्रावली 2
35. मानव कर्तव्य-पालन में स्वाधीन है; परन्तु लोभ, मोह आदि विकारों के कारण कर्तव्य-परायणता में अनेक बाधाएँ प्रतीत होती हैं। ऐसा मेरा अनुभव है। —संत पत्रावली 2
36. जब तक हम केवल अपने ही मन की बात पूरी करते रहेंगे, तब तक कर्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकेंगे। कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए हमें दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग करना होगा। —जीवन-दर्शन
37. अधिकार की स्मृति कर्तव्य की विस्मृति में हेतु है। कर्तव्य की विस्मृति ही अकर्तव्य को जन्म देती है। —दर्शन और नीति
38. ऐसा कोई कर्तव्य हो ही नहीं सकता, जिसका सम्बन्ध अप्राप्त परिस्थिति से हो। जिस किसी को जो कुछ करना है, वह प्राप्त परिस्थिति में ही हो सकता है। —दर्शन और नीति

39. मानव अपने प्रति दूसरों से जिस भलाई की आशा करता है, वह भलाई उसे बिना किसी प्रलोभन तथा भय के दूसरों के प्रति करनी है। इससे सुन्दर कोई भी कर्तव्य-विज्ञान नहीं हो सकता।
—दर्शन और नीति

40. जितनी मान्यताएँ हैं, वे कर्तव्य और अकर्तव्य की प्रतीक मात्र हैं। जिन मान्यताओं से अकर्तव्य की उत्पत्ति होती है, वे सभी के लिए त्याज्य हैं और जो मान्यताएँ कर्तव्य को जन्म देती हैं, वे सभी के लिए मान्य हैं। —दर्शन और नीति

41. किसी के विकास के लिए किसी का ह्रास करना विवेक-विरोधी कार्य है। कर्तव्य-विज्ञान की दृष्टि से जिस विकास के मूल में किसी का विनाश है, उसका परिणाम विनाश है, विकास नहीं।
—दर्शन और नीति

42. कर्तव्य-पालन में असमर्थता की बात मन में तभी आती है, जब हम प्राप्त सामर्थ्य का व्यय सुख-भोग में करने लगते हैं।
—चित्तशुद्धि

43. जो कर्ता के अधीन नहीं है, उस पर दृष्टि रखना कर्ता का दोष है। जैसे खेत में दाना बोने का कृषक का अधिकार है, पर वह दाना प्राकृतिक नियमों के अनुरूप ही उगेगा और फल देगा।
—चित्तशुद्धि

44. कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान तथा सामर्थ्य उसे ही प्राप्त होता है, जो राग-द्वेष-रहित हो। —चित्तशुद्धि

45. अपने प्रति वैरभाव, अपना अनादर, अपनी हानि और अपने प्रति स्नेह का अभाव किसी प्राणी को अभीष्ट नहीं है। जो अपने को अभीष्ट नहीं है, वही दूसरों के प्रति कर डालना क्या अकर्तव्य नहीं है ? अर्थात् अकर्तव्य है। —चित्तशुद्धि

46. प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और वस्तु के अनुरूप ही कर्तव्यपालन हो सकता है। इस दृष्टि से कर्तव्यपालन में प्राणी सर्वदा स्वाधीन है।
—चित्तशुद्धि

47. कर्तव्यपरायणता समस्त साधनों की भूमि है। —चित्तशुद्धि

48. अपना अधिकार दूसरे का कर्तव्य है और दूसरे का अधिकार अपना कर्तव्य है।
—चित्तशुद्धि

49. जिस प्रवृत्ति के मूल में वास्तविक उद्देश्य नहीं है, केवल प्रवृत्ति-जनित सुख ही जिसका उद्देश्य है, वह प्रवृत्ति कभी भी कर्तव्य रूप नहीं हो सकती।
—चित्तशुद्धि

50. कर्तव्यनिष्ठ प्राणी से जन-समाज में बिना प्रयत्न स्वाभाविक ही कर्तव्यपरायणता फैलती है।
—सन्त-समागम 2

51. कर्तव्य का वास्तविक ज्ञान राग-द्वेष-रहित होने पर ही हो सकता है।
—सन्त-समागम 2

52. ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जो अपने प्रति दूसरों से कर्तव्य की आशा न रखता हो। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्य की माँग कर्तव्य-पालन का आदेश देती है।
—साधन-तत्त्व

53. जगत् की सत्ता स्वीकार करने पर कर्तव्य-परायणता को अपना लेना अनिवार्य है।
—साधन-तत्त्व

54. वर्तमान कर्तव्य-कर्म आस्तिक की पूजा, अध्यात्मवादी का साधन और भौतिकवादी का स्वधर्म है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

55. प्रत्येक कार्य के पीछे कर्ता का 'भाव' और भाव के पीछे 'ज्ञान' और ज्ञान के पीछे 'लक्ष्य' होता है। जब कर्ता यह मान लेता है कि मुझे जो कुछ मिला है, वह मेरा है और मेरे लिए है, तब उसकी भावनाओं में अशुद्धि आ जाती है, जो अकर्तव्य, असाधन और आसक्ति की जननी है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान नहीं है।
—पाथेय

आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख की दासता से तथा संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण से एवं असंगता द्वारा सम्पादित स्वाधीनता से सन्तुष्ट न रहने पर, जब तक प्रेम से परिपूर्ण न हो जाएँ, तब तक सावधानीपूर्वक उपर्युक्त क्रमानुसार दायित्व पूरा करना अनिवार्य है।

काम

1. काम माने उसका आकर्षण जिसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है।
—संतवाणी 3

2. जहाँ तक संसार की सत्यता और सुन्दरता का भास है, वहाँ तक काम-ही-काम है। —संतवाणी 3

3. जिसको अपने शरीर में सत्यता और सुन्दरता दिखाई देती है, उसी में काम पैदा होता है। —संतवाणी 3

4. प्यार से भी काम-नाश होता है और विचार से भी काम-नाश होता है। —संतवाणी 3

5. जिसका कोई प्रिय होता है, उसके मन में कभी नीरसता नहीं आती। नीरसता नहीं आती तो काम की उत्पत्ति नहीं होती। काम की उत्पत्ति नहीं होती तो विकारों का जन्म ही नहीं होता।
—संतवाणी 3

6. देह की तद्रूपता ही काम की जननी है और तत्त्व-जिज्ञासा ही काम की मृत्यु है। —मानव की माँग

7. देह की मलिनता का ज्ञान काम को खा लेता है।
—मानव की माँग

8. काम का जन्म अपने को देह मानने से होता है, जो वास्तव में अविवेक है। —मानव की माँग

9. शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता मिट जाने पर काम का अन्त हो जाता है। काम का अन्त होते ही राम अपने-आप आ जाते हैं।
—सन्त पत्रावली 1

10. जो सभी का है, वही अपना है। अपना अपने को स्वभाव से प्रिय होता है। जिसका कोई प्रिय है, उसके जीवन में नीरसता नहीं रहती। नीरसता का नाश होते ही काम स्वत: नष्ट हो जाता है।
—सफलता की कुंजी

11. खिन्नता की भूमि में ही काम की उत्पत्ति होती है और काम की उत्पत्ति ही अस्वाभाविक इच्छाओं को जन्म देती है।

—चित्तशुद्धि

12. समस्त आसक्तियों का अन्त होने पर भी प्राणी काम-रहित हो जाता है और प्रेम की प्राप्ति से भी काम-रहित हो जाता है।

—चित्तशुद्धि

13. बुद्धि और विवेक के मध्य में जो अहंभाव है, उसी में काम का निवास है। इसी कारण कामना और जिज्ञासा दोनों ही अहंभाव में निवास करती हैं।

—चित्तशुद्धि

14. परिवर्तनशील, सीमित सौन्दर्य ही काम का स्वरूप है अथवा यों कहो कि उत्पत्ति-विनाशयुक्त वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं प्रियता का भास ही 'काम' है।

—चित्तशुद्धि

15. देहाभिमान से काम की उत्पत्ति होती है और देहाभिमान गल जाने पर काम का अन्त होता है।

—सन्त-समागम 2

16. इस वैरी काम पर विजय पाने के लिए साधक को बड़ी ही सावधानी तथा विवेकपूर्वक कड़ी साधना करनी होगी, जिसका प्रथम पाठ अकेले रहना, अपने निकट अर्थ न रखना और सेवा के अतिरिक्त सारा समय सार्थक चिन्तन में व्यतीत करना है।

—सन्त-समागम 2

17. वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति एवं अवस्था के प्रति आकर्षण को 'काम' कहते हैं अर्थात् 'नहीं' के आकर्षण का नाम ही 'काम' है। 'नहीं' के आकर्षण को अस्वीकार करने से और 'है' (प्रभु) के अस्तित्व को स्वीकार करने से 'काम' का नाश हो जाता है और राम मिल जाते हैं।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

18. शरीर की सत्यता तथा सुन्दरता एवं इन्द्रियजन्य ज्ञान का सद्भाव जब तक है, तब तक काम का अन्त नहीं हो पाता।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

19. जब साधक प्राप्त विवेक के द्वारा शरीर के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कर लेता है, तब शरीर की सत्यता और सुन्दरता मिट जाती है। उसके मिटते ही काम का अन्त हो जाता है। —संत-सौरभ

कामना

1. जो कुछ नहीं चाहता, वही प्रेम कर सकता है और जो कुछ नहीं चाहता, वही मुक्त हो सकता है। —मानव की माँग 34
2. कामना के रहते हुए जिज्ञासा पूरी नहीं होती । —संतवाणी 4
3. जिस काल में समस्त कामनाएँ नाश होती हैं, उसी काल में जिज्ञासा की पूर्ति होती है। —संतवाणी 4
4. क्या आपने कभी यह भी सोचा कि आपका आपके मन पर इतना अधिकार है कि आपके मन में गलत बात नहीं आए ? हमारे में तो है नहीं, इसलिए हम हमेशा कहते हैं कि हे प्रभो ! तुम्हारे मन की बात पूरी हो। क्यों कहते हैं ? यह इसलिए कहते हैं कि हमें नहीं भरोसा है कि कब मन में बुरी बात आ जाए।

   —संतवाणी 4
5. मेरा अपना अब तक का अनुभव है कि जो हम चाहते हैं, वह न हो, इसी में हमारा हित है। हमने तो जब तक अपने मन की मानी है, अपने मन की बात की है, तो सिवाय पतन के, सिवाय अवनति के हमें तो कुछ परिणाम में मिला नहीं। ....मैं आपके सामने अपनी अनुभूति निवेदन कर रहा हूँ, और इससे लाभ उठाना चाहते हैं तो अपनी चाही मत करो। प्रभु की चाही होने दो। प्रभु वही चाहते हैं, जो अपने-आप हो रहा है। —संतवाणी 4
6. अचाह होना जीते-जी मरना है। —संतवाणी 3
7. निर्मम हुए बिना कोई निष्काम नहीं हो सकता। —संतवाणी 5
8. जो तुम चाहते हो, वह नहीं होता, इसलिए आप अभागे नहीं हैं। आप चाहते हैं, इसलिए अभागे हैं और यह जानते हुए कि जो चाहते हैं सो नहीं होता, फिर भी चाहते हैं। —संतवाणी 5

9. जब हम कुछ नहीं लेना चाहते हैं, तब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता। और जब शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता, तब योग हो जाता है।
—संतवाणी 5
10. अगर हम अचाह हो जाएँ और मरने से न डरें तो अमर जीवन मिलता है।
—संतवाणी 3
11. कामना यदि पूरी होती है तो विधान से, कामना से नहीं। वस्तु यदि रहती है तो विधान से, ममता से नहीं। —संतवाणी 6
12. जो परमात्मा से कुछ भी चाहता है, वह परमात्मा को कभी पसन्द नहीं करता। परमात्मा को वही पसन्द करता है, जो परमात्मा से कुछ नहीं चाहता।
—संतवाणी 7
13. जो कुछ नहीं चाहता, वही अभय होता है और दूसरों को अभय बनाता है।
—संतवाणी 7
14. हे प्यारे, तुम अपने हो। तुम से और कुछ नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए ? क्योंकि अपनेपन से बढ़कर भी कोई और चीज होती तो हम जरूर माँगते।
—जीवन-पथ
15. यदि सभी के मन की बात पूरी नहीं हुई और हमारे भी मन की बात पूरी नहीं हुई, तो हम अपने लिए एक नया विधान क्यों चाहते हैं ?
—प्रेरणा पथ
16. अपना मूल्य संसार से अधिक बढ़ाओ, आप अचाह हो जाएँगे।
—संत-उद्‌बोधन
17. संसार से सम्बन्ध है सेवा करने के लिए और परमत्मा से सम्बन्ध है प्रेम करने के लिए। न संसार से कुछ चाहिए, न परमात्मा से कुछ चाहिए।
—संत-उद्‌बोधन
18. अपने को देह से अतीत अनुभव करने पर किसी को भी संसार की चाह नहीं रहती।
—मानव की माँग
19. अचाह होने से कोई क्षति नहीं होती; क्योंकि चाह-पूर्ति के पश्चात् भी प्राणी उसी दशा में आ जाता है, जो चाह की उत्पत्ति से पूर्व थी। तो फिर चाह-पूर्ति करने का प्रयत्न भी निरर्थक सिद्ध हुआ।
—मानव की माँग
20. यदि हम इच्छा-पूर्ति का सुख लेते रहेंगे तो पुनः इच्छाएँ उत्पन्न होती रहेंगी और यह चक्र चलता ही रहेगा। —मानव की माँग

21. अचाह होते ही 'करना' 'होने' में विलीन हो जाता है और फिर किसी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता। —मानव की माँग
22. आस्तिक यह भली-भाँति जानता है कि जो बात मेरे मन की नहीं है, वह मेरे प्यारे के मन की है। —मानव की माँग
23. चाह से रहित वे ही हो सकते हैं, जिन्होंने अपने को सब प्रकार से उस अनन्त के समर्पण कर दिया है। —मानव की माँग
24. कामनाओं का अन्त होते ही असत् से असंगता प्राप्त होती है, जो असत् के ज्ञान में हेतु है। —मानव-दर्शन
25. सतत परिवर्तन में स्थिति स्वीकार करना भूल है। इस भूल से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। —साधन-निधि
26. माँग उसी की होती है, जिसे देखा नहीं है और कामना उसी की होती है, जिसे देखा है। —मानव-दर्शन
27. मिले हुए में अहम्-बुद्धि और मम-बुद्धि स्वीकार करने से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। —साधन-निधि
28. किसी अभ्यास से कामनाओं का नाश नहीं होता। —साधन-निधि
29. कामना पूर्ति में पराधीनता है, त्याग में नहीं। —साधन-निधि
30. निष्कामता एक वास्तविकता है। इस दृष्टि से सत्संग से निष्कामता और निष्कामता से सत्संग स्वत:सिद्ध होता है। कामना असत् का संग उत्पन्न करती है। असत् के संग से ही समस्त विकारों तथा अभावों का जन्म होता है। —साधन-निधि
31. पराधीन प्राणी के जीवन में न तो उदारता ही आती है और न प्रेम ही की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण पराधीनता का नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निष्कामता से ही साध्य है। —साधन-निधि
32. कामना-रहित होते ही मानव का मूल्य समस्त विश्व से अधिक हो जाता है और वह विश्व के आश्रय तथा प्रकाशक के प्रेम का अधिकारी बन जाता है। —साधन-निधि
33. कामना मानव को सभी के लिए अनुपयोगी कर देती है। —साधन-निधि
34. योग, बोध और प्रेम से विमुख करने में कामना ही हेतु है। —साधन-निधि

35. अचाह होते ही सेवा और प्रेम सहज हो जाते हैं।

—साधन-निधि

36. प्रियता और उदारता तभी सुरक्षित रहती है, जब साधक को किसी से कुछ नहीं चाहिए।

—साधन-निधि

37. कामना-पूर्ति की आशा में जो सुखद कल्पना है, वह कामना पूर्ति-काल में नहीं है।

—मूक सत्संग

38. शान्ति किसी के आश्रय से अभिव्यक्त नहीं होती, अपितु निर्ममता से साध्य निष्कामता ही शान्ति में हेतु है।

—मूक सत्संग

39. निष्काम साधक के लिए आवश्यक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य प्रदान करने को प्रकृति लालायित रहती है।

—मूक सत्संग

40. योगियों का योग, विचारशीलों का बोध एवं प्रेमियों का प्रेम निष्कामता की भूमि में ही पोषित होता है।

—मूक सत्संग

41. जिसे कुछ भी चाहिए, वह किसी को अपना नहीं कह सकता और न सुने हुए प्रभु में अविचल आस्था ही सुरक्षित रख पाता है और न दूसरों से सुख की आशा का ही त्याग कर पाता है।

—मूक सत्संग

42. यदि कोई यह कहे कि निष्काम होने से तो भौतिक विकास ही न होगा; कारण कि कामना से प्रेरित होकर ही मानव भौतिक उन्नति में प्रवृत्त होता है, पर वास्तविकता यह नहीं है। भौतिक विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग अर्थात् वर्तमान कर्तव्य-कर्म से होता है। .... भौतिक उन्नति कामनायुक्त प्राणियों की होती है, इसमें लेशमात्र भी वास्तविकता नहीं है।

—मूक सत्संग

43. अप्राप्त की कामना सिद्ध करती है कि हमारे जीवन में दरिद्रता है।

—संतवाणी 5

44. कामना कर्तव्य-परायणता में बाधक है, सहायक नहीं। कामनायुक्त प्राणी सदैव अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य पर ही दृष्टि रखता है।

—मूक सत्संग

45. किसी भी प्रकार की कामना न रखने वाला 'राजाओं का राजा'; जो शक्ति प्राप्त है उससे कुछ कम कामना रखने वाला 'धनी'; शक्ति के समान कामना रखने वाला 'मजदूर'; शक्ति से अधिक कामना रखने वाला 'कंगाल' है।

—संतपत्रावली 1

46. कामना ही क्रोध में हेतु है, चाहे वह शुभ कामना हो अथवा अशुभ यद्यपि अशुभ से शुभ श्रेष्ठ है, परन्तु शुभ कामना भी दु:ख का कारण है। —संतपत्रावली 1
47. इच्छाओं की उत्पत्ति दु:ख का मूल है। इच्छाओं की पूर्ति सुख का मूल है। इच्छाओं का मिट जाना आनन्द का मूल है। —संतपत्रावली 1
48. यदि जीवन और मृत्यु के झंझटों से बचना चाहते हो तो सब प्रकार की इच्छाओं का अन्त कर डालो; क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीवन मिलता है और जीवन की उत्पत्ति के लिए मृत्यु होती है। —संतपत्रावली 1
49. सर्व कामनाओं का अन्त होने पर दैव के आश्रय शरीर छोड़ देना संन्यासी का धर्म है, क्षत्रिय का नहीं। —संतपत्रावली 2
50. आवश्यकतानुसार सभी बातें अपने-आप होती रहती हैं; किन्तु कामनापूर्ति का प्रलोभन प्राणी को शान्त नहीं रहने देता। —पाथेय
51. चाह-रहित होने में ही समस्त विकास निहित है—यह महामन्त्र अपना लेने पर जो करना चाहिए, वह स्वत: होने लगता है। —पाथेय
52. निष्कामता आ जाने पर सभी प्रकार की अनुकूलताएँ आशा से अधिक आ जाती हैं और प्रतिकूलताएँ भयभीत नहीं कर पातीं। परन्तु अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लिए बिना निष्कामता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। —पाथेय
53. प्रमादवश मानव अभावजनित वेदना को कामनापूर्ति के सुख से मिटाने का मिथ्या प्रयास करने लगता है; जबकि प्रत्येक कामना-पूर्ति का सुख नवीन कामना को जन्म देता है। —पाथेय
54. जिसे कभी भी कुछ नहीं चाहिए, वही आप्तकाम है। आप्तकाम होते ही भोग, मोह और आसक्ति का नाश और योग, बोध तथा प्रेम की प्राप्ति स्वत: होती है। —पाथेय
55. निष्कामता मानव-जीवन का ऐश्वर्य है। निष्काम होने पर मानव विश्वविजयी स्वत: हो जाता है। —पाथेय
56. अचाह होते ही न तो पराधीनता रहती है और न अशान्ति रहती है। —संतवाणी 3

57. कामनाओं की निवृत्ति में जिज्ञासा की पूर्ति और जिज्ञासा की पूर्ति में प्रेम की प्राप्ति निहित है। —जीवन-दर्शन
58. आदर की कामना प्राणी में तभी तक रहती है, जब तक वह आदर के योग्य नहीं है। —चित्तशुद्धि
59. हमने अपने में जो चाह पैदा कर ली है, यही हमारे और प्रभु के बीच में मोटा परदा कहो, चाहे गहरी खाई कहो, बन गयी है। —संत-उद्‌बोधन
60. निष्कामतारूपी सूर्य के सम्मुख होते ही छायारूपी वस्तुएँ हमारे पीछे दौड़ती हैं और विमुख होते ही हम छायारूपी वस्तुओं के पीछे दौड़ते हैं, पर उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते। —जीवन-दर्शन
61. अपने को देह मान लेने पर कामनाओं का उदय होता है; क्योंकि ऐसी कोई कामना नहीं है, जिसका सम्बन्ध देह से न हो। —जीवन-दर्शन
62. जिसे कुछ भी चाहिए, वह उदार तथा प्रेमी नहीं हो सकता। —सफलता की कुंजी
63. चाह-रहित होने पर साधक के जीवन में आलस्य तथा अकर्मण्यता की गन्ध भी नहीं रहती; क्योंकि अचाह होते ही प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग भी होने लगता है और आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति भी स्वतः होती है। —सफलता की कुंजी
64. चाह-रहित होने पर साधक में कर्तव्यपरायणता, असंगता एवं अभिन्नता की अभिव्यक्ति होती है। —सफलता की कुंजी
65. निष्कामता आ जाने पर साधक समता के साम्राज्य में प्रवेश पाता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इस दृष्टि से निष्कामता अनिवार्य है। —सफलता की कुंजी
66. प्रत्येक प्राणी कामना-पूर्ति के पश्चात् उसी स्थिति में आता है, जिस स्थिति में वह कामना-पूर्ति से पूर्व था। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। —चित्तशुद्धि
67. कामना-पूर्ति में जितना सुख भासता है, उससे कहीं अधिक उसके परिणाम में दु:ख अपने-आप आता है। —चित्तशुद्धि

68. यद्यपि इच्छाओं की उत्पत्ति से पूर्व भी जीवन है और उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है; परन्तु उस जीवन की ओर प्राणी ध्यान नहीं देता। —चित्तशुद्धि

69. ऐसा कोई दोष है ही नहीं, जिसके मूल में कोई कामना-उत्पत्ति न हो, और ऐसा कोई दुःख है ही नहीं, जिसके मूल में कामना-अपूर्ति न हो। —चित्तशुद्धि

70. प्रत्येक श्रम के मूल में कोई-न-कोई कामना रहती है। उसकी पूर्ति के लिए ही श्रम की अपेक्षा है। कामनाएँ जिस भूमि से उपजती हैं, वह भूमि अविवेकसिद्ध है अर्थात् निज विवेक के अनादर में ही काम की उत्पत्ति होती है, और काम से ही कामनाएँ जन्म पाती हैं। —चित्तशुद्धि

71. भगवान् इच्छा पूरी नहीं करते, वे तो भक्त को इच्छा-रहित करते हैं। —सन्त-जीवन-दर्पण

72. इच्छाओं के रहते हुए प्राण चले जायँ तो 'मृत्यु' हो गयी और प्राण रहते हुए इच्छाएँ चली जायँ तो 'मुक्ति' हो गयी। —सन्त-जीवन-दर्पण

73. यदि किसी प्रकार की अभिलाषा बाकी है तो समझना चाहिय कि अभी अनन्त अभिलाषाएँ बाकी हैं; क्योंकि त्याग कुल का होता है, जुज़ (अंश) का नहीं। —सन्त-समागम 1

74. इच्छाओं का कम हो जाना कुछ भी अर्थ नहीं रखता; क्योंकि जिस प्रकार एक बीज में अनन्त वृक्ष छिपे रहते हैं, उसी प्रकार एक इच्छा में अनन्त इच्छाएँ छिपी रहती हैं। —सन्त-समागम 1

75. सच्ची चाह अधिक काल तक ठहर नहीं पाती, पूर्ण हो जाती है और बनावटी चाह अधिक काल तक ठहरती है। —सन्त-समागम 1

76. यदि हमारे मन की बात होती है तो समझना चाहिए कि भगवान् हमें दूर रखना चाहते हैं, और हमारे मन की बात नहीं हुई तो भगवान् हमें अपनाना चाहते हैं । —सन्त-समागम 2

77. सब प्रकार की चाह का अन्त होते ही निर्विकल्प स्थिति स्वतः हो जाती है; क्योंकि किसी-न-किसी प्रकार की चाह होने पर ही संकल्पों की उत्पत्ति होती है अर्थात् निर्विकल्पता भंग हो जाती है, जो वास्तव में प्रमाद है। —सन्त-समागम 2

78. जो कुछ भी चाहता है, वह होने में प्रसन्न और करने में सावधान नहीं रह सकता।
—सन्त-समागम 2

79. असत् की कामना ही असत् को जीवित रखती है।
—साधन-तत्त्व

80. यदि भगवान् के पास कामना लेकर जाएँगे तो भगवान् संसार बन जाएँगे और यदि संसार के पास निष्काम होकर जाएँगे तो संसार भी भगवान् बन जाएगा। अतः भगवान् के पास उनसे प्रेम करने के लिए जाएँ और संसार के पास सेवा करने के लिए, और बदले में भगवान् और संसार दोनों से कुछ न चाहें तो दोनों से ही प्रेम मिलेगा।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

81. कामनाओं की उत्पत्ति का मूल कारण शरीर से एकता स्वीकार करना है, जो वास्तव में भूल है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

82. जिसका कुछ नहीं है, सचमुच उसको कुछ नहीं चाहिए। ममता से ही कामना का जन्म होता है।
—संतवाणी 8

83. जब अपने मन की इच्छा के विपरीत हो, तब साधक को समझना चाहिए कि अब प्रभु अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं।
—संत-सौरभ

84. जो हमें चाहिए, वह बिना माँगे ही हमें मिलता है और जो बिना माँगे नहीं मिलता है, वह माँगने से भी नहीं मिलता। तो फिर माँगने का अर्थ क्या हुआ ?
—संतवाणी 8

85. जब तक हमें वह चाहिए , जो अपने में नहीं है, जो अभी नहीं है, उससे भिन्न यदि चाहिए तो गरीबी मिट सकती है क्या ? हाँ, गरीबी का रूप बदल जाएगा। रूप क्या बदल जाएगा? जैसे 3/4 लिखते हैं, उसे कोई 75/100 लिख दे।
—संतवाणी 8

86. अपने को जो चाहिए, वह अपने में है।
—संतवाणी 8

87. परमात्मा से यदि कुछ भी माँगेंगे तो आपका सम्बन्ध परमात्मा से तो रहेगा नहीं, जो हम माँगेंगे, उससे हो जाएगा। —संतवाणी 8

88. सही काम करने से सारा संसार आपसे प्रसन्न हो जाएगा, और कुछ न चाहने से आपकी कीमत संसार से अधिक हो जाएगी।
—संतवाणी 8

89. जब तक मनुष्य अपने मन की बात पूरी करना चाहता है, तब तक उसमें छिपा हुआ हिंसा-भाव विद्यमान रहता है। कर्ता का भाव ही हिंसा और अहिंसा में कारण है, क्रिया नहीं। भाव से ही चित्त अशुद्ध होता है और भाव से ही शुद्ध होता है। —संत-सौरभ

90. हम सब यह निर्णय कर लें कि आज से सुनने वालों की खुशी के लिए बोलेंगे, खिलाने वाले की खुशी के लिए खाएँगे, मिलने वाले की प्रसन्नता के लिए मिलेंगे, तो बताओ, आपने इसमें कौन-सा तप किया ? जो सत्य सामने आया, उसे अपनाया। इस सत्य के अपनाने से आप अचाह हो जाएँगे और जगत् के काम आएँगे।
—संतवाणी 7

91. कामना-पूर्ति के अन्त में हम उसी स्थिति में आ जाते हैं, जिस स्थिति में कामना-उत्पत्ति से पूर्व हैं। परन्तु पुनः कामना-पूर्ति के प्रलोभन से नवीन कामना को उत्पन्न करते हैं। —संतवाणी 6

92. आप सोचिए तो सही, जिससे आप सुख की आशा करते हैं, क्या वह स्वयं दुःखी नहीं है ? किसी निर्धन से कोई धन की आशा करे, किसी निर्बल से कोई बल की आशा करे, तो यह आशा भ्रमात्मक नहीं है ? —संतवाणी 5

93. अगर आप यह मानते हैं कि सत्य की जिज्ञासा के साथ-साथ असत् की कामना भी है, तो कहना पड़ेगा कि सत्य की जिज्ञासा के नाम पर किसी असत् का ही भोग करना चाहते हैं।
—संतवाणी 4

94. यह पराधीनता जो जीवन में आ गयी है कि संसार और परमात्मा मिलकर हमारे मन की बात पूरी कर दें अर्थात् दूसरे लोग हमारे काम आ जाएँ, तो जीवन में पराधीनता, जड़ता और अभाव रहेगा ही। —संत-उद्बोधन

कृपा

1. यह निर्विवाद सत्य है कि जो कुछ स्वत: हो रहा है, उसमें उनकी अहैतुकी कृपा सभी का कल्याण कर रही है। इतना ही नहीं, जो कुछ हो रहा है, उसमें उनकी कृपा का नित-नव-दर्शन है, नित-नव-रस है। पर इसका अनुभव उन्हीं को होता है, जो होनहार में सदैव प्रसन्न रहते हैं।
—मानव की माँग
2. यदि पूर्वजन्म की स्मृति रहे तो उन्नति करने में विघ्न होगा। अत: विस्मृति भगवत्कृपा है; क्योंकि आवश्यक है। —सन्त-समागम 1
3. कृपा यद्यपि सभी पर होती है, परन्तु उस कृपा का अनुभंव तब होता है, जब हम सब प्रकार से उनके हो जाते हैं। प्रेमपात्र के सिवा किसी सत्ता को स्वीकार न करना -यही उनका हो जाना है।
—सन्त-समागम 1
4. अपने दोष देखने की दृष्टि का उत्पन्न होना भगवान् की विशेष कृपा है।
—सन्त-समागम 2
5. उनकी अहैतुकी कृपा आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही दे देती है और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं देती। इस दृष्टि से कुछ भी माँगना अपनी बेसमझी का परिचय देना है और उनके मंगलमय विधान का अनादर करना है।
—संतपत्रावली 2
6. क्या वह भी भगवान् हो सकता है, जो कृपा न करे ? यदि भगवान् कृपा न करते तो क्या हमें मानव-जीवन मिलता ? मानव-जीवन मिलना ही उसकी हम पर अहैतुकी कृपा है।
—मानव की माँग
7. महाघोर मोहरूपी समुद्र से क्या कोई भी प्राणी अपने बल से पार हो सकता है ? कदापि नहीं। उनका होकर ही उन्हें पा सकता है और उनकी कृपा मात्र से ही अनन्त संसार से पार हो सकता है।
—सन्त-समागम 2

8. जो अपने को समर्पित कर देता है, वही कृपा का अधिकारी है। कामनायुक्त प्राणी समर्पण कर नहीं पाता। —सन्त-समागम 1
9. शक्ति भगवान् का स्वभाव है, इसी से वह भक्तों को उनकी कृपा से ही प्राप्त होती है। सीमित स्वीकृतियों का त्याग होते ही पतित-से-पतित भी कृपा-पात्र हो जाता है। प्रेमपात्र कृपा करने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। अतः हमको शीघ्रातिशीघ्र मानी हुई स्वीकृतियों से असंग हो जाना चाहिए। —सन्त-समागम 2
10. प्रेमपात्र की अहैतुकी कृपा का बल सभी बलों से श्रेष्ठ है; क्योंकि प्रेमपात्र की कृपा प्रेमपात्र को मोहित करने में समर्थ है। अतः जिन प्राणियों ने उनकी कृपा का सहारा लिया, वे सभी मुक्त हो गए, यह सिद्धान्त निर्विवाद सत्य है। —सन्त-समागम 2
11. लोग कहते हैं कि 'भगवान् न्यायकारी हैं'; परन्तु साधक को तो यही समझना चाहिए कि 'वे तो सदैव दया करने वाले हैं'। यही कारण है कि वे दी हुई शक्तियों का दुरुपयोग करने वालों को दण्ड नहीं देते। —संत-सौरभ
12. सत्पुरुषों का संग मिलने में प्रारब्ध को हेतु नहीं मानना चाहिए। सत्पुरुषों का संग भगवान् की अहैतुकी कृपा से मिलता है। —संत-सौरभ
13. हरेक परिस्थिति में प्रभु की कृपा का दर्शन करने से और उसका आदर करने से भगवान् की कृपा फलीभूत होती है। —संत-सौरभ
14. जिस पर भगवान् की कृपा होती है, उसको दुनिया से ऐसा थपेड़ा मिलता है कि फिर वह उसकी ओर मुँह नहीं करता। —संत-सौरभ
15. भगवत्कृपा का अनुभव उस साधक को होता है, जिसको उनकी कृपा पर पूर्ण विश्वास है। जो हर समय हरेक परिस्थिति में उनकी कृपा की ही बाट जोहता रहता है। —संत-सौरभ
16. किसी भी साधक को यह नहीं समझना चाहिए कि 'मुझे अमुक प्रकार की योग्यता प्राप्त नहीं है, इसलिए मुझे भगवान् नहीं मिल सकते'। यह मानना भगवान् की महिमा को न जानकर उनकी कृपा

का अनादर करना है; क्योंकि भगवान् अपनी कृपा से प्रेरित होकर ही साधक को मिलते हैं। —संत-सौरभ

17. अन्तिम साधन जीव का पुरुषार्थ नहीं है। वह तो भगवान् की कृपा है, उसी पर साधक को निर्भर रहना चाहिए। —संत-सौरभ

18. 'दया' तो हरेक दुःखी पर हो सकती है; परन्तु जिस दया के साथ अपनत्व और प्रेम का भाव अधिक हो, उसे 'कृपा' कहा जा सकता है। —संत-सौरभ

19. अपने बल का अभिमान छोड़कर साधक जब यह विकल्प-रहित दृढ़ विश्वास कर लेता है कि मुझ पर भगवान् की कृपा अवश्य होगी, मैं उनका कृपापात्र हूँ उसी समय उस पर भगवान् की कृपा अवश्य हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। —संत-सौरभ

20. भगवान् की कृपा पर निर्भर रहे। भगवान् की कृपा से ही मनुष्य भगवान् को पा सकता है। —संत-सौरभ

21. अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लिए बिना निष्कामता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। —पाथेय

22. प्रभु अनन्त हैं, उनकी कृपा भी अनन्त है; अतः उनकी कृपा से जो कुछ मिलता है, वह भी अनन्त मिलता है। प्रभु की प्राप्ति का साधन भी प्रभु की कृपा से ही मिलता है। —संत-सौरभ

23. आप सच मानिये, उस अनन्त की अहैतुकी कृपा निरन्तर योग की, ज्ञान की, प्रेम की वर्षा कर रही है। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि हम उस कृपा के द्वारा जो वर्षा हो रही है, उसका उपयोग नहीं कर पाते। आप कहें, कैसे उपयोग नहीं कर पाते ? क्या हम थोड़ी-थोड़ी देर के लिए शान्त होते हैं ? यदि शान्त हुए होते तो आपको स्वयं अनुभव होता कि प्रभु की कृपाशक्ति योग दे रही है, प्रेम दे रही है, ज्ञान दे रही है और हम उससे तद्रूप होकर कृतकृत्य हो रहे हैं। —संतवाणी

गुण-दोष

1. ममता-रहित होते ही निर्विकार जीवन रहता है। —संतवाणी 4
2. आप सोचिए कि किसी भी वस्तु को जहाँ आप अपना नहीं मानते हैं तो बताओ, क्या विकार आपके जीवन में रहता है ? —संतवाणी 4
3. तुम भूतकाल के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता को क्यों दूषित करते हो? —संतवाणी 4
4. अपना अधिकार छोड़ने से क्रोध की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् तब हम राग और क्रोध से रहित हो जाते हैं। —संतवाणी 3
5. जो लोग सही अर्थ में निर्लोभ हो गए, उनकी दरिद्रता मिट गयी। निर्मोह हो गए, उनका भय मिट गया। निष्काम हो गए, उनकी अशान्ति मिट गयी। असंग हो गए, उनकी पराधीनता मिट गयी। —संतवाणी 3
6. सभी दोष देहाभिमान से होते हैं। —मानव की माँग
7. न्याय अपने प्रति तथा प्रेम एवं क्षमा दूसरों के प्रति करना है। यदि हम ऐसा न करेंगे तो न निर्दोष हो सकेंगे और न निर्वैर। —मानव की माँग
8. भूतकाल के दोष को वर्तमान में मत देखो। —मानव की माँग
9. जब दोषी निज विवेक के प्रकाश में अपना दोष देख लेता है, तब बेचारा दोष सत्ताहीन हो जाता है। यदि उसको न दुहराया जाए तो वह सदा के लिए मिट जाता है। —मानव की माँग
10. जैसा हम जानते हैं, वैसा ही मानें और जैसा मानते हैं, वैसा ही हमारा जीवन हो। ऐसा होते ही हम बहुत ही सुगमतापूर्वक निर्दोष हो सकते हैं। —मानव की माँग

11. अगर इन्द्रियाँ संसार की ओर जाती हैं तो अपराध क्या है उनका ? संसार की जाति की ही हैं। लेकिन आप क्यों संसार को पसन्द करते हो जी, यह बताओ ? आप तो भगवान् की जाति के हैं।
—संतवाणी 5

12. यदि दोष की स्वतन्त्र सत्ता है तो उसका नाम दोष ही नहीं। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है, उसमें कोई दोष नहीं होता।
—संतवाणी 6

13. दोष-जनित सुख का जो प्रलोभन है, उस प्रलोभन की भूमि में पुनः दोष की उत्पत्ति होती है।
—संतवाणी 6

14. यदि मनुष्य अपने दोषों का परित्याग कर दे तो गुण कहीं से लाने नहीं पड़ेंगे, वरन् दोषों के मिटते ही स्वतः चमक उठेंगे।
—संत-उद्‌बोधन

15. प्राकृतिक नियमानुसार मनुष्य मात्र को अपने दोष देखने का विवेक स्वतः प्राप्त है।
—मानव की माँग

16. दोषों की निवृत्ति का भास न हो, गुणों की अभिव्यक्ति का भास न हो, तब समझना चाहिए कि निर्दोषता से एकता हो गयी।
—जीवन-पथ

17. गुणों का अभिमान तब होता है, जब प्राणी स्वाभाविक गुणों को त्याग कर दोषों को अपनाने के पश्चात् पुनः बलपूर्वक दोषों को दबाता है और जीवन में गुणों की स्थापना करता है।
—मानव की माँग

18. 'निर्लोभता' के बिना दरिद्रता का, 'निर्मोहता' के बिना भय का, 'निष्कामता' के बिना अशान्ति का, और 'असंगता' के बिना पराधीनता का नाश नहीं होता। यह दैवी विधान है।
—संत-उद्‌बोधन

19. देहाभिमान रहते हुए कभी भी, कोई भी पराधीनता आदि विकारों से रहित नहीं हो सकता।
—संत-उद्‌बोधन

20. राग की भूमि में ही समस्त दोष उत्पन्न होते हैं।
—मानव-दर्शन

21. राग और कामनाओं के कारण अनेक प्रकार के दोष हमारे जीवन में आ जाते हैं।
—संत-उद्‌बोधन

22. यदि तुम में कोई दोष हो तो सभी कहेंगे कि 'तुम दोषी क्यों हो ?' परन्तु यदि कोई दोष न हो तो कोई न कहेगा कि 'तुम निर्दोष क्यों हो ?' कारण कि 'क्यों' उसी में लगता है, जो अस्वाभाविक हो। जो स्वाभाविक है, उसमें 'क्यों' नहीं लगता। —मानव की माँग
23. अविवेक के कारण जब हम अपने को देह मान लेते हैं, तब काम की उत्पत्ति होती है। काम की पूर्ति होने से लोभ और मोह तथा काम की पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने से क्रोध और द्वेष आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं। —मानव की माँग
24. गुणों के अभिमान ने ही दोषों को नाश नहीं होने दिया। —संतपत्रावली 1
25. जब हम प्रमादवश उन्हें अपना मान लेते हैं, जो हमारे नहीं हैं, अथवा जब हम उन्हें अपना नहीं मानते, जो हमारे हैं, तभी सभी दोष उत्पन्न होते हैं। —मानव की माँग
26. प्रतीति के आकर्षण ने ही पराधीनता, परिच्छिन्नता आदि विकारों में आबद्ध किया है। —मानव-दर्शन
27. दोष उसे नहीं कहते, जिसे दोषी स्वयं नहीं जानता। दोष और निर्दोषता का विवेचन निजज्ञान के प्रकाश में ही सम्भव है। किसी मान्यता तथा प्रथा के आधार पर निर्दोषता तथा दोष का निर्णय करना वास्तविक निर्णय नहीं है। —मानव की माँग
28. समस्त दोषों का अन्त उनके न दुहराने में है। किसी गुण के द्वारा दोषों का नाश नहीं होता, अपितु निर्दोषता में ही समस्त गुणों की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। दोष-रहित होने के लिए गुणों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है, अपितु वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना है, जो एकमात्र स्वाधीनता की उत्कट लालसा से ही साध्य है; कारण कि सभी दोष पराधीनता से ही पोषित होते हैं। —मूक सत्संग
29. आंशिक निर्दोषता का अभिमान समस्त दोषों का मूल है। —मूक सत्संग
30. जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके सभी दोष स्वत: मिट जाते हैं। —चित्तशुद्धि
31. प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक दोष में समस्त दोष निहित हैं। —मूक सत्संग

32. किसी-न-किसी गुण के अभिमान से ही दोषों की उत्पत्ति होती है। कारण कि गुण-रहित दोष कभी जीवित नहीं रह सकता।

—संतपत्रावली (2)

33. यह नियम है कि साधन रूप जीवन से साधन का और असाधन रूप जीवन से असाधन का प्रचार स्वतः होता है। यद्यपि असाधन-रूप मान्यताओं को कोई भी अपनी ओर से घोषित नहीं करता कि 'मैं चोर हूँ, धोखा देना जानता हूँ, मिथ्यावादी हूँ' इत्यादि; परन्तु जीवन के द्वारा उन दोषों का प्रचार स्वतः होने लगता है।

—जीवन-दर्शन

34. प्राकृतिक नियम के अनुसार ऐसी कोई अशुद्धि है ही नहीं, जो स्वतः न मिट जाए, पर अशुद्धि-जनित जो सुख है, उसका त्याग हम नहीं करते, इस कारण अशुद्धि की पुनरावृत्ति होती रहती है।

—चित्तशुद्धि

35. गुणों का अभिमान सभी दोषों की भूमि है। —जीवन-दर्शन

36. गुणों की पूर्णता में अभिमान का उदय नहीं होता।

—जीवन-दर्शन

37. यह नियम है कि वही दोष सुरक्षित रहता है, जिसे हम सहन करते रहते हैं।

—जीवन-दर्शन

38. यदि दोषों को न दुहराया जाय तो सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं।

—जीवन-दर्शन

39. सभी को सुख देने के प्रयास को गुण कहते हैं; किन्तु केवल एक ही शरीर को सुखी रखने का प्रयास किया जाए तो वह दोष हो जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुण को सीमित कर देना दोष हो जाता है। जिस प्रकार प्रकाश की न्यूनता ही अन्धकार है, अन्धकार का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार गुण की न्यूनता ही दोष है, दोष का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

—जीवन-दर्शन

40. 'यह' को 'मैं' न मानने पर सभी दोष मिट जाते हैं।

—जीवन-दर्शन

41. जिस गुण के साथ अहम् मिल जाता है, वह गुण भी दोष हो जाता है।

—जीवन-दर्शन

42. अपने दोष का ज्ञान जिस ज्ञान में है, वही ज्ञान विधान का प्रतीक है। ज्ञान दोष का प्रकाशक है, नाशक नहीं। निर्दोषता की माँग दोष की नाशक है। —दर्शन और नीति

43. भूतकाल के दोषों के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता में दोष का आरोप करना अपने प्रति अन्याय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भूतकाल की भूल का परिणाम परिस्थिति के रूप में अपने सामने नहीं आएगा, अवश्य आएगा; किन्तु भूतकाल के दोष के आधार पर वर्तमान की निर्दोषता में दोष का आरोप करना दोषयुक्त प्रवृत्ति को जन्म देना है। —दर्शन और नीति

44. समस्त दोषों की उत्पत्ति का कारण विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास को अपनाना है, जो वास्तव में जाने हुए असत् का संग है। —दर्शन और नीति

45. 'गुण' किसी व्यक्ति विशेष की वस्तु नहीं है, अपितु अनन्त का स्वभाव है। 'दोष' का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, अपितु प्रमाद का परिणाम है। —दर्शन और नीति

46. जब तक मानव अपने जाने हुए दोष को त्यागकर निर्दोषता की स्थापना नहीं करेगा, तब तक राष्ट्र, मत तथा सम्प्रदाय मानव-समाज को सर्वांश में निर्दोष नहीं बना सकते। —दर्शन और नीति

47. यह नियम है कि जो अपनी दृष्टि में दोषी है, वही दूसरों से निर्दोष कहलाने की आशा करता है। —चित्तशुद्धि

48. गुणों का अभिमान रखते हुए कोई भी उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। दबे हुए दोष का प्रकट होना दोष नहीं, अपितु निर्दोषता का साधन है। वास्तविक दोष तो अभिमानयुक्त गुण ही हैं, जिन्हें हम प्रमादवश महत्त्व देते रहते हैं। —चित्तशुद्धि

49. वास्तविक गुणों का प्रादुर्भाव होने पर उनका भास नहीं होता। अतः जब तक गुणों का भास हो, तब तक समझना चाहिए कि गुणों के स्वरूप में कोई दोष है। —चित्तशुद्धि

50. जिन प्रवृत्तियों से किसी की क्षति हो, किसी का अनादर हो, किसी का अहित हो, वे सभी 'दोष' हैं और जिन प्रवृत्तियों से दूसरों का हित, लाभ एवं प्रसन्नता हो, वे सभी 'गुण' हैं। —चित्तशुद्धि

51. सर्वांश में किसी भी दोष के मिट जाने पर सभी दोष मिट जाते हैं और सर्वांश में किसी भी गुण के अपना लेने पर सभी गुण स्वतः आ जाते हैं।

—चित्तशुद्धि

52. जब अपने में दोष का दर्शन हो, तब उस व्यथा को दबाने के लिए अपना गुण अथवा पराया दोष नहीं देखना चाहिए।

—चित्तशुद्धि

53. यह सभी जानते हैं कि अन्धकार प्रकाश की ही न्यूनता है, पर अन्धकार प्रकाश नहीं है। उसी प्रकार दोष गुण की ही न्यूनता है, पर दोष गुण नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि दोष का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

—चित्तशुद्धि

54. अपने को दोषी मानना दोष को निमन्त्रण देना है। अतः 'दोषी था, पर अब नहीं हूँ' ऐसा मानते ही निर्दोषता की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाएगी। सभी दोष, सभी बन्धन दोषयुक्त मान्यता पर ही जीवित हैं। अपने में निर्दोषता की स्थापना करते ही समस्त दोष तथा बन्धन स्वयं मिट जाएँगे।

55. वस्तुओं की ममता, विश्वास में विकल्प, विवेक का अनादर –इन तीन कारणों से ही समस्त दोषों की उत्पत्ति होती है।

—चित्तशुद्धि

56. भय और प्रलोभन दोनों ही दोष हैं। किसी दोष की निवृत्ति के लिए किसी दोष का आश्रय लेना निर्दोषता नहीं है, अपितु निर्दोषता के वेष में महान् दोष है।

—चित्तशुद्धि

57. प्रलोभन भी एक बड़ा दोष है। उसका आश्रय लेकर किसी भी भलाई का करना भलाई नहीं है, अपितु भलाई के वेष में बुराई है; क्योंकि प्रलोभन की सिद्धि न होने पर भलाई स्थायी नहीं रह पाती।

—चित्तशुद्धि

58. यह नियम है कि जाने हुए दोष को अपना लेने पर व्यक्ति अपनी दृष्टि में भी अपने को आदर के योग्य नहीं पाता। जो अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं रह जाता, वही दूसरों से आदर पाने की मिथ्या आशा करता है और उसके लिए अपने दोष को छिपाता है।

—चित्तशुद्धि

59. निर्दोष कहलाने की कामना तो एक दोष ही है। उससे तो सदैव सजग रहना चाहिए; क्योंकि निर्दोष कहलाने की रुचि सीमित अहंभाव को पुष्ट करती है, जो समस्त दोषों का मूल है।
—चित्तशुद्धि

60. जो गुण देहाभिमान को पुष्ट करता है, वह गुणों के वेष में वास्तव में दोष है; क्योंकि देहाभिमान के रहते हुए सर्वांश में निर्दोषता सम्भव नहीं है।
—चित्तशुद्धि

61. यदि जीवन में निर्दोषता न होती तो दोष का ज्ञान ही न होता; क्योंकि सर्वांश में प्राणी कभी भी दोषी नहीं होता और यदि कोई सर्वांश में दोषी है तो उसे दोष का ज्ञान भी नहीं है।
—चित्तशुद्धि

62. पूर्णतत्त्व का बिना अनुभव किए विकारों का अन्त नहीं हो सकता।
—सन्त-समागम 1

63. जिन दोषों को मिटाना है, उनका सद्भाव मिटा दो।
—सन्त-समागम 1

64. अपने में निर्दोषता का भाव स्थापित करने पर सभी दोष स्वयं मिट जाते हैं। दोषों का सद्भाव दोषों को निमन्त्रण देकर बुलाने के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता।
—सन्त-समागम 1

65. अभिमानयुक्त बड़े-से-बड़ा गुण भी दोष के समान होता है।
—सन्त-समागम 2

66. जब प्राणी अनायास मिले हुए आदर को मिथ्या ही अपना आदर मान लेता है अर्थात् दूसरों की सज्जनता को अपना गुण समझने लगता है, तो ऐसी अवस्था में उसकी अपनी दृष्टि से अपने दोष देखने की शक्ति मिटने लगती है।
—सन्त-समागम 2

67. सभी दोषों का मूल एकमात्र यही है कि संसार मेरे काम आ जाए। उसको मिटाने का सुगम साधन यही है कि मैं संसार के काम आ जाऊँ। जब प्राणी संसार में संसार के लिए रहने लगता है, तब अन्तःकरण स्वतः शुद्ध होने लगता है।
—सन्त-समागम 2

68. सभी दोष दोषी की सत्ता के बिना निर्जीव होते हैं। कोई भी दोष दोषी की कृपा के बिना जीवित नहीं रह सकता। अतः जिस काल

में दोषी अपनी दृष्टि से दोष को देखकर, अपने को दोष से असंग कर लेता है, बस उसी काल में दोष सदा के लिए मिट जाता है। परन्तु जो दोषी दोष को देखकर ऐसा सद्भाव करता है कि मैं दोषी हूँ, उसकी सत्ता पाकर दोष दोषी पर शासन करने लगता है।

—सन्त-समागम 2

69. यह नियम है कि जिस भाव का सम्बन्ध अहंभाव से हो जाता है, उस भाव में सत्यता तथा प्रियता स्वत: उत्पन्न हो जाती है। अत: निर्दोषता की प्राप्ति के लिए अहंभाव में निर्दोषता का स्थापित होना परम अनिवार्य है।

—सन्त-समागम 2

70. ऐसा कोई दोष नहीं है, जिसको प्राणी ने स्वयं नहीं बनाया है। शरीर आदि वस्तुओं के आधार पर प्रसन्नता खरीदने की भावना सभी दोषों का मूल है।

—सन्त-समागम 2

71. अपने सुख-दु:ख का कारण दूसरे को न मानकर अपने अधिकार का त्याग करने से क्रोध का नाश हो जाता है।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

72. अपने बनाए हुए दोष को ही तो मिटाना है। कोई भी दोष प्राकृतिक नहीं है।

—संतवाणी 7

73. प्रत्येक दोष दोष-जनित सुख-लोलुपता के आधार पर जीवित रहता है, अथवा यों कहो कि उसकी पुनरावृत्ति होती रहती है। दोष-जनित वेदना में ही सुख-लोलुपता का नाश निहित है।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

74. देहाभिमान से ही प्राणी अपने में गुणों का आरोप कर लेता हैं वास्तव में तो समस्त दिव्य गुण स्वत:सिद्ध हैं, किसी की उपार्जित वस्तु नहीं हैं।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

75. जो मनुष्य यह समझता है कि मैं सत्यवादी हूँ, उसमें कहीं-न-कहीं झूठ छिपा हुआ है। यदि वह सचमुच सत्यवादी हो तो उसे यह भास ही नहीं होना चाहिए कि मैं सत्यवादी हूँ, अपितु सत्य बोलना उसका जीवन बन जाना चाहिए। जो गुण साधक का जीवन बन जाता है, उसमें साधक का अभिमान नहीं होता। वह उसके कारण अपने में किसी प्रकार की विशेषता का अनुभव नहीं करता।

—संत-सौरभ

76. सच बात तो यह है कि जब विकार का नाश होता है, तब समस्त विकारों का नाश होता है। और जब समस्त विकारों का नाश न दिखाई दे, तब तक सोचना चाहिए कि विकार की कमी हुई है।
—संतवाणी 5

77. सबसे बड़ा तो अपना यही विकार है कि चित्त के ऊपर, शरीर के ऊपर, प्राणों के ऊपर, बुद्धि के ऊपर आपने जो ममता का पत्थर लाद दिया है, यह बड़ा भारी अपराध है प्राणी का।
—संतवाणी 4

78. आप अभी मान लीजिए कि कोई वस्तु हमारी नहीं है। फिर देखें, आपके चित्त में विकार किस तरह पैदा हो जाए ! कभी विकार पैदा नहीं हो सकता।
—संतवाणी 4

79. जिसे अपनी पूर्ति के लिए समाज के पीछे दौड़ना पड़ रहा है, उसे समझना चाहिए कि अभी मेरे जीवन में गुणों का विकास नहीं हुआ।
—मानव की माँग

80. जब प्राणी अपनी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर कर लेता है, तब उसका चित्त अशुद्ध हो जाता है, जिसके होते ही अनेक दोषों की उत्पत्ति अपने-आप होने लगती है।
—चित्तशुद्धि

प्राकृतिक नियमानुसार किसी भी कार्य का सम्पादन करने के लिए कार्य-सम्बन्धी एक समूह निर्माण करना पड़ता है। जिस समूह में परस्पर विश्वास नहीं होता, वह समूह अपने कार्य में सफल नहीं होता। परस्पर विश्वास सुरक्षित रखने के लिए दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और वार्षिक विचार-विनिमय करना अनिवार्य है। विनिमय करने की विधि में अपनी-अपनी भूल सामने रखना है और अपने ही कर्त्तव्य का निर्णय करना है।

गुरु

1. जो किसी का भी गुरु बनेगा, वह अपना गुरु नहीं बन सकता और जो अपना गुरु नहीं बन सकता, वह जगत् का गुरु नहीं बन सकता। —संतवाणी 4
2. वास्तव में यह सत्य है कि हम अपने गुरु आप बन जाते तो सिद्धि जरूर हो जाती । तो अपना गुरु बनने के लिए क्या करना पड़ता है? अपने जाने हुए असत् का त्याग करना पड़ता है, अपने विश्वास में अविचल श्रद्धा करनी पड़ती है और मिले हुए का सदुपयोग करना पड़ता है। —संतवाणी 4
3. गुरु के मिलने का मालूम है, फल क्या है ? गुरु हो जाना। —संतवाणी 4
4. आज उपदेष्टा गुरु की लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई ऐसा वीर पुरुष या वीर महिला हो, जो किसी उपदेश को स्वीकार कर सके। —संतवाणी 4
5. दुनिया का बड़े-से-बड़ा गुरु, बड़े-से-बड़ा नेता, बड़े-से-बड़ा राष्ट्र जो काम नहीं कर सकता आपके साथ, अगर आप चाहें तो अपने साथ कर सकते हैं। —संतवाणी 3
6. विवेक ही वास्तव में गुरु-तत्त्व है। कोई व्यक्ति किसी का गुरु है—इसके समान कोई भूल ही नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसी का सुधारक है -इसके समान कोई भूल नहीं है। मानव का अपना विवेक ही उसका अपना सुधारक है, वही उसका गुरु है, वही उसका नेता है, वही उसका शासक है। —संतवाणी 5
7. गुरु की सबसे बड़ी भक्ति यह है कि गुरु मिलना चाहे और शिष्य कहे कि जरूरत नहीं है; क्योंकि जिसने गुरु की बात को अपनाया, उसमें गुरु का अवतरण हो जाता है। —संतवाणी 7

8. आज आस्तिकवाद के प्रचारक को गुरु बनने का जितना शौक है, क्या उतना स्वयं भक्त होने का है ? यदि है तो उसके जीवन से स्वयं अस्तिकता विभु हो जाएगी। —जीवन-पथ
9. कितने उपदेष्टा गुरु अपने शिष्यों के मन की चंचलता तथा विकार से दु:खी हैं ? कभी एकान्त में उन लोगों के दु:ख से दु:खी होकर व्याकुल हुए ? अथवा जीवन भर उपदेश ही करते रहे? —जीवन-पथ
10. सच्चा गुरु वही है, जिसके जीवन से साधकों को प्रकाश मिलता है। सिद्धान्तों की चर्चा करने मात्र से वास्तव में गुरु-पद नहीं मिल जाता। —जीवन-पथ
11. गुरु तो वह होता है, जो गुरु बनकर नहीं आता है, दोस्त बनकर आता है, सुहृद् बनकर आता है, अपना होकर आता है। वह वास्तव में गुरु होता है। —जीवन-पथ
12. ये जो बाहर के गुरु की हम जरूरत अनुभव करते हैं या राष्ट्र की जरूरत अनुभव करते हैं या नेता की जरूरत अनुभव करते हैं, यह कब करते हैं? जब विवेक का अनादर करते हैं। —साधन-त्रिवेणी
13. विवेक को ही ज्ञान कहते हैं। ज्ञान रूपी जो गुरु है, उसकी बात मान लोगे तो शरीर रूपी गुरु की जरूरत नहीं पड़ेगी। —साधन-त्रिवेणी
14. सच्चे गुरु की पहचान क्या है ? जो स्वयं अपना गुरु, नेता और शासक है और जिसके पीछे चलकर समाज प्रगति करता है। ऐसे गुरु को अपने लिए संसार की आवश्यकता नहीं होती, संसार को उसकी आवश्यकता रहती है। —संत-उद्‌बोधन
15. गुरुजनों का आदेश-पालन ही वास्तविक गुरु-भक्ति है। जिन्हें गुरु-भक्ति प्राप्त हुई, वे स्वयं गुरु हो गए, ऐसा मेरा अनुभव है। —संतपत्रावली 2
16. साधन-तत्त्व ही गुरु-तत्त्व है, जो साधक में जन्मसिद्ध है, तथापि इस प्राप्त गुरु-तत्त्व का अनादर करने के कारण किसी अप्राप्त गुरु की अपेक्षा हो जाती है। —जीवन-दर्शन
17. जिस प्रकार नेत्र को कोई शब्द नहीं सुना सकता और श्रोत्र को कोई रूप नहीं दिखा सकता, उसी प्रकार जिस साधन की सामर्थ्य साधक में नहीं है, उसको कोई बाह्य गुरु नहीं करा सकता। जिस

बीज में उपजने की सामर्थ्य होती है, उसी को पृथ्वी, जल, वायु आदि उपजा सकते हैं। अतः साधक में विद्यमान साधना को ही बाह्य गुरु भी विकसित करने में सहयोग दे सकते हैं।

—जीवन-दर्शन

18. कोई भी गुरु और ग्रन्थ हमें ऐसी बात बता ही नहीं सकते, जो कि हमारे विवेक में निहित नहीं है।

—मानव की माँग

19. गुरु का बहाना ढूँढ़ना भी निज विवेक का अनादर ही है।

—मानव की माँग

20. कर्तव्य-ज्ञान के लिए विवेक के स्वरूप में जिसने गुरु प्रदान किया है, वही सत्संग एवं सद्ग्रन्थ के स्वरूप में भी गुरु प्रदान कर सकता है।

—जीवन-दर्शन

21. अपने दोषों का ज्ञान जितना अपने को होता है, उतना अन्य को हो ही नहीं सकता। .... अतः दोष देखने और निवारण करने के लिए साधक को अपने ही ज्ञान को अपना गुरु बना लेना चाहिए।

—जीवन-दर्शन

22. 'नेता' उसे कहते हैं, जो दोष को देखकर दुःखी हो, 'गुरु' उसे कहते हैं, जो दोष को मिटाने का उपाय जानता हो और 'शासक' उसे कहते हैं, जो जाने हुए उपाय पर अमल कराने में समर्थ हो।

—मानव की माँग

23. मानवता तो एक अनूठी प्रेरणा देती है, और वह यह कि अगर हमें 'नेता' होना है तो अपने ही नेता बनें, यदि हमें 'शासन' करना है तो अपने पर ही शासन करें, और यदि 'गुरु' बनने की कामना है तो अपने ही गुरु बनें।

—मानव की माँग

24. अपना नेता, अपना गुरु तथा अपना शासक वही हो सकता है, जो अपने प्रति न्याय तथा दूसरों के प्रति क्षमा तथा प्रेम करने में समर्थ है।

—मानव की माँग

25. गुरु, नेता और शासक बनकर दूसरों के सुधार की बात वे ही लोग करते हैं, जो सुधार के नाम पर सुख-भोग में प्रवृत्त होते हैं।

—दर्शन और नीति

26. सेवकों के गुरु हैं श्री हनुमन्तलाल जी, विचारकों के गुरु हैं, भगवान् शंकर और प्रेमियों की गुरु हैं श्री राधारानी।

—सन्त-जीवन-दर्पण

27. गुरु मानने का अधिकार सभी को है और शिष्य बनाने का किसी को अधिकार नहीं। —सन्त-जीवन-दर्पण

28. ज्ञान का जिज्ञासु ही शिष्य है। शिष्य गुरु होने के लिए गुरु की शरण में जाता है। गुरु वही है जो शिष्य को गुरु बना सके; क्योंकि गुरु के मिलते ही शिष्य गुरु हो जाता है। गुरु की आवश्यकता गुरु होने के लिए होती है, शिष्य होने के लिए नहीं। शिष्य तो उसी समय तक है, जब तक गुरु नहीं मिला। —सन्त-समागम 1

29. गुरु के 'गुर' को जीवन का स्वरूप बना लेना ही गुरु-भक्ति है, अथवा गुरु से भिन्न हो जाना ही गुरु-भक्ति है, या गुरु की आज्ञा-पालन ही गुरु-भक्ति है। गुरु का 'गुर' ही प्रेमपात्र से मिलाने में समर्थ है, शरीर नहीं। उपासना 'गुर' की होती है, शरीर की नहीं। उसका सद्‌भाव करना गुरु-भक्ति है। गुरु का 'गुर' ही वास्तव में गुरु का स्वरूप है। —सन्त-समागम 1

30. जो निज-स्वरूप का आदर करता है, वह गुरु, ईश्वर तथा संसार आदि को अपने ही में पाता है। —सन्त-समागम

31. अगर कहीं गुरु बन जाओ तो भगवान् ने कहा कि मेरे प्रेम से वंचित रहो, चेले-चेली में रमण करो। —सन्त-समागम 2

32. पूजा-प्रार्थना सब परमात्मा के साथ करने वाली बात है। गुरु परमात्मा का बाप हो सकता है, परमात्मा नहीं। हाँ, गुरुवाक्य ब्रह्मवाक्य हो सकता है। गुरु श्रद्धास्पद हो सकता है, प्रेमास्पद नहीं। व्यक्ति को अगर परमात्मा मानना है तो सब को मानो। गुरु साधनरूप हो सकता है, साध्यरूप नहीं।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

33. शास्त्रों में नेता या गुरु बनने को पतन का हेतु माना है। इससे सिद्ध होता है कि यह काम महापुरुषों के ही उपयुक्त है। साधक को इस बखेड़े में कभी नहीं पड़ना चाहिए। —संत-सौरभ

34. श्रद्धा गुरु में करनी चाहिए और प्रेम भगवान् में करना चाहिए। गुरु भी यही सिखाता है। —संत-सौरभ

35. मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर श्यामसुन्दर अर्जुन को गीता सुना सकते हैं, तो क्या वे अन्तर्यामी रूप से हमको-आपको गीता नहीं सुना सकते ? —संतवाणी 7

36. गुरु, ग्रन्थ और सत्-चर्चा साधक में विद्यमान विवेक-शक्ति को ही विकसित कर सकते हैं, कोई नयी शक्ति प्रदान नहीं कर सकते।
—संत-सौरभ

37. अगर बाह्य गुरु के बिना तत्त्व-साक्षात्कार नहीं होता, तो आप यह बताइए कि सबसे पहले तत्त्व-साक्षात्कार कैसे हुआ होगा ? आखिर गुरु-परम्परा चली होगी कि नहीं ? तो जो सबका गुरु होगा, मानना पड़ेगा कि उसका कोई गुरु नहीं होगा। यदि एक व्यक्ति को भी बिना गुरु के तत्त्व-साक्षात्कार हो सकता है, तो यह विधान तो नहीं हुआ कि बिना गुरु के तत्त्व-साक्षात्कार नहीं हो सकता।
—संतवाणी 6

38. सच पूछिए, हमारे यहाँ जो गुरु की महिमा का वर्णन किया जाता है, वह गुरु विवेक ही है।
—संतवाणी 4

39. गुरु-शिष्य का सम्बन्ध होता है अनासक्ति के लिए। यह नहीं कि दस प्रकार की आसक्तियाँ तो थीं ही, ग्यारहवीं प्रकार की और नई पैदा कर ली।
—संतवाणी 7

प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म अपने-अपने स्थान पर महान् है। परन्तु कब ? जब कर्म के पीछे जो भाव है वह पवित्र हो, भाव के पीछे जो ज्ञान है वह उद्देश्य-पूर्ति में हेतु हो और उद्देश्य वह हो जिसके आगे और कोई उद्देश्य न हो। अतः प्रत्येक कर्त्तव्य-कर्म द्वारा अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति अनिवार्य है।

चिन्तन

1. तुम होने वाले चिन्तन को मिटाना चाहते हो करने वाले चिन्तन से ! उससे डरते क्यों हो ? देखते रहो, बिल्कुल देखते रहो। अगर तुम 'हाँ' नहीं करोगे तो वह नाश हो जाएगा। और उससे लड़ोगे नहीं, तब भी नाश हो जाएगा। और उससे अपने को मिलाओगे नहीं, तब भी नाश हो जाएगा। —संतवाणी 5
2. मोहजनित सम्बन्ध तथा ममता का त्याग करते ही विषय-चिन्तन मिटकर भगवत्-चिन्तन स्वतः उत्पन्न होता है। जब तक साधक को चिन्तन करना पड़ता है, तब तक उसे समझना चाहिए कि अभी प्रेमास्पद से सरल विश्वासपूर्वक नित्य सम्बन्ध की स्वीकृति नहीं हुई। —मानव की माँग
3. अशुद्ध भोजन से शरीर अशुद्ध हो जाता है तथा अशुद्ध चिन्तन से सूक्ष्म शरीर आदि अशुद्ध हो जाते हैं; क्योंकि जिस प्रकार अन्न आदि स्थूल शरीर का भोजन है, उसी प्रकार स्मरण, चिन्तन, ध्यान आदि सूक्ष्म शरीर का भोजन है। —संतपत्रावली 1
4. यह अखण्ड नियम है कि चिन्तन के अनुसार कर्ता का स्वरूप बन जाता है; क्योंकि सभी प्राणी चिन्तन रूपी कल्पतरु के नीचे निवास करते हैं। —संतपत्रावली 1
5. यदि मानव अपने-आप होने वाले चिन्तन से सहयोग न करे, अपितु असहयोग कर निश्चिन्त हो जाए तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यर्थ चिन्तन का नाश होता है। —मूक सत्संग
6. व्यर्थ चिन्तन का समर्थन तथा विरोध न करना उसके मिटाने का अचूक उपाय है। —सफलता की कुंजी
7. होने वाले चिन्तन से भयभीत होना और उसे विकार मानना अपने में हीन भाव को जन्म देना है। चिन्तन को देखना और उससे असहयोग करना चाहिए, वह अपने-आप मिट जाएगा। —सफलता की कुंजी

8. चिन्तन का दृश्य देखो, किन्तु उसका समर्थन मत करो और उसकी सत्यता स्वीकार मत करो। .... चिन्तनरूपी दृश्य की यदि स्थिति स्वीकार न की जाए तो चिन्तन निर्जीव होकर मिट जाएगा।

—सफलता की कुंजी

9. चिन्तन से चिन्तन दबता है, मिटता नहीं, इतना ही नहीं, कालान्तर में किए हुए चिन्तन का भी चिन्तन होने लगता है।

—सफलता की कुंजी

10. जिन वस्तुओं की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उनका चिन्तन 'व्यर्थ चिन्तन' है और जिसकी प्राप्ति जिज्ञासा अथवा लालसा-साध्य है, उसका चिन्तन 'सार्थक चिन्तन' है। —चित्तशुद्धि

11. क्रिया-जनित सुख से अरुचि होते ही सार्थक चिन्तन स्वत: जाग्रत होता है। .... क्रिया-जनित सुखलोलुपता से ही निरर्थक चिन्तन उत्पन्न होता है। —चित्तशुद्धि

12. भूलकर भी किसी की बुराई का चिन्तन नहीं करना चाहिए; क्योंकि उसकी बुराई कर्ता में आती है, और उसका भी अनहित होता है कि जिसकी बुराई की जाती है। —सन्त-समागम ।

13. जिसको अच्छा बनाना चाहते हो, उसमें अपने मन से उन्हीं अच्छे गुणों को स्थापित कर दो अर्थात् जैसा बनाना चाहते हो, उन्हीं भावनाओं को उसमें देखो। बार-बार ऐसा चिन्तन करो कि वह अच्छा है। इससे कालान्तर में वह उसी प्रकार हो जाएगा, जैसा कि चिन्तन किया गया है। —सन्त-समागम ।

14. प्रत्येक चिन्तन कर्ता की तद्रूपता से ही जीवित रहता है। यदि चिन्तन में तादात्म्य न किया जाए तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिन्तन अपने-आप मिट जाता है।

—साधन-तत्त्व

15. नीरसता का नाश होने पर व्यर्थ चिन्तन का नाश हो जाता है। नीरसता का नाश असंगता, उदारता एवं प्रियता से हो जाता है।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

16. मानव जिसकी आवश्यकता अनुभव करता है, उसका और जिसको अपना मानता है, उसका चिन्तन स्वत: होने लगता है।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

17. ऊपर से अकर्मण्य रहने पर भी (मनुष्य) व्यर्थ चिन्तन द्वारा मानसिक शक्ति का ह्रास करता है, जो अनर्थ का मूल है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

18. न चाहने पर जो चिन्तन उत्पन्न हुआ है, उसका नाश तभी होगा, जब उससे असहयोग कर लिया जाए तथा उससे तादात्म्य तोड़ दिया जाए। असहयोग करते ही उत्पन्न हुआ व्यर्थ चिन्तन निर्जीव हो जाता है और तादात्म्य मिटते ही उसका समूल नाश हो जाता है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

19. बलपूर्वक किये हुए सार्थक चिन्तन से व्यर्थ चिन्तन नष्ट नहीं होता, अपितु व्यर्थ चिन्तन के त्याग से सार्थक चिन्तन स्वत: जाग्रत होता है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

20. चिन्तन उसी का होगा, जिसकी हम आवश्यकता अनुभव करेंगे और जिसको हम अपना मानेंगे।
—संतवाणी 8

21. दोष करने की अपेक्षा दोषों का चिन्तन अधिक पतन करने वाला है।
—संत-सौरभ

22. आगे-पीछे का चिन्तन उन प्राणियों को करना चाहिए, जिनको उस वस्तु की आवश्यकता हो, जो वर्तमान में नहीं है।
—सन्त-समागम 2

23. जिसके चिन्तन से अपने को मुक्त होना है, उसके अस्तित्व को ही स्वीकार मत करो।
—संत-उद्‌बोधन

24. व्यर्थ चिन्तन का अन्त एकमात्र सत्संग से ही होता है।
—मूक सत्संग

25. व्यर्थ-चिन्तन के नाश के लिए एकमात्र मूक-सत्संग ही अचूक उपाय है अर्थात् श्रमरहित होना है।
—मूक सत्संग

26. 'नहीं' के चिन्तन से बचने का उपाय क्या होगा ? 'है' में आस्था।
—जीवन-पथ

27. चिन्तन केवल उसका करना चाहिए, जिसे प्राप्त करना हो। इस दृष्टि से सर्वसमर्थ भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु चिन्तन करने योग्य नहीं है।
—संतपत्रावली 1

जीवन

1. आज जिसे हम जीवन कहते हैं, वह तो जीवन की साधन-सामग्री है, जीवन नहीं है। —मानव की माँग

2. वास्तविक जीवन हमारा अपना जीवन है। उस जीवन में किसी प्रकार की विषमता, अभाव एवं जड़ता आदि विकार नहीं हैं। —चित्तशुद्धि

3. यह सभी जानते हैं कि गहरी नींद में प्राणी प्रिय-से-प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग स्वभाव से ही अपना लेता है और उस अवस्था में किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं करता, अपितु जाग्रत-अवस्था में यही कहता है कि बड़े सुख से सोया। प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई भी स्मृति अनुभूति के बिना नहीं हो सकती। गहरी नींद में कोई दुःख नहीं था, यह अनुभूति क्या साधक को वस्तु, व्यक्ति आदि से अतीत के जीवन की प्रेरणा नहीं देती ? अर्थात् अवश्य देती है। .... गहरी नींद के समान स्थिति यदि जाग्रत में प्राप्त कर ली जाए तो यह सन्देह निर्मूल हो जाएगा और यह स्पष्ट बोध हो जाएगा कि वस्तु, व्यक्ति आदि के बिना भी जीवन है और उस जीवन में किसी प्रकार का अभाव नहीं है। —चित्तशुद्धि

4. 'कर्तव्य-परायणता' के बिना जीवन जगत् के लिए, 'असंगता' के बिना जीवन अपने लिए एवं 'आत्मीयता' के बिना जीवन अपने निर्माता के लिए उपयोगी नहीं होता। —मूक सत्संग

5. जीवन स्वयं रक्षा करता है। विचारशील केवल अपने कर्तव्य की ओर देखते हैं, परिणाम पर दृष्टि नहीं रखते हैं। —संतपत्रावली 1

6. साधक को विश्वास रखना चाहिए कि जीवन स्वयं अपनी रक्षा करता है। यदि जीवन शेष है तो जीवन के साधन स्वयं प्राप्त हो जाएँगे। —संत-सौरभ
7. जिसका जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, उसका जीवन अपने लिए तथा अनन्त के लिए भी उपयोगी सिद्ध होता है। —दर्शन और नीति
8. जो बात व्यक्ति के जीवन में आ जाती है, वह विभु हो जाती है और उसका प्रभाव अपने-आप बृहत् समाज पर पड़ता है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
9. संसार की सहायता से जब तक जीवन मालूम होता है, तब तक तो मृत्यु के ही क्षेत्र में रहते हैं। शरीर के रहने का नाम जीवन नहीं है। .... शरीर से सम्बन्ध टूटने के बाद जीवन की प्राप्ति होती है। —संतवाणी 7
10. अगर शरीर नहीं रहता है, अगर वस्तु नहीं रहती है, तो इसका अर्थ यह है कि शरीर और वस्तु से परे जो जीवन है, उसमें आपका प्रवेश होता है। —संतवाणी 5
11. शरीर-रहित जीवन ही सच पूछिए जो जीवन है। शरीर-सहित जीवन तो जीवन की लालसा है। .... वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य जीवन का साधन है, जीवन नहीं। —संतवाणी 6
12. चाह-रहित होकर हम सब वर्तमान में ही वास्तविक जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। —संतवाणी 6
13. जो 'है', वही जीवन है। जीवन 'है' में है, 'नहीं' में नहीं है। —संतवाणी 5
14. श्रम-रहित होने से और विकार-रहित होने से जिस जीवन में प्रवेश होता है अथवा जिस जीवन के साथ अभिन्नता होती है, वही वास्तविक जीवन है। —संतवाणी 5
15. जिसको लोग जीवन कहते हैं, वह जीवन नहीं है। वह तो मृत्यु का ही दूसरा नाम है। एक अवस्था की मृत्यु को ही दूसरी अवस्था का जन्म कहते हैं। .... हरेक क्षण में परिवर्तन होता है। परिवर्तन का ही नाम मृत्यु है। अत: वह जीवन नहीं है। असली जीवन तो वह है, जिसमें मरने का डर नहीं है। —संत-सौरभ

16. 'जीवन' शब्द का अर्थ भी परमात्मा ही है। जीवन माने क्या ? जिसका नाश न हो, जिसमें चेतना हो, जो रसरूप हो। परमात्मा किसे कहते हैं ? जो सत् हो, चित् हो, आनन्द हो। तो जो 'परमात्मा' शब्द का अर्थ है, वही 'जीवन' शब्द का अर्थ है।

—संतवाणी 3

17. दर्शन अनेक यानी दृष्टिकोण अनेक, पर जीवन एक। जीवन अनेक नहीं है, जीवन एक है और वही जीवन हम सबको मिल सकता है, और उसी के लिए यह मानव-जीवन मिला है।

—संतवाणी 3

18. 'क्रिया' का जीवन ही पशु-जीवन है, 'भाव' का जीवन ही मानव-जीवन है और 'ज्ञान' का जीवन ही ऋषि-जीवन है।

—सन्त-समागम 2

19. जब तक परिवर्तनशील जीवन नित्य जीवन से अभिन्न न हो जाए, तब तक वर्णाश्रम के अनुसार संस्कार तथा चिह्न को धारण करना परम अनिवार्य है।

—सन्त-समागम 2

अपवित्र उपाय से पवित्र उद्देश्य-पूर्ति की आशा करना भूल है, क्योंकि की हुई अपवित्रता मिटाई नहीं जा सकती और उसके परिणाम से भी बचा नहीं जा सकता। अपितु अपवित्र उपाय का परिणाम पवित्र उद्देश्य को मलीन बना देगा। अतः पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्र उपाय का अनुसरण अनिवार्य है।

ज्ञान

1. ज्ञान का सर्वोत्तम साधन केवल विचार है। —संतपत्रावली 1
2. ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति अर्थात् वेद के ज्ञान का अवतरण होता है। उस ज्ञान के लिए किसी भाषा-विशेष की अपेक्षा नहीं है। —जीवन-पथ
3. 'पर' के द्वारा 'स्व' का बोध न किसी को हुआ है और न होगा। —मानव-दर्शन
4. ज्ञान असत् का होता है। प्राप्ति सत् की होती है। —मानव-दर्शन
5. यह नियम है कि असत् का ज्ञान असत् से असंग होने पर और सत् का ज्ञान सत् से अभिन्न होने पर ही होता है। —जीवन-दर्शन
6. जिसको आप जानना और समझना कहते हैं, वह तो सीखना है। आपने सीखा है, सुना है। न आपने जाना है, न समझा है। .... जानने का अर्थ है कि जब आप ठीक-ठीक जान लें कि सचमुच इतने बड़े संसार में मेरा कुछ है ही नहीं और मुझे कुछ नहीं चाहिए। —संतवाणी 7
7. बुद्धि का जो ज्ञान है, उसका 'प्रभाव' हो जाए जीवन में और इन्द्रिय के ज्ञान का 'उपयोग' हो जाए। —संतवाणी 4
8. रुचि-भेद से, योग्यता-भेद से, सामर्थ्य-भेद से बाह्य ज्ञान का प्रभाव एक-सा नहीं रहता; और जब तक प्रभाव एक-सा नहीं रहता, तब तक उसको निःसन्देहता नहीं कह सकते। तात्पर्य क्या निकला ? कि बाह्य ज्ञान के आधार पर हम सब निःसन्देह नहीं हो सकते। —संतवाणी 4
9. चाहे यहाँ बैठकर ज्ञान का आदर करो, गंगा किनारे बैठकर ज्ञान का आदर करो और चाहे उत्तराखण्ड में बैठकर करो। अगर आप

अपने ज्ञान का आदर नहीं करेंगे तो आपको सत्य नहीं मिल सकता। —संतवाणी 3

10. आजकल शास्त्रीय ज्ञान को, जो कि विश्वास है, लोग 'ज्ञान' कहते हैं। —जीवन-पथ

•11. हम सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम अपने जाने हुए से दूसरों को समझाने का प्रयास करते हैं। यह रोग जब तक रहेगा, बेसमझी उत्तरोत्तर बढ़ेगी। जब हम अपने जाने हुए से अपने ही को समझाएँगे, तो मेरा ऐसा विश्वास है कि अपने में से ही नहीं, विश्व में से भी बेसमझी चली जाएगी। —जीवन-पथ

•12. अल्प ज्ञान का दूसरा नाम अज्ञान है। अज्ञान का अर्थ 'ज्ञान का अभाव' नहीं है। —मानव की माँग

13. साधन रूप ज्ञान की परावधि प्रेम में है और साधन रूप भक्ति की परावधि साक्षात्कार में है। कारण कि जिसे जानते हैं, उससे प्रेम हो जाता है और जिसे मानते हैं, उसे जान लेते हैं।

—मानव की माँग

14. बोध रहता है, बोधवान् नहीं। जब तक यह भासित होता है कि मैं बोधवान् हूँ, तब तक किसी-न-किसी अंश में बोध से भिन्नता है। भिन्नता भेद को पुष्ट कर परिच्छिन्नता में आबद्ध करती है।

—मानव-दर्शन

15. जिसकी उपलब्धि निज-ज्ञान से सिद्ध होती है, उसके लिए कोई अभ्यास अपेक्षित नहीं होता। —साधन-निधि

•16. अपने जाने हुए का आदर करने पर सभी के ज्ञान का आदर हो जाता है। कारण कि ज्ञान में एकता है, भिन्नता नहीं।

—मूक सत्संग

17. अनुभव से पूर्व मान लेना आस्था है, ज्ञान नहीं। विकल्प-रहित आस्था ज्ञान के समान प्रतीत होती है। —मूक सत्संग

•18. असत् के ज्ञान में ही असत् के त्याग की सामर्थ्य निहित है। असत् का त्याग तथा सत् का संग युगपद है। ज्ञान असत् का ही होता है और संग सत् का होता है। सत् असत् का प्रकाशक है, और असत् का ज्ञान असत् का नाशक है। अत: असत् के ज्ञान से ही असत् की निवृत्ति होती है। —पाथेय

19. ज्ञान में प्रेम और प्रेम में ज्ञान ओत-प्रोत हैं। यदि ज्ञान और प्रेम का विभाजन हो जाए तो ज्ञान-रहित प्रेम 'काम' और प्रेम-रहित ज्ञान 'शून्यता' में आबद्ध करता है, जो अभावरूप है। वास्तव में ज्ञान और प्रेम का विभाजन सम्भव ही नहीं है। —मूक सत्संग

20. प्राकृतिक नियम के अनुसार इन्द्रिय-ज्ञान सेवा के लिए मिला है, सुखभोग के लिए नहीं और बुद्धि का ज्ञान त्याग के लिए मिला है, विवाद के लिए नहीं । —जीवन-दर्शन

21. जो साधक अपने ज्ञान का आदर नहीं करता, वह गुरु और ग्रन्थ के ज्ञान का भी आदर नहीं कर सकता। जैसे, जो नेत्र के प्रकाश का उपयोग नहीं करता, वह सूर्य के प्रकाश का भी उपयोग नहीं कर पाता। —जीवन-दर्शन

22. अपने प्रति होने वाली बुराइयों का ज्ञान जिस ज्ञान में है, वही ज्ञान मानव का वास्तव में पथ-प्रदर्शक है। —दर्शन और नीति

23. ज्ञान उसे नहीं कहते, जो जानने में आता है, अपितु उसे कहते हैं, जिससे जाना जाता है। जिससे जाना जाता है, वह किसी मस्तिष्क की उपज नहीं है अर्थात् ज्ञान कोई भौतिक तत्त्व नहीं है, अपितु अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व है। —सफलता की कुंजी

24. विज्ञान से प्राप्त सामर्थ्य का उपयोग यदि ज्ञानपूर्वक नहीं किया जाएगा तो विज्ञान अहितकर सिद्ध होगा, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। —सफलता की कुंजी

25. ज्ञान किसी कर्म का फल नहीं है। कारण कि बिना ज्ञान के कर्मानुष्ठान सिद्ध नहीं होता। जो कर्म की सिद्धि में हेतु है, वह कर्म का कार्य नहीं हो सकता। —दर्शन और नीति

26. जिस काल में बुद्धिजन्य ज्ञान इन्द्रियजन्य ज्ञान के प्रभाव को खा लेता है, उसी काल में समस्त कामनाएँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही निस्सन्देहता अपने-आप आ जाती है। —चित्तशुद्धि

27. ज्यों-ज्यों इन्द्रियजन्य ज्ञान का प्रभाव बढ़ता है, त्यों-त्यों वस्तुओं में सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता प्रतीत होने लगती है, जो कामनाओं को उत्पन्न करने मे समर्थ है। —चित्तशुद्धि

28. इन्द्रियों के ज्ञान से जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है, वही वस्तु बुद्धि के ज्ञान से उसी काल में वैसी नहीं प्रतीत होती। इन्द्रियाँ वस्तु में सत्यता एवं सुन्दरता का भास कराती हैं, पर बुद्धि का ज्ञान उन वस्तुओं में सतत परिवर्तन का दर्शन कराता है। —चित्तशुद्धि
29. चित्त की अशुद्धि की प्रतीति जिस ज्ञान से होती है, उसी ज्ञान में चित्त की शुद्धि का उपाय भी विद्यमान है और उस उपाय को चरितार्थ करने का सामर्थ्य भी उसी ज्ञान में है। —चित्तशुद्धि
30. अप्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य के लिए वे ही प्राणी चिन्तित रहते हैं, जो प्राप्त ज्ञान तथा सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करते। —चित्तशुद्धि
31. इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग निर्बलों की सेवा में और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग रागरहित होने में अर्थात् वस्तुओं की सत्यता और सुन्दरता के अपहरण में निहित है। —चित्तशुद्धि
32. जिस वस्तु को इन्द्रिय द्वारा जानते हो, उसी वस्तु को बुद्धि के द्वारा भी जानो। —चित्तशुद्धि
33. इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटते ही बुद्धि का ज्ञान उसी प्रकार मिट जाता है, जिस प्रकार औषध रोग को खाकर स्वत: मिट जाती है। .... बुद्धि के ज्ञान की आवश्यकता उसी समय तक रहती है, जिस समय तक इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव अंकित है। —चित्तशुद्धि
34. इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति दुराचारयुक्त और बुद्धि-ज्ञान के आधार पर की हुई प्रवृत्ति सदाचारयुक्त होती है। —चित्तशुद्धि
35. जो नहीं है, उससे तद्रूप होकर उसको जान नहीं सकता और जो है, उससे भिन्न होकर उसको जान नहीं सकता अर्थात् 'है' से अभिन्न होकर 'है' को प्राप्त करता है और जो नहीं है, उससे असंग होकर उसकी वास्तविकता को जान सकता है। —चित्तशुद्धि
36. यद्यपि बुद्धि और इन्द्रिय का ज्ञान भी ज्ञान-जैसा ही प्रतीत होता है; परन्तु इन्द्रिय या बुद्धि का ज्ञान सन्देहरहित नहीं होता अर्थात् बुद्धि या इन्द्रिय-ज्ञान के आधार पर प्राणी नि:सन्देह नहीं हो सकता।.......

विवेक बुद्धि और इन्द्रिय की अपेक्षा अलौकिक तत्त्व है अथवा यों कहो कि उस अनन्त का विधान है। —चित्तशुद्धि

37. जब आप ज्ञान के लिए और किसी को पसन्द न करेंगे, तब आपको ज्ञान अपने में मिल जाएगा। देखो, जिस प्रकार आप दर्पण में अपने मुख को देखते हैं, उसी प्रकार महात्माओं तथा किताबों में आप अपने शुद्ध ज्ञान को देखते हैं। —सन्त-समागम

38. बोध का प्रधान हेतु राग-रहित होना है; क्योंकि राग ही अबोध का कारण है। —सन्त-समागम 1

39. कर्म ज्ञान का साधन नहीं होता, बल्कि भोग का दाता होता है। —सन्त-समागम 1

40. ज्ञान के तीन स्थल हैं -इन्द्रियों का ज्ञान, बुद्धि का ज्ञान और बुद्धि से परे का ज्ञान। बुद्धि से परे के ज्ञान में सृष्टि नहीं है। त्रिपुटी उसमें नहीं है। त्रिपुटी वहाँ है, जहाँ इन्द्रियों और बुद्धि का ज्ञान है। जहाँ बुद्धि का ज्ञान है, वहाँ आस्था है, चिन्तन नहीं है, और जहाँ इन्द्रियों का ज्ञान है, वहाँ भोग है, योग नहीं है।

—सन्त-समागम 2

41. इन्द्रियों के ज्ञान से 'भोग' उत्पन्न होता है। बुद्धि के ज्ञान से 'योग' हुआ और स्वयं के ज्ञान से 'तत्त्वज्ञान' हुआ, और स्वयं ज्ञान वाला 'तत्त्ववेत्ता' हुआ। —सन्त-समागम 2

42. माना हुआ 'मैं' तथा माना हुआ 'मेरा' मिटने पर ही तत्त्वज्ञान हो सकता है। भक्त तथा जिज्ञासु दोनों में ही माना हुआ 'मैं' तथा माना हुआ 'मेरा' शेष नहीं रहता। —सन्त-समागम 2

43. असत्य द्वारा सत्य को जानने का प्रयत्न मत करो, प्रत्युत् असत्य को त्याग कर सत्य से अभिन्न हो जाओ। —सन्त-समागम 2

44. आवश्यकता से अधिक जानने तथा सुनने पर समझ को अजीर्ण हो जाता है। अत: जितना जाना हो, उतना कर डालो। जानकारी के अनुरूप जीवन होने पर जानकारी स्वयं बढ़ जाती है।
—सन्त-समागम 2

45. यह नियम है कि जब तक अपना ज्ञान अपने काम नहीं आता, तब तक अन्य के द्वारा सुना हुआ ज्ञान भी जीवन नहीं हो पाता।
—साधन-तत्त्व

46. जिस ज्ञान के द्वारा आप मुक्ति प्राप्त करने की साधना कर रहे हैं, उस ज्ञान का दाता तो मेरा प्रभु है। यदि आप ज्ञानस्वरूप हैं तो आपने पहले भूल क्यों की, जो कि आपको जिज्ञासु बनना पड़ा ?

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)5

47. जो शरीर की असलियत को देख लेगा, वह संसार की असलियत को भी समझ लेगा। जो अपने को देख लेता है अर्थात् मैं कौन हूँ, इसको जान लेता है, वह उस परमेश्वर को भी जान लेता है।

—संत-सौरभ

48. इन्द्रिय दृष्टि से जिन वस्तुओं में सत्यता और सुन्दरता प्रतीत होती है, बुद्धि दृष्टि से उन्हीं वस्तुओं में मलिनता और क्षणभंगुरता का दर्शन होता है, और विवेक दृष्टि से किसी ने उन प्रतीत होने वाली वस्तुओं के अस्तित्व का ही दर्शन नहीं किया; क्योंकि विवेक दृष्टि जड़ता से विमुख कर चिन्मयता से अभिन्न कर देती है। चिन्मय-साम्राज्य में किसी ने न तो काम को पाया और न श्रम को।

—चित्तशुद्धि

49. ज्ञान अनात्मा का होगा, आत्मा का नहीं होगा। हाँ, आत्मा की प्राप्ति होगी, आत्मा में प्रियता होगी।

—संतवाणी 5

50. सन्तों का ज्ञान, आप का ज्ञान, वेदों का ज्ञान-इनमें एकता है।

—संतवाणी 4

51. साइन्स सच पूछिये कर्म है, और आपने अनुवाद कर दिया -विज्ञान। जिसमें ज्ञान की गन्ध भी नहीं है, उसका नाम -विज्ञान ! .... जिसे आप 'साइन्स' कहते हैं, जिसका अनुवाद हिन्दी में 'विज्ञान' करते हैं, उसमें ज्ञान की गन्ध भी नहीं है। ...."तो विज्ञान है क्या ? बल है बल। बल जो होता है, वह हमेशा चेतना-शून्य होता है।

—संतवाणी 4

52. इन्द्रिय-ज्ञान से अनेक वस्तुएँ सत्य प्रतीत होती हैं, और बुद्धि-ज्ञान से अनेक वस्तुओं में एकता और परिवर्तन प्रतीत होता है, और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में समस्त वस्तुएँ अभावरूप हैं।

—संत-उद्‌बोधन

53. जो जिज्ञासु चैन से रहता है, वह जिज्ञासु नहीं है। जिज्ञासु के जीवन में सुख लेशमात्र नहीं रहता। सुखी प्राणी किसी प्रकार भी जिज्ञासु नहीं हो सकता। —सन्त-समागम 1

54. भूल न जानने में नहीं है, प्रत्युत् जाने हुए को न मानने में है। —चित्तशुद्धि

55. अनुभव से भिन्न कथन करना ही बोध में अबोध और अबोध में बोध का मिलाना है। .... अनुभव होने पर अपने से भिन्न कुछ शेष नहीं रहता, फिर कौन किसका कथन करे ? —सन्त-समागम 1

अपवित्र उपाय से पवित्र उद्देश्य-पूर्ति की आशा करना भूल है, क्योंकि की हुई अपवित्रता मिटाई नहीं जा सकती और उसके परिणाम से भी बचा नहीं जा सकता। अपितु अपवित्र उपाय का परिणाम पवित्र उद्देश्य को मलीन बना देगा। अतः पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्र उपाय का अनुसरण अनिवार्य है।

त्याग

1. एक शरीर को लेकर कुटिया के अन्दर बन्द कर दिया और हम त्यागी हो गए। तो मैं कहूँगा कि ऐसे तो तुम्हारे बाप भी त्यागी नहीं हो सकते। यदि पूछो, क्यों त्यागी नहीं हो सकते ? तो कहना होगा कि आपने अपना (अहम् का) तो त्याग किया नहीं। भाई मेरे, अगर त्याग करना हो तो अपना त्याग करो। और प्रेम करना हो तो सभी को प्रेम करो। और यदि अपने-आपका त्याग नहीं कर सकते तो आप संसार का कभी त्याग नहीं कर सकते। —प्रेरणा पथ
2. त्याग क्या है ? मैं शरीर और संसार से अलग हूँ। इसका फल क्या है ? अचाह होना, निर्मम होना और निष्काम होना।
—संत-उद्‌बोधन
3. त्याग का अर्थ है कि किसी वस्तु को अपना मत मानो। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से सम्बन्ध मत रखो। कर्म, चिन्तन एवं स्थिति किसी भी अवस्था में जीवन-बुद्धि मत रखो। किसी का आश्रय मत लो। किसी से सुख की आशा मत करो।
—संत-उद्‌बोधन
4. ममता, कामना और तादात्म्य के त्याग का नाम ही 'संन्यास' है।
—संत-उद्‌बोधन
5. केवल गृह-त्याग करने एवं वस्त्र रंगने मात्र से किसी को योग-बोध-प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह त्याग नहीं वरन् त्याग के भेष में अपने कर्तव्य से पलायन करना है।
—संत-उद्‌बोधन
6. मानव का अपना हित तो त्याग में है। —मानव-दर्शन
7. जब अपना करके अपने में कुछ है ही नहीं, तो त्याग कैसा ! और जो वस्तु जिसकी है, उसे मिल गयी, तो सेवा कैसी !
—साधन-निधि

8. अनेक प्रिय वस्तुएँ स्वरूप से छूट चुकी हैं; किन्तु उनकी सुन्दरता और चाह बाकी है। इसलिए वस्तुओं के त्याग का फल कुछ नहीं मिलता। वास्तव में तो चाह का त्याग ही त्याग है।
—संतपत्रावली 1

9. जो बिना किए हो, वही सच्चा त्याग है; क्योंकि सच्चा त्याग करना नहीं पड़ता, हो जाता है। —संतपत्रावली 1

10. किसी भी वस्तु को अपना मत समझो। बस, यही त्याग है। किसी वस्तु तथा व्यक्ति से अलग होने मात्र से त्याग नहीं हो जाता। अपना न मानने से त्याग होता है। —संतपत्रावली 2

11. विवेकपूर्वक ममता, कामना तथा तादात्म्य का त्याग ही वास्तविक, जाने हुए असत् का त्याग है। —पाथेय

12. यह कैसी विडम्बना है कि जिसका त्याग स्वतः हो रहा है, उसके त्याग में भी असमर्थता प्रतीत होती है। इस असमर्थता के मूल में छिपी हुई सुख-लोलुपता है, जो एकमात्र दुःख के प्रभाव से ही मिटती है। —दुःख का प्रभाव

13. प्रिय-से-प्रिय वस्तु तथा व्यक्ति का त्याग गहरी नींद के लिए भला किसने नहीं किया ? —दुःख का प्रभाव

14. जो हमारे बिना रह सकता है, जो बराबर हमारा त्याग कर रहा है, उससे सम्बन्ध बनाये रखना कठिन है या उसका त्याग ?
—सफलता की कुंजी

15. अकर्तव्य को अकर्तव्य जानकर ही उसका त्याग करना चाहिए। किसी भय से भयभीत होकर अकर्तव्य का त्याग कुछ अर्थ नहीं रखता, प्रत्युत् मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो अनर्थ का मूल है। —चित्तशुद्धि

16. मृत्यु और त्याग का स्वरूप एक है, और परिणाम में ही भेद है। मृत्यु का परिणाम जन्म है, और त्याग का परिणाम अमरत्व है। .... मृत्यु तो वस्तु का नाश करती है, और त्याग वस्तु के सम्बन्ध का नाश करता है। —चित्तशुद्धि

17. यदि कोई साधक अपने को सेवा करने में असमर्थ मानता है तो उसे त्याग को अपना लेना चाहिए। त्याग के अपना लेने पर सेवा, पूजा तथा प्रेम का सामर्थ्य स्वतः आ जाता है। —चित्तशुद्धि

18. शरीर आदि किसी भी वस्तु को अपना न मानना और किसी से भी किसी प्रकार भी सुख की आशा न करना अर्थात् चाह-रहित होना अथवा यों कहो कि 'अहम्' और 'मम' का अन्त करना ही त्याग का वास्तविक रूप है। —चित्तशुद्धि
19. ईश्वर, धर्म और समाज किसी के ऋणी नहीं रहते। जो इनके लिए त्याग करते हैं, उनका ये अवश्य निर्वाह करते हैं। —सन्त-जीवन-दर्पण
20. सभी सत्य की खोज करने वालों ने त्याग किया है। —सन्त-समागम 1
21. त्याग क्रिया नहीं है, बल्कि असंगता है। —सन्त-समागम 1
22. त्याग वर्तमान में और कर्म भविष्य में फल देता है। —सन्त-समागम 1
23. जो नित्य आनन्द केवल त्याग से प्राप्त होता है, उसके लिए भविष्य की आशा करना एकमात्र प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ अर्थ नहीं रखता। —सन्त-समागम 2
24. त्याग स्वत: उत्पन्न होने वाली वस्तु है। —सन्त-समागम 2
25. त्याग कुल का होता है, जुज़ का नहीं। —सन्त-समागम 2
26. जिसकी दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर है, जिसका चित्त बिना आधार के शान्त है एवं जिसका प्राण बिना निरोध के सम है, उसी को गृह-त्याग का अधिकार है। —सन्त-समागम 2
27. सद्भावपूर्वक मोह-जनित सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर 'मैं भगवान् का हूँ' -इस भाव में सत्यता आ जाती है; क्योंकि किसी का त्याग किसी की एकता हो जाती है। —सन्त-समागम 2
28. मोहयुक्त क्षमा और क्रोधयुक्त त्याग निरर्थक है। —सन्त-समागम 2
29. त्याग हो जाने पर त्याग का भास नहीं रहता; क्योंकि त्याग की स्मृति अथवा उसका अस्तित्व तभी तक प्रतीत होता है, जब तक त्याग होता नहीं। —साधन-तत्त्व
30. सम्बन्ध-विच्छेद से किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की क्षति नहीं होती और न प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा में ही बाधा होती है। —साधन-तत्त्व

31. त्याग संसार के चढ़ाव की ओर ले जाता है और कर्म संसार के बहाव की ओर ले जाता है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

32. शरीर और संसार के छोड़ने का प्रश्न नहीं है, प्रश्न है कि शरीर और संसार से हमारा सम्बन्ध न रहे। —संतवाणी 8

33. यह नियम है कि जिसको जो देना है, वह देने पर और जिससे लेना है, उससे न लेने पर अपने-आप सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। —चित्तशुद्धि

34. त्याग से बढ़कर सुलभ और कोई साधन है क्या दुनिया में ? त्याग किसका करना है ? जो आपके बिना भी रहता है और जो आपका त्याग करता है। .... त्याग करने वाले का राग कठिन है कि त्याग करने वाले का त्याग कठिन है ? —संतवाणी 7

जिस कार्य का सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके बिना किए किसी प्रकार रह न सकें, जिसके सम्पादन के साधन उपलब्ध हों, जिससे किसी का अहित न हो, ऐसे सभी कार्य आवश्यक कार्य हैं। आवश्यक कार्य को पूरा न करने से और अनावश्यक कार्य का त्याग न करने से, कर्त्ता उद्देश्य-पूर्ति में सफल नहीं होता। अतः मानवमात्र को अनावश्यक कार्य का त्याग और आवश्यक कार्य का सम्पादन करना अनिवार्य है।

धन

1. धन के संग्रह से कोई निर्धनता मिट जाए -यह बात नहीं है।

—संतवाणी 5

2. जब तक भौतिक मन में 'अर्थ' का महत्त्व है, तब तक उसका अपव्यय मन में खटकता है और उसकी प्राप्ति सुखद प्रतीत होती है।

—पाथेय

3. क्या कर्ज बाँटने वाला गरीब नहीं है ? कर्ज लेने वाला ही गरीब है क्या ? सोचो जरा ईमानदारी से।

—संतवाणी 8

4. कुछ लोग तो यही घमण्ड करते हैं कि हमारे पास सम्पत्ति सबसे अधिक है। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि हम में बेसमझी सबसे अधिक है। विचारं करें, सम्पत्ति के आधार पर जो तुम्हारा महत्त्व है, शायद उससे अधिक बेसमझी और कहीं नहीं मिल सकती।

—संतवाणी 7

5. कम-से-कम एक सप्ताह के लिए मानव को नौकरों की दासता से मुक्त रहना चाहिए। ..... कुछ लोग अर्थ के अधीन श्रम का अनादर कर रहे हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि आज कार्यकुशलता दिन-पर-दिन घटती जा रही है। लोग काम करने को अच्छा नहीं मानते। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि अर्थ का महत्त्व बढ़ गया है, जिसने मानव-समाज में संग्रह की रुचि उत्पन्न कर दी है। संग्रह अभिमान तथा विलास को जन्म देता है, जो विनाश का मूल है।

—पाथेय

6. समाज का वह वर्ग जो उपार्जन करने में असमर्थ है, उसी के निमित्त परिग्रह करना आवश्यक है, चाहे उस पर अधिकार व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रगत।

—मानव-दर्शन

7. संग्रह का अधिकार उन्हीं लोगों को है, जो अपने लिए संग्रह नहीं करते।

—मानव-दर्शन

8. व्यक्तिगत सुखभोग के लिए ही परिग्रह के त्याग की बात है।
—मानव-दर्शन

9. सिद्धान्ततः सम्पत्ति न राष्ट्रगत है, न व्यक्तिगत। संग्रहीत सम्पत्ति उन्हीं का भाग है, जो रोगी, बालक तथा सेवा-परायण हैं एवं सत्य की खोज में रत हैं। —मानव-दर्शन

10. आर्थिक कमी होने पर भी आवश्यक कार्य स्वतः हो जाते हैं। बुद्धि-जन्य विधान के न रहने पर वह अपने-आप हो जाएगा, जो होना चाहिए। —पाथेय

11. रोगी, वृद्ध एवं बालक तथा विरक्त संग्रहीत सम्पत्ति के अधिकारी हैं। —पाथेय

12. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक एवं विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना अनिवार्य है। —मानव की माँग

13. आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन शारीरिक और बौद्धिक श्रम तथा प्राकृतिक मूल पदार्थों के द्वारा ही होता है। किसी सिक्के से किसी भी वस्तु का सम्पादन नहीं होता। —दर्शन और नीति

14. यदि सिक्के का महत्त्व न रहे तो मानव-समाज में से आलस्य, विलास एवं अकर्मण्यता तो बहुत ही कम हो जाए।
—दर्शन और नीति

15. श्रम को सिक्के में बदलने से श्रम का महत्त्व नहीं बढ़ता।
—दर्शन और नीति

16. यदि सिक्के का महत्त्व मानव के जीवन से मिट जाए तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक परस्पर एकता स्थापित हो सकती है।
—दर्शन और नीति

17. सिक्के की उपयोगिता एकमात्र सुविधापूर्वक वस्तुओं के आदान-प्रदान में है। वास्तव में तो जीवन में सिक्के की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जीवन में आवश्यकता वस्तु की है।
—दर्शन और नीति

18. निर्धन वह है, जिसे दूसरे का धन अधिक दिखाई देता है और अपना धन कम दिखाई देता है। —सन्त-समागम 2

19. आलस्य, अकर्मण्यता तथा अभिमान के पोषण में सिक्के का बहुत बड़ा हाथ है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

20. जिसके पास धन न हो, उसे दान करने का संकल्प नहीं उठने देना चाहिए। .... दान तो संग्रह करने का टैक्स है।

—सन्त-सौरभ

21. सट्टे के व्यापार में जुए की भाँति किसी एक का नुकसान ही दूसरे का लाभ होता है। इस बात को सभी जानते हैं कि सट्टे में धन बाहर से नहीं आता। सट्टा करने वालों में ही एक का नुकसान और दूसरे का लाभ होता है। सट्टा करने वाले सभी लाभ की आशा से करते हैं; परन्तु सबको लाभ नहीं हो सकता। इस व्यापार में किसी का दुःख ही दूसरे का सुख है। अतः यह व्यापार उचित नहीं है।

—संत-सौरभ

22. सिक्के से वस्तुओं का, वस्तु से व्यक्तियों का, व्यक्तियों से विवेक का और विवेक से उस नित्य जीवन का, जो परिवर्तन से अतीत है, अधिक महत्त्व है।

—सन्त-समागम 2

23. बाहर से जितना इकट्ठा करोगे, उतने ही भीतर से गरीब होते चले जाओगे।

—संतवाणी 8

24. धन का संग्रह करने की सामर्थ्य जिसमें होती है, उसमें धन का सदुपयोग करने की योग्यता नहीं होती। ऐसा नियम ही है। यदि सदुपयोग करना आ जाए तो वह संग्रह कर ही नहीं सकता।

—संतवाणी 7

विवेक-विरोधी कर्म किसी भी परिस्थिति में नहीं करना है। किन्तु यदि कोई ऐसा कार्य है, जो किसी व्यक्ति-विशेष के लिए आवश्यक है, पर जिस समूह में व्यक्ति रहता है, उस समूह के व्यावहारिक नियम के प्रतिकूल है, तो ऐसी परिस्थिति में समूह के बहुमत द्वारा व्यक्ति-विशेष अधिकार की रक्षा करना आवश्यक है।

धर्म

1. जिस प्रवृत्ति में त्याग तथा प्रेम भरपूर है, वही वास्तव में धर्म है।
—सन्त-समागम 2
2. जो प्रवृत्ति धर्मानुसार की जाती है, उसमें भाव का मूल्य होता है, क्रिया का नहीं। भाव को मिटाकर केवल क्रिया को स्थान देना पशुता है। —सन्त-समागम 2
3. धर्म का मतलब यह है कि जो नहीं करना चाहिए, उसको छोड़ दो तो जो करना चाहिए, वह होने लगेगा। —संतवाणी 5
4. आप जानते हैं, मजहब की आवश्यकता क्यों होती है ? अपने जाने हुए असत् का त्याग करने के लिए। —जीवन-पथ
5. धर्म एक है, अनेक नहीं। जिस प्रकार रेलवे स्टेशन पर मुसलमान के हाथ में होने से 'मुसलमान पानी' और हिन्दू के हाथ में होने से 'हिन्दू पानी' कहलाता है, यद्यपि बेचारा पानी न तो हिन्दू होता है, न मुसलमान, उसी प्रकार जब लोग धर्मात्मा को किसी कल्पना में बाँध लेते हैं, तब उसके नाम से उस धर्म को कहने लगते हैं।
—सन्त-समागम 1
6. वास्तव में तो धर्म वह है, जो करने में आए, कहने में नहीं।
—सन्त-समागम 1
7. धर्म का मूलमन्त्र केवल दो बातें सिखाता है -किसी के ऋणी बन कर मत रहो, और प्रत्येक कार्य विश्व के नाते अथवा भगवान् के नाते करते रहो। —सन्त-समागम 2
8. जिस प्रकार लिपि अर्थ को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक धार्मिक चिह्न मूक भाषा में स्वधर्मनिष्ठ होने के लिए प्रेरित करता है। —सन्त-समागम 2
9. सभी बन्धन प्राणी में उपस्थित हैं, परिस्थिति में नहीं। प्रतिकूल परिस्थिति का भय नास्तिक अर्थात् धर्मरहित प्राणियों को होता है।

धर्मात्मा प्रतिकूल परिस्थिति से डरता नहीं, प्रत्युत् उसका सदुपयोग करता है। —सन्त-समागम 2

10. धर्म प्राणी के छिपे हुए बन्धनों को प्रकाशित कर निकालने का प्रयत्न करता है, किसी नवीन बन्धन को उत्पन्न नहीं करता। —सन्त-समागम 2
11. धर्म थोड़ा लेकर बहुत देना सिखाता है। जिसमें ऐसा बल नहीं है, उसमें धर्म नहीं रहता। —सन्त-समागम 2
12. धर्मानुसार की हुई प्रवृत्ति स्वाभाविक निवृत्ति उत्पन्न कर देती है। —सन्त-समागम 2
13. आप को उपहार-स्वरूप श्रीरामायण इसलिए दी जाती है कि आपकी प्रत्येक प्रवृत्ति धर्मानुसार सरस तथा मधुर हो। —सन्त-समागम 2
14. धर्म की पूर्णता तब सिद्ध होती है, जब अपनी प्रसन्नता के लिए संसार की ओर नही देखता, प्रत्युत् संसार की प्रसन्नता का साधन बन, अपने ही में अपने प्रीतम को पाकर, नित्य जीवन एवं नित्य रस पाता है। —सन्त-समागम 2
15. जिसे पूरा करने की स्वाधीनता हो, जिसका वर्तमान से सम्बन्ध हो, जिससे किसी का अहित न हो, उसको आवश्यक कार्य कहते हैं, उसको कर्तव्य कहते हैं, उसको धर्म कहते हैं। —संतवाणी 8
16. धर्म माने संसार के काम आ जाओ। और संसार के काम कैसे आओगे ? इस सत्य को स्वीकार करो कि मन से, वाणी से और कर्म से कभी किसी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा। —संतवाणी 8
17. धर्म तो उसे कहते हैं, जो निषेधात्मक हो। जो विध्यात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, वे मत, मजहब और सम्प्रदाय कहलाते हैं। .... जैसे, मैं किसी को हानि नहीं पहुँचाऊँगा -यह धर्म हो गया और किस-किस प्रकार से दूसरों को लाभ पहुँचाऊँगा—यह मजहब हो गया। —संतवाणी 8
18. जिसमें सब एकमत हों, वह 'धर्म' कहलाता है और जिसमें भेद हो, वह 'मजहब' कहलाता है। मजहब व्यक्तिगत सत्य होता है और धर्म सार्वभौम सत्य होता है। —संतवाणी 8
19. मानव मात्र का धर्म भिन्न नहीं हो सकता। मानव मात्र का धर्म एक ही है। —संतवाणी 8

ध्यान

1. ध्यान से मन इसलिए ऊबता है कि तुम 'करते हो', 'होता' नहीं ध्यान।

—संतवाणी 3

2. जगत् की स्मृति को सत्ता देकर आप प्रभु का ध्यान करना चाहते हैं, जो सर्वथा असम्भव है। दया करें अपने पर और ध्यान का प्रयत्न छोड़ दें, तब ध्यान अपने-आप ही हो जाएगा। इसका अर्थ उल्टा मत लगा लेना। ध्यान करना छोड़ें उसका, जिसमें ममता है।

—जीवन-पथ

3. ध्यान क्या है ? जिसकी जरूरत होती है, उसका ध्यान अपने-आप होता है।

—संत-उद्बोधन

4. ध्यान किसका होगा ? जिसकी आवश्यकता आप अनुभव करोगे। जिसकी स्मृति ज़गेगी, उसका ध्यान होगा। स्मृति उसकी जगेगी, जिसको आप अपना मानोगे। तो एकदम ध्यान कैसे कर लोगे ? पहले तो यह देखो कि जिसका आप ध्यान करना चाहते हैं, वह आपका अपना है या नहीं, वह अभी है या नहीं ?

—संत-उद्बोधन

5. ध्यान किसी का नहीं करना है। किसी का ध्यान नहीं करोगे तो परमात्मा का ध्यान हो जाएगा। और किसी का ध्यान करोगे तो वह फिर किसी और का ही ध्यान मात्र रह जाएगा।

—संत-उद्बोधन

6. क्या वह ध्यान भी कोई ध्यान है, जिससे उत्थान हो जाए ? यदि ध्यान में अनन्त का दर्शन होता है तो ध्यान के उत्थान में किसका दर्शन होता है ? क्या अनन्त से भिन्न किसी और की सत्ता है ? कदापि नहीं। जिसे हम ध्यान में देखते हैं, उसी को हमें ध्यान से

उत्थान होने पर भी देखना है। तभी ध्यानी का ध्यान अखण्ड होगा और उसे सर्वत्र अपने प्रीतम का ही अनुभव होगा।

—जीवन-दर्शन

7. ध्यान किया नहीं जाता, बल्कि हो जाता है। —सन्त-समागम 1
8. जिस मन से शरीर आदि वस्तुओं का ध्यान निकल जाता है, उस मन में भगवद्ध्यान स्वतः होने लगता है। —सन्त-समागम 2
9. आवश्यकता और अपनापन ध्यान का मूल है। आँख बन्द करके बैठना अथवा अकड़कर बैठना ध्यान का मूल नहीं है।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए कर डालो। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन करने से वर्तमान कार्य में सफलता न होगी और उसके हुए बिना भविष्य भी उज्ज्वल नहीं रहेगा। अतः वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म पूरा करना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

न्याय

1. अन्याय का वास्तविक प्रतिकार अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम से ही होगा। —साधन-निधि
2. कभी भी किसी से न्याय तथा प्रेम की आशा नहीं करनी चाहिए, अपितु स्वयं अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति उदारता तथा प्रियता का व्यवहार करना चाहिए। —संतपत्रावली 2
3. अपने पर किसी अन्य न्यायाधीश की आवश्यकता अपने प्रति न्याय न करने से होती है। कोई भी न्यायाधीश अन्य के प्रति यथेष्ट न्याय नहीं कर सकता अर्थात् दोष के अनुरूप न्याय नहीं कर पाता। यही कारण है कि शासन-प्रणाली के द्वारा समाज में निर्दोषता की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। —दर्शन और नीति
4. यह सभी को मान्य होगा कि दो व्यक्तियों की भी बनावट सर्वांश में एक-सी नहीं है। इस कारण किसको कितने दण्ड से कितना दुःख होता है, इसका निर्णय कोई भी न्यायाधीश कर नहीं सकता। —दर्शन और नीति
5. प्रत्येक मानव को अपने प्रति स्वयं न्याय करना होगा। न्याय का अर्थ किसी का विनाश करना नहीं है, अपितु किये हुए अपराध की पुनः उत्पत्ति ही न हो, यही न्याय की सफलता है। —दर्शन और नीति
6. वह न्याय 'न्याय' नहीं है, जो अपराधी को निरपराध बनाने में समर्थ न हो। —दर्शन और नीति
7. माँ-बाप की गोद में बच्चों का वास्तविक विकास सम्भव नहीं है; क्योंकि माँ-बाप से प्यार तो मिलता है; किन्तु न्याय नहीं, और नौकरों के द्वारा न्याय मिलता है, प्यार नहीं। बालक का यथेष्ट विकास तभी सम्भव है, जब उसका पालन प्यार तथा न्यायपूर्वक किया जाय। —सन्त-समागम 2

8. संसार से न्याय तथा प्रेम की आशा मत करो; परन्तु अपनी ओर से न्याय तथा प्रेम-युक्त व्यवहार करते रहो। —सन्त-समागम 2
9. वास्तविक न्याय किसी अन्य के द्वारा कभी भी सम्भव नहीं है अत: प्रत्येक भाई-बहन को अपने प्रति अपने द्वारा न्याय करना अनिवार्य है। —मानवता के मूल सिद्धान्त
10. न्याय का अर्थ किसी को दण्डित करना नहीं है, अपितु अपराधी स्वयं अपने अपराध को जान निरपराधी होने के लिए तत्पर हो जाए। यही वास्तविक न्याय है। —मानवता के मूल सिद्धान्त
11. जिस प्रकार राष्ट्र का प्रतीक न्याय है, उसी प्रकार मत सम्प्रदाय का प्रतीक प्रेम है। किसी पद्धति का राष्ट्र हो उससे 'न्याय' की ही आशा की जाती है जैसे कोई भी सम्प्रदाय हो, उससे प्रेम की ही आशा की जाती है।

प्रत्येक कार्य पवित्र भाव से भावित तथा निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो, तभी कार्य में सरसता आएगी और कर्त्ता करने के राग से रहित होगा। अतः प्रत्येक कार्य सावधानीपूर्वक, पवित्र भाव से करना अनिवार्य है।

परदोषदर्शन

1. हम न बिगड़ते तो दुनिया न बिगड़ती यानी दुनिया में बुराई नहीं दीखती। हमारी ही बुराई दुनिया में दिखाई देती है, ऐसा मैं मानता हूँ। —संतवाणी 3
2. अगर आप यह चाहते हैं कि कोई बुरा न रहे तो उसका सुगम उपाय है कि आप किसी को बुरा न समझें। —संतवाणी 5
3. सबसे बड़ी सेवा, अपनी और दूसरों की, इसी में है कि हम किसी को बुरा न समझें। —संतवाणी 6
4. दुनिया का सबसे बड़ा आदमी वही हो सकता है, जो किसी को बुरा नहीं समझता। दुनिया का सबसे बड़ा आदमी वह भी हो सकता है, जो किसी से सुख की आशा नहीं करता और अपने दु:ख का कारण किसी और को नहीं मानता। —संतवाणी 6
5. जिसको आप जैसा समझेंगे, जैसा सोचेंगे, जैसा मानेंगे, वैसा वह हो जाएगा। इससे क्या सिद्ध हुआ ? हम किसी को बुरा न समझें। —संतवाणी 5
6. जो किसी को बुरा समझता है, वह उससे ज्यादा बुरा है, जो बुराई करता है। —प्रेरणा पथ
7. मेरा यह विश्वास है और अनुभव है कि आँखों देखी बुराई के विषय में भी कोई व्यक्ति सही अर्थ में निर्णय नहीं कर सकता कि उसमें बुराई का अंश कितना है। —प्रेरणा पथ
8. कभी-कभी तो जैसा हमें दिखाई देता है, वास्तविकता उसके विपरीत होती है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि देखने तथा सुनने मात्र से ही किसी को दोषी मान लेना न्यायसंगत नहीं है। —मानव की माँग
9. बुराई करना छोटी बुराई है, दूसरों का बुरा चाहना उससे बड़ी बुराई है और किसी को बुरा समझना सबसे बड़ी बुराई है। —साधन-त्रिवेणी

10. दूसरों को बुरा समझने से अपने में बुराई उत्पन्न हो जाती है।
—साधन-निधि

11. अधिकतर तो सुनकर अथवा अनुमान मात्र से ही दूसरों को बुरा समझ लिया जाता है। इतना ही नहीं, इन्द्रिय-दृष्टि से किसी की वास्तविकता का बोध ही नहीं होता।
—साधन-निधि

12. बुरे-से-बुरे प्राणी को भी बुरा मत समझो। —संतपत्रावली 1

13. जिस समय अपने दोष का दर्शन हो जाए, समझ लो कि तुम जैसा विचारशील कोई नहीं। और जिस समय परदोष-दर्शन हो जाए, उस समय समझ लो कि हमारे जैसा कोई बेसमझ नहीं।
—प्रेरणा-पथ

14. जिस ज्ञान से हम दूसरों के दोष देखते हैं, उसी ज्ञान से हम अपने दोष देखें और उनका त्याग कर दें। बस, यही ज्ञान का मतलब है।
—संतपत्रावली 2

15. अपने में गुणों का भास होना तो अपने लिए अनुपयोगी होना है। कारण कि गुणों का आश्रय लेकर अहंभाव-रूपी अणु पोषित होता है और गुणों का भास परदोष-दर्शन को जन्म देता है, जो विनाश का मूल है।
—साधन-निधि

16. भूतकाल के दोषों के आधार पर किसी को दोषी मानना उसके प्रति घोर अन्याय है। इतना ही नहीं, यदि वह स्वयं अपने को दोषी माने, तब भी उसे यही प्रेरणा देना है कि यदि तुम भूतकाल के दोषों को इस समय नहीं दोहरा रहे हो, तो निर्दोष हो।—पाथेय

17. अपना गुण और पराया दोष देखने के समान और कोई दोष नहीं है।
—दुःख का प्रभाव

18. पराये दोष देख प्राणी अपने दोषों को सहन करता रहता है। इस कारण परदोष-दर्शन का बड़ा ही भयंकर परिणाम यह होता है कि दोषदर्शी निज दोषों से व्यथित नहीं होता। —दुःख का प्रभाव

19. परदोष-दर्शन करते हुए गुणों का अभिमान गल नहीं सकता।
—जीवन-दर्शन

20. मानव कोटि का कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो जन्मसिद्ध निर्दोष हो। सभी दोषों का मूल एकमात्र राग है और जन्म का हेतु भी राग

है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि किसी को जन्मसिद्ध निर्दोष मानना सम्भव नहीं है। निर्दोषता तो साधनयुक्त जीवन का फल है। —जीवन-दर्शन

21. बड़े-से-बड़ा दोषी निर्दोष हो सकता है; परन्तु परदोषदर्शी का निर्दोष होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। —जीवन-दर्शन

22. अपने दोष का स्पष्ट ज्ञान उन्हीं को होता है, जो परदोषदर्शन नहीं करते। इतना ही नहीं, यदि कोई स्वयं अपना दोष स्वीकार करे, तब भी वे यही कहते हैं कि तुम वर्तमान में तो निर्दोष ही हो। यदि भूतकाल में कोई भूल हुई है तो उसे अब मत करना। —दर्शन और नीति

23. दूसरे को बुरा समझना अपने को बुरा बनाने में मुख्य हेतु है। —दर्शन और नीति

24. वैरभाव के समान और कोई अपना वैरी नहीं है, जिसकी उत्पत्ति दूसरों को बुरा समझने से होती है। अत: किसी को बुरा समझना अपना बुरा करना है। —दर्शन और नीति

25. महापुरुषों के दोष नहीं देखने चाहिएँ। पहाड़ का गड्ढा भी जमीन से ऊँचा होता है। —सन्त-जीवन-दर्पण

26. जो किसी को भी दोषी मानता है, वह स्वयं निर्दोष नहीं हो सकता। अपनी निर्दोषता सुरक्षित रखने के लिए सभी में निर्दोषता का दर्शन करना होगा। —दर्शन और नीति

27. अपने तथा पराए दोष देखने में एक बड़ा अन्तर यह है कि पराए दोष देखते समय हम दोषों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, जिससे कालान्तर में स्वयं दोषी बन जाते हैं। पर अपना दोष देखते समय हम अपने को दोषों से असंग कर लेते हैं, जिससे स्वत: निर्दोषता आ जाती है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

28. परदोषदर्शन का त्याग किये बिना निर्दोषता के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं हो सकता। —दर्शन और नीति

29. अपने गुण और पराए दोष न देखने पर ही सेवा तथा प्रीति की अभिव्यक्ति होती है। अत: अपने गुण तथा दूसरों के दोष देखना संघर्ष का मूल है। —दर्शन और नीति

30. किसी को बुरा समझना किसी भी बुराई से कम बुराई नहीं है, अपितु सभी बुराइयों से बड़ी भयंकर बुराई है। किसी को बुरा न समझने का अर्थ यह नहीं है कि आप उसे श्रद्धास्पद बना लें। उसका अर्थ केवल इतना है कि उसे सर्वांश में दोषी न मानें और उसकी वर्तमान निर्दोषता पर अपनी दृष्टि रखें। उससे ऐसा व्यवहार करें कि वह स्वयं अपने दोष को भली भाँति जान ले और उसे न दुहराने के लिए वह स्वयं दृढ़तापूर्वक तत्पर हो जाए।

—दर्शन और नीति

31. जब हम परदोष-दर्शन न करके अपने ही दोष को देखें और उसके मिटाने का उपाय जानकर उसे अपने जीवन में चरितार्थ करें, तभी हम अपने नेता, गुरु तथा शासक हो सकते हैं।

—मानव की माँग

32. किसी भी की हुई, सुनी हुई, देखी हुई बुराई के आधार पर अपने को अथवा दूसरे को सदा के लिए बुरा मान लेने से चित्त अशुद्ध हो जाता है। बुराई-काल में कर्ता भले ही बुरा हो, पर उससे पूर्व और उसके पश्चात् बुरा नहीं है। फिर भी उसे बुरा मानते रहना उसके प्रति घोर अन्याय है। प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी में बुराई की स्थापना करना उसे बुरा बनाना है और अपने प्रति बुराई के आने का बीज बोना है। —चित्तशुद्धि

33. अपने दोष का दर्शन अपने को निर्दोष बनाने में समर्थ है और परदोष-दर्शन अपने को दोषी बनाने में हेतु है। —चित्तशुद्धि

34. समस्त दोषों की भूमि गुण का अभिमान है। परदोषदर्शन से उसमें नित नव वृद्धि होती है और व्यक्तिगत दोष के दर्शन से गुण का अभिमान गल जाता है। —चित्तशुद्धि

35. मानव में दोष-दर्शन की दृष्टि स्वतः विद्यमान है, पर प्रमादवश प्राणी उसका उपयोग अपने जीवन पर न करके अन्य पर करने लगता है, जिसका परिणाम बड़ा ही भयंकर एवं दुःखद सिद्ध होता है। पराए दोष देखने से सबसे बड़ी हानि यह होती है कि प्राणी अपने दोष देखने से वंचित हो जाता है और मिथ्याभिमान में आबद्ध हो कर हृदय में घृणा उत्पन्न कर लेता है।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

परमात्मा

1. अगर परमात्मा के मानने वालों को परमात्मा की याद नहीं आती, और करनी पड़ती है -यह कोई कम दु:ख की बात है ? यह कम आश्चर्य की बात है ? अरे, मरे हुए बुजुर्गों की याद आती है आपको, गए हुए धन की याद आती है आपको ! तो परमात्मा इतना घटिया हो गया कि उसकी याद आपको करनी पड़े ? .... याद नहीं आती है इसलिए कि आप उसे अपना नहीं मानते।
—संतवाणी 5

2. हम परमात्मा से कभी अलग हुए नहीं, हो सकते नहीं और शरीर से हमारा मिलन हुआ नहीं, हो सकता नहीं। —संतवाणी 7

3. जो बलपूर्वक शासन करे, उसे ईश्वर नहीं कहते । ईश्वर बलपूर्वक शासन नहीं करता किसी पर। —प्रेरणा-पथ

4. आप ऐसा मत सोचिए कि ईश्वर ऐसा ईश्वर है कि जो उसको मानता है, उसका तो दु:ख नाश करता है और जो उसको नहीं मानता, उसका दु:ख नाश नहीं करता है। —जीवन-पथ

5. उनके देने का ढंग कितना अलौकिक है कि जिसे जो देते हैं, उसे वह अपना ही मालूम होता है। क्या उनकी उदारता का यह उपयोग किया जाए कि हम सुने हुए प्रभु में आस्था नहीं करेंगे ? जाना हुआ तुम्हारे काम आया नहीं, सुने हुए में आस्था की नहीं और अकेले अपने में ही सन्तुष्ट रह पाते नहीं। तो ऐसी दशा में जो दुर्गति होती है, क्या किसी से छिपी है ? —जीवन-पथ

6. परमात्मा को 'अभी' न मानना बड़ी भारी भूल होगी, 'अपना' न मानना उससे बड़ी भूल होगी, और 'अपने में' न मानना सबसे बड़ी भूल होगी। —साधन-त्रिवेणी

7. अगर अपनी चाह को मानते हैं तो प्रभु को नहीं मानते, और प्रभु को मानते हैं तो चाह-रहित होना ही पड़ेगा। —जीवन-पथ

8. परमात्मा 'माना' जाता है, 'जाना' नहीं जाता। माना हुआ वह परमात्मा माना हुआ नहीं रहता, प्राप्त हो जाता है।

—संत-उद्बोधन

9. यदि आपके पास अपना करके कुछ है तो आप भगवान् को अपना नहीं कह सकते। —संत-उद्बोधन

10. याद रहे, और कुछ भी अपना है और परमात्मा भी अपना है -ये दोनों बातें एक साथ नहीं होतीं। जब तक हम और कुछ भी अपना मानते हैं, तब तक तो मुख से कहते हुए भी हमने सच्चे हृदय से भगवान् को अपना नहीं माना। यही इसकी पहचान है।

—संत-उद्बोधन

11. सुने हुए में आत्मीयता हो सकती है। उस पर विचार नहीं किया जा सकता। —मानव-दर्शन

12. जिन्होंने सगुण कहा, उन्होंने प्राकृतिक गुण नहीं वरन् अलौकिक दिव्य गुणों की बात कही, और जिन्होंने निर्गुण कहा, उन्होंने भी प्रकृति के गुणों से अतीत कहा। अपनी-अपनी दृष्टि से तो दोनों ने ठीक ही कहा है। परन्तु जो गुणों से अतीत है, उसी में अनन्त गुण हो सकते हैं और जिसमें अनन्त गुण हो सकते हैं, वही गुणों से अतीत हो सकता है। —मानव की माँग

13. तुम्हारे प्रेमास्पद सदैव तुम्हीं में हैं, तुम्हें देख रहे हैं। वे कभी भी तुम्हें अपनी आँख से ओझल नहीं करते। तुम भी अपनी दृष्टि में किसी और को स्वीकार न करो। बस, और कुछ करना शेष नहीं है। —पाथेय

14. समस्त सृष्टि जिससे निर्मित है, वह सभी का अपना है। उसे अपनी सृष्टि अत्यन्त प्रिय है, कारण कि अपना निर्माण अपने को स्वभाव से ही प्रिय होता है। इतना ही नहीं, उसने तो अपना निर्माण अपने में से ही किया है। अतः सभी साधक उसे अत्यन्त प्रिय हैं।

—पाथेय

15. सर्वसमर्थ साधक का भूतकाल नहीं देखते। उसकी वर्तमान वेदना से ही करुणित हो अपना लेते हैं। —साधन-निधि

16. जब से हमने परिवर्तनशील संगठन को अपना बनाया है, तब से हम अपरिवर्तनशील आनन्दघन प्रेम-पात्र से दूर हो गए हैं।.........

जब हम उनकी ओर देखेंगे, तब दूरी का अन्त हो जाएगा। हम को बस यही करना है कि एक बार उनकी ओर देखें। उनकी ओर तब देख सकते हैं, जब उनके हो जाएँ। उनके तब हो सकते हैं, जब किसी और के न रहें। —संतपत्रावली 1

17. प्रभु की महिमा का कोई पारावार नहीं है। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। जिसने किसी भी प्रकार एक बार भी उन्हें स्वीकार किया, उसका बेड़ा पार हुआ, ऐसा मेरा विश्वास तथा अनुभव है। —संतपत्रावली 2

18. प्रभु से भिन्न और कोई न देखने वाला है और न सुनने वाला। वे ही सभी को देख रहे हैं और सभी की सुन रहे हैं। यह उनका सहज स्वभाव है। —संतपत्रावली 2

19. परमात्मा उसे नहीं कहते, जो किसी वस्तु-विशेष के द्वारा प्राप्त हो अथवा किसी योग्यता-विशेष के द्वारा प्राप्त हो अथवा किसी सामर्थ्य-विशेष के द्वारा प्राप्त हो। परमात्मा उसे कहते हैं कि जिसकी प्राप्ति विश्वास से होती है। —संतवाणी 3

20. जो अपने हैं ही, भला वे कभी अपने को भूल पाते हैं ! उनमें भूल की गन्ध भी नहीं है। किन्तु उनके दिये हुए सीमित सौन्दर्य को पाकर साधक ही उन्हें भूलता है। —पाथेय

21. जिसने एक बार भी प्यारे प्रभु को अपना कहा है, उसका सर्वतोमुखी विकास अनिवार्य है। —पाथेय

22. वे अपनी वस्तु को सदैव देखते रहते हैं। उन्होंने कभी भी तुम्हें अपनी आँख से ओझल नहीं किया। .... साधक भले ही उन्हें भूल जाए, पर वे नहीं भूलते। .... जिसकी जो वस्तुएँ हैं, उसे वह देखता ही है, सँभालता ही है। ....अपनी रचना से क्या रचयिता अपरिचित होता है ? कदापि नहीं। —पाथेय

23. साध्य के सम्बन्ध में जिस किसी ने जो कुछ कहा है, वह अधूरा है; अथवा यों कहो कि उतना तो है ही, उससे विलक्षण भी है। —पाथेय

24. अविनाशी में आस्था तथा उसका बोध न होने पर भी विनाशी का आश्रय त्याग कर प्रत्येक साधक अविनाशी से अभिन्न हो सकता है। —दु:ख का प्रभाव

25. जिनकी सत्ता से ही सभी को सत्ता मिली हो, उन्हें किसी अस्तित्व की तो अपेक्षा है ही नहीं। तो फिर हम उन्हें क्या दे सकते हैं ? केवल यही दे सकते हैं कि 'हम सदैव तेरे हैं और तुम सदैव मेरे हो' अर्थात् उनसे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना ही उनके अधिकार की रक्षा है। —जीवन-दर्शन

26. उनकी कृपा का आश्रय लेकर जो एक बार यह कह देता है कि 'मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो', बस, वे सदा के लिए उसके हो जाते हैं। —जीवन-दर्शन

27. जिसने अपना निर्माण किया है, वह अपने ही में है और अपना है। इतना ही नहीं, निर्माता ने अपने में से ही निर्माण किया है। उसे स्वीकार न कर दु:ख-निवृत्ति मात्र से सन्तुष्ट हो जाना अपने को अनन्तरस से वंचित रखना है। अपने में सन्तुष्ट होना साधन है, साध्य नहीं । —सफलता की कुंजी

28. उपास्य में व्यक्तिभाव स्वीकार करना परम भूल है। उपास्य के नाम, रूप की कल्पना तो केवल शार्टहैण्ड के चिह्न के समान है। विचारशील उपासक नाम-रूप में भी व्यक्तिभाव नहीं देखते।

—सन्त-समागम 1

29. सत्य के विषय में कथन करना अपने माने हुए स्वभाव का परिचय देने के सिवाय कुछ अर्थ नहीं रखता; क्योंकि कथन करने की सत्ता सीमित है और सत्य असीम है। 'असीम' शब्द सत्य का कथन नहीं है, बल्कि संकेत कर सकता है। —सन्त-समागम 1

30. सत्य के स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका स्वयं अनुभव किया जा सकता है; क्योंकि कथन करने वाले सभी साधन अपूर्ण हैं। अपूर्ण कभी पूर्ण का कथन नहीं कर सकता।

—सन्त-समागम 1

31. नित्य जीवन अनित्य जीवन पर शासन नहीं करता, प्रत्युत् प्रेम करता है। शासन वह करता है, जो सीमित होता है। नित्य जीवन असीम है। अथवा यों कहो कि शासन वह करता है, जिसकी सत्ता किसी संगठन से उत्पन्न होती है। —सन्त-समागम 2

32. प्राकृतिक नियम के अनुसार अनन्त शक्ति निरन्तर प्रत्येक प्राणी को स्वभावत: अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है; परन्तु स्वतन्त्रता नहीं छीनती और न शासन करती है। —सन्त-समागम 2

33. प्राकृतिक विधान प्रेम तथा न्याय का भण्डार है; अत: वह दण्ड नहीं देता; परन्तु उसके सिखाने के अनेक ढंग हैं।
—सन्त-समागम 2

34. भगवान् का कोई एक ठिकाना नहीं है। ऐसा नहीं है कि संसार अलग हो, तत्त्वज्ञान अलग हो, भक्ति अलग हो और भगवान् अलग हो। सब मिलकर जो चीज है, उसी का नाम भगवान् है।
—सन्त-समागम 2

35. जो किसी का नहीं तथा जिसका कोई नहीं, उसके भगवान् अपने-आप हो जाते हैं; क्योंकि वे अनाथ के नाथ हैं।
—सन्त-समागम 2

36. भगवान् क्या हैं ? यह सवाल तभी हल हो सकता है, जब भगवान् मिल जाएँ। वैसे तो भगवान् के विषय में यह कहना काफी है कि उसके बिना हम अपूर्ण हैं। अपूर्ण को पूर्ण की अभिलाषा होती है। इससे यह भली प्रकार सिद्ध हो जाता है कि हमारी जो स्वाभाविक इच्छा है, वही भगवान् का स्वरूप है और हमारी जो अस्वाभाविक इच्छा है, वही संसार का स्वरूप है। —सन्त-समागम 2

37. भगवान् के होकर 'भगवान् का स्वरूप क्या है ?' यह प्रश्न क्या अर्थ रखता है ? गहराई से देखिए, प्यास ने कभी नहीं पूछा, 'पानी क्या है ?' भूख ने किसी से नहीं पूछा, 'भोजन क्या है ?' पानी पाकर प्यास तृप्त हो गई, भोजन पाकर भूख तृप्त हो गई। तृप्ति होने पर पानी और प्यास की भिन्नता तथा भूख और भोजन की भिन्नता शेष नहीं रहती। —सन्त-समागम 2

38. मनुष्य भक्त होकर ही भगवान् को जान सकता है और एकमात्र भगवान् का होकर ही भक्त हो सकता है। —सन्त-समागम 2

39. प्रेमपात्र की आवश्यकता प्रेमपात्र से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है; क्योंकि वह सभी इच्छाओं को मिटाने, सभी सम्बन्धों का विच्छेद करने एवं सभी परिस्थितियों से असंग करने में समर्थ है।
—सन्त-समागम 2

40. भगवान् अनन्त हैं; सविशेष भी हैं, निर्विशेष भी हैं और दोनों से परे भी हैं। यह अलौकिकता केवल भगवत्तत्त्व में ही है कि जिसके विषय में कोई सीमित धारणा निर्धारित नहीं की जा सकती।
—सन्त-समागम 2

41. जब हम अपने में शरीर भाव का अभिनय स्वीकार करते हैं, तब हमारे प्यारे विश्वरूप होकर लीला करते हैं। शरीर होकर किसी भी खिलाड़ी (प्राणी) ने विश्व से भिन्न कुछ नहीं जाना।............. हम शरीर बनकर तो केवल उनको विश्वरूप में ही देख सकते हैं।
—सन्त-समागम 2

42. हम अपने को सीमित कर अपने प्यारे को सीमित भाव में देखने का प्रयत्न करते हैं।
—सन्त-समागम 2

43. ईश्वर मानव की स्वाधीनता छीनना नहीं चाहता, इसलिए मानव जब तक स्वयं अपनी ओर से ईश्वर के सम्मुख नहीं होता, तब तक ईश्वर उसके पीछे ही रहता है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

44. जीव और ईश्वर दोनों ही प्रेमी हैं। इनमें से कोई भी भोगी नहीं है। जीव में जो भोगबुद्धि जाग्रत होती है, वह केवल देह के सम्बन्ध से होती है, स्वाभाविक नहीं है।
—संत-सौरभ

45. भगवान् का अवतार अपनी रसमयी लीला के द्वारा भक्तों को रस प्रदान करने के लिए और स्वयं उनके प्रेम का रस लेने के लिए ही होता है।
—संत-सौरभ

46. जिसने हमारा निर्माण किया है, हम उसमें आस्था न करें, हम उसे अपना न मानें, तो क्या यह बात उस निर्माणकर्त्ता को पसन्द होगी? .... जिसने हमारा निर्माण किया है, जो सर्वसमर्थ है, उसको भी प्रसन्नता होती है। कब ? जब हम उसे अपना मानते हैं।
—संतवाणी 5

परमात्म प्राप्ति

1. हमें उसको प्राप्त करना है कि जिसका हम त्याग कर ही नहीं सकते। —संतवाणी 4
2. संसार परमात्मा की प्राप्ति में बाधक नहीं है, बल्कि सहायक है। उसका जो हम सम्बन्ध स्वीकार करते हैं, वही बाधक है। —संत-उद्‌बोधन
3. जगत् की सत्ता स्वीकार करके भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं ? नहीं कर सकते। होगा क्या ? भगवान् आएँगे, लेकिन आप कहेंगे कि मेरी स्त्री बीमार है, अच्छी हो जाए। भगवान् को प्राप्त करना चाहते थे कि स्वस्थ स्त्री को देखना चाहते थे ? जरा सोचिए। —संतवाणी 4
4. परमात्मा की प्राप्ति के लिए शरीर की सहायता नहीं चाहिए, वस्तु की सहायता नहीं चाहिए, सामर्थ्य की सहायता नहीं चाहिए, योग्यता की सहायता नहीं चाहिए। यानी परमात्मा को पाने के लिए आपको कोई सामग्री नहीं चाहिए तो शरीर का क्या अचार डालोगे ? यह परमात्मा की प्राप्ति में तो काम आएगा नहीं। शरीर के द्वारा परमात्मा के संसार की सेवा कर दो। —साधन-त्रिवेणी
5. अगर आप कभी भी यह अनुभव करें, कभी भी मानें कि शरीर अलग हो जाएगा, तो अभी मान लीजिए कि अभी अलग है। और इस बात में विश्वास करें कि कभी भी परमात्मा मिल जाएगा, तो अभी मान लीजिए कि अभी पास है, अभी भी मिला हुआ है। —संतवाणी 5
6. परमात्मा ही प्राप्त होता है। और कुछ चीज प्राप्त होती नहीं। और चीज की तो प्रतीति होती है। —संतवाणी 5
7. ब्रह्म को ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जीव को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। —संतवाणी 3

8. परमात्मा से आप तो मिल सकते हैं, लेकिन शरीर द्वारा नहीं मिल सकते। आप अपने द्वारा मिल सकते हैं। हाँ, शरीर द्वारा परमात्मा की सृष्टि का कार्य कर सकते हैं। —संतवाणी 7
9. बुद्धि का सहारा छोड़ो, शरीर का सहारा छोड़ो, संसार का सहारा छोड़ो परमात्मा से मिलने के लिए। —संतवाणी 7
10. जो परमात्मा शरीर के द्वारा मिलेगा, मन के द्वारा मिलेगा, बुद्धि के द्वारा मिलेगा, वह यन्त्र के द्वारा भी मिलेगा; क्योंकि शरीर के द्वारा जो काम करते हो, वह यन्त्र के द्वारा भी होता है सरकार ! परन्तु परमात्मा आपको अपने द्वारा मिलेगा। —संतवाणी 7
11. मिलन की तीन सीढ़ियाँ हैं -पहली सीढ़ी है समीपता, दूसरी है एकता और तीसरी है अभिन्नता। इसलिए पहली सीढ़ी को 'योग' कहते हैं, दूसरी को 'बोध' और तीसरी को 'प्रेम' कहते हैं। —संतवाणी 7
12. भगवान् क्या कोई खेती है कि आज बोएँगे तो कल उपजेगा और परसों मिलेगा ? क्या भगवान् कोई वृक्ष है, जिसे आज लगाएँगे तो बारह वर्ष में फल लगेगा ? भगवान् ऐसी चीज नहीं है। भगवान् तो वर्तमान में भी ज्यों-का-त्यों मौजूद है। —संतवाणी 7
13. रोटी मिलना दुर्लभ है, पानी पीना दुर्लभ है, साँस लेना दुर्लभ है; लेकिन भगवान् का मिलना सुलभ है। मैं दलील और युक्ति के साथ यह कहता हूँ। —संतवाणी 7
14. जो लोग यह सोचते हैं कि हमें सत्य नहीं मिल सकता, उन्हें यह सोचना ही उनको सत्य से विमुख कर देता है। —प्रेरणा पथ
15. चाह-रहित होने मात्र से आपको-हमको वही सत्य मिल सकता है, जो किसी को भी कभी मिला होगा और किसी को भी मिलेगा। —प्रेरणा पथ
16. अगर किसी को परमात्मा को पाना हो और संसार से मुक्त होना हो तो उसे ऐसी बात बताओ कि एक बात में बेड़ा पार हो जाए। कुछ मत चाहो, कुछ मत करो, अपना करके कुछ मत रखो -इन तीन बातों से क्या होगा कि परमात्मा की तो प्राप्ति हो जाएगी और संसार की निवृत्ति हो जाएगी। —साधन-त्रिवेणी

17. प्रभु अपने में हैं, अभी हैं और अपने हैं - इससे परमात्मा मिल जाएगा। —साधन-त्रिवेणी
18. यदि भगवान् का दर्शन नहीं होता है, तो इसमें भी एक रहस्य है। यदि दर्शन हो जाए, तो हम लोगों की प्रभु के प्रति प्रियता शिथिल हो जाएगी। —संतपत्रावली 1
19. अपनत्व के बल पर ही उनको खरीद सकते हो, और किसी प्रकार नहीं। —संतपत्रावली 1
20. राम अपने में, अथवा रामायण में, अथवा राम की अभिलाषिणी सीता में, अथवा अपने भक्तों में, अथवा पूर्ण दु:खियों में मिलते हैं। 'पूर्ण दु:खी' वह है, जिसे संसार प्रसन्नता नहीं दे पाता। 'भक्त' वह है, जो राम से विभक्त नहीं होता। 'सीता' वही है, जो राम के बिना किसी प्रकार रह नहीं सकती। —संतपत्रावली 1
21. अपनत्व का बल गुणों के बल से विशेष बल है। भला जिसमें अनन्त गुण हों, उसे सीमित गुणों से कैसे पा सकते हैं ! कदापि नहीं। —संतपत्रावली 1
22. जिस प्राणी को अपने कर्तव्य का बल होता है, वह कर्तव्य की शक्ति समाप्त कर देने पर भगवत्प्राप्ति कर पाता है। और जिस प्राणी को अपने कर्तव्य का बल नहीं होता, वह भगवत्कृपा से भगवत्प्राप्ति कर लेता है। —संतपत्रावली 1
23. उनके मिलने का तरीका अपने खो जाने में है। —पाथेय
24. प्रेमास्पद अपने हैं, अपने में हैं और अभी हैं -यह सद्गुरु-वाक्य है, वेदवाणी है। इसमें अविचल आस्था अनिवार्य है। अपने होने से अपने को स्वभाव से प्रिय हैं और अपने में होने से उन्हें कहीं बाहर नहीं खोजना है। अभी होने से भविष्य के लिए प्रतीक्षा नहीं करनी है। —पाथेय
25. और सब कुछ देखना छोड़ दो, भगवान् दीख जाएँगे।............ सब कुछ देखना छोड़ने का अर्थ आँखें बन्द कर लेना नहीं है। इसका अर्थ है देखने में रुचि न लेना, संसार से पूर्ण असंगता। —सन्त-जीवन-दर्पण
26. प्राप्ति तो केवल परमात्मा की होती है। जगत् तो मिलकर बिछुड़ ही जाता है। —सन्त-जीवन-दर्पण

27. सत्य का मार्ग इतना तंग है कि उस पर आप अकेले ही जा सकते हैं। इसलिए इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के साथ रहने का मोह छोड़ दें। इनके साथ रहकर आप उस तंग रास्ते पर नहीं चल सकते। अकेले होने पर मार्ग अपने-आप दिखाई देगा।—सन्त-समागम 1

28. जिस समय आप अकेले हो जाएँगे, वे बिना बुलाए आएँगे। यदि उनसे मिलना चाहते हो तो अकेले हो जाओ। —सन्त-समागम 1

29. जब आप अकेले हो जाएँगे, तब भगवान् की कृपा से ही भगवान् को जान लेंगे। प्यारे, कोई भी प्रेमी अपने प्रेमपात्र से किसी के सामने नहीं मिलता, तो फिर जब तक आप शरीर आदि अनेक सम्बन्धियों को साथ लिए हुए हैं, आपका प्रेमपात्र आप से कैसे मिल सकता है ? भगवान् कैसे हैं ? यदि यह जानना चाहते हो तो अकेले हो जाओ। —सन्त-समागम 1

30. सभी से निराश होने पर ईश्वर का अनुभव होगा; क्योंकि ईश्वर से भिन्न वस्तुओं की आशा सिर्फ विषयों के लिए की जाती है। यहाँ तक कि बुद्धि आदि भी विषय-प्राप्ति ही में समर्थ होते हैं। —सन्त-वाणी 1

31. चेतन का अनुभव होने पर चेतन से भिन्न किसी भी सत्ता की प्रतीति शेष नहीं रहती। —सन्त-समागम 1

32. कृपया कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों एवं मन-बुद्धि आदि सभी सम्बन्धियों से कह दो कि अब हम अपने प्रेम-पात्र से मिलेंगे। आप लोगों की कृपा से विषयों का यथार्थ अनुभव हो गया। अब हम विषयों से तृप्त हो चुके हैं। कृपया आप भी आराम कीजिए। —सन्त-समागम 1

33. 'करना' भोगों की प्राप्ति के लिए होता है, प्रेमपात्र से मिलने के लिए नहीं। जिस काल में हम सभी को छुट्टी दे देंगे अर्थात् अकेले हो जाएँगे, उसी काल में हमारे प्रेमपात्र हमें अवश्य अपना लेंगे, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। —सन्त-समागम 1

34. जिसको प्रसन्नता देने के लिए संसार असमर्थ है अर्थात् जिसको भोग में रोग, हर्ष में शोक, संयोग में वियोग, सुख में दुःख, घर में वन, जीवन में मृत्यु का अनुभव होता है, वही सत्य का अधिकारी है। —सन्त-समागम 1

35. भोग के लिए भविष्य की आशा आवश्यक है; क्योंकि वह 'कर्म' से प्राप्त होता है। प्रेम-पात्र के लिए भविष्य की आशा आवश्यक नहीं; क्योंकि वह 'त्याग' से प्राप्त होता है। —सन्त-समागम 1
36. किसी को बुलाओ मत; क्योंकि जो आपका है, वह आपके बिना रह नहीं सकता अर्थात् अपने प्रेम-पात्र को निरन्तर अपने में ही अनुभव करो।.......... अपने सिवाय अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं है। —सन्त-समागम 1
37. जिस प्रकार नींद की अधिक आवश्यकता बढ़ जाने पर नींद का अभिलाषी बिना किसी और की सहायता के स्वयं सो जाता है और यह नहीं समझ पाता कि किस काल में सो गया, उसी प्रकार अत्यन्त व्याकुलता बढ़ जाने पर सत्य का अभिलाषी बिना किसी और की सहायता के स्वयं सत्य का अनुभव कर लेता है और यह नहीं जान पाता कि किस काल में सत्य का अनुभव हो गया। —सन्त-समागम 2
38. व्याकुलता के बिना किसी प्रकार भी आप अपने अभीष्ट को नहीं पा सकते। —सन्त-समागम 2
39. उनकी तथा संसार की चाह मिटने पर संसार हट जाएगा और 'वे' आ जाएँगे। —सन्त-समागम 2
40. सत् की खोज असत् के त्याग में है, असत् के द्वारा नहीं। —जीवन-दर्शन
41. दर्शन का उतना महत्त्व नहीं है, जितना प्रेम का महत्त्व है।.......... यदि प्रेम न हो और दर्शन हो जाए तो दर्शन का कोई लाभ नहीं होता। हमारे और परमात्मा के बीच जो दूरी मिटाने वाली चीज है, वह प्रेम है। —संतवाणी 8
42. जो सब ओर से विमुख होकर अपने में ही 'अपने' को पा लेता है, उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। —संतवाणी 8
43. समाधि तक कारणशरीर का तादात्म्य रहता है। बोध में जाकर कारणशरीर की निवृत्ति होती है, और प्रेम में जाकर परमात्मा की प्राप्ति होती है। —संतवाणी 8

44. जिसके मन में शरीर को बनाए रखने की रुचि है, जो शरीर को ही अपना स्वरूप मानता है, वह ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता।
—संत-सौरभ

45. ईश्वर-प्राप्ति के लिए वन में जाने की जरूरत नहीं है। जो घर में आराम से रहकर भजन नहीं कर सकता, वह वन में कष्ट सहकर कैसे कर सकता है ? वन में रहना तो तप के लिए आवश्यक होता है।
—संत-सौरभ

46. तप और सेवा संसार के लिए करे एवं विश्वास, चिन्तन और प्रेम ईश्वर के लिए करे। भगवान् की कृपा पर निर्भर रहे। भगवान् की कृपा से ही मनुष्य भगवान् को पा सकता है। —संत-सौरभ

47. परमात्मा है तो, पर न जाने कब मिलेगा ? अरे भले आदमी, जब तुम कहते हो कि वह सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है; तो कब मिलेगा कि अब मिला हुआ है ? कितने आश्चर्य की बात है ! इससे बड़ा और कोई पागलपन हो सकता है क्या, यह सोचना कि न जाने परमात्मा कब मिलेगा ? जबकि परमात्मा से आप कभी अलग हो सकते नहीं, हैं नहीं।
—संतवाणी 7

48. जिसको तुम प्राप्त करना चाहते हो, उसकी आवश्यकता अनुभव करो। उसको बलपूर्वक पकड़ने की कोशिश मत करो, केवल आवश्यकता अनुभव करो।
—संतवाणी 6

49. पसन्द करते हैं कुछ और, और चर्चा करते हैं परमात्मा की, इसीलिए परमात्मा मिलता नहीं। इसमें कुसूर परमात्मा का नहीं है कि क्यों नहीं मिलता। यह अपनी ही भूल है; क्योंकि हम उसे पसन्द नहीं करते।
—संतवाणी 5

50. आप सच मानिए, सिद्धि वर्तमान में ही होती है। भविष्य में कभी सिद्धि नहीं होती। भविष्य में तो उसकी प्राप्ति होती है, जो वर्तमान में नहीं है अर्थात् जिसकी उत्पत्ति हो। .... जरा सोचिए, साध्य तो हो वर्तमान में, और साधक यह माने कि हमें भविष्य में मिलेगा ! जरा ध्यान दीजिए, साध्य तो है वर्तमान में, और मिलेगा भविष्य में !
—संतवाणी 4

51. न कम खर्च करने से सत्य मिलता है, और न अधिक खर्च करने से सत्य मिलता है। सत्य मिलता है—वस्तु को अपना न मानने से।
—संतवाणी 4

52. आपके और परमात्मा के बीच संसार पर्दा नहीं है, उससे सम्बन्ध पर्दा है।
— संत-उद्‌बोधन

53. अल्प-से-अल्प आयु, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य होने पर भी मानव को वास्तविक जीवन से निराश नहीं होना चाहिए। कारण कि वास्तविक जीवन से मानव मात्र की जातीय तथा स्वरूप की एकता है।
—मंगलमय विधान

अस्वाभाविक दशा में किया हुआ कार्य उपयोगी सिद्ध नहीं होता। कारण, कि अस्वाभाविकता कर्त्ता को अस्त-व्यस्त कर देती है, जिसके होने से कार्य का उद्देश्य, कार्य करने का ढंग और पवित्र भाव की विस्मृति हो जाती है। अतः प्रत्येक कार्य का सम्पादन स्वाभाविकता में ही करना अनिवार्य है।

परिस्थिति (अनुकूलता-प्रतिकूलता)

1. बुद्धिमान् से सबसे बड़ी भूल यह होती है कि वह सोचता है कि इस समय जो परिस्थिति हमारे सामने है, यदि मैं यह बदल दूँगा तो मेरे उद्देश्य की पूर्ति हो जायगी। —संतवाणी 4
2. मानव को प्रभु दण्ड नहीं देता, विधान मानव को दण्ड नहीं देता, तो फिर क्या देता है ? जिस परिस्थिति से आपका विकास होता है, वही परिस्थिति आपको देता है। —प्रेरणा पथ
3. यह दिमागी कौतूहल है कि किसी परिस्थिति-विशेष की प्राप्ति से हम वह हो जाएँगे, जो हम आज नहीं हैं। सरकार, यहीं रहेंगे, यहीं। अन्तर यही होगा कि आप तीन बटा चार न लिखकर पचहत्तर बटा सौ लिखिएगा। —जीवन-पथ
4. परिस्थिति एक प्रकार का प्राकृतिक न्याय है, और प्राकृतिक न्याय अपने विकास के लिए होता है, विनाश के लिए नहीं। —संतवाणी 3
5. साधक के लिए क्या उपयोगी है ? प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग। क्या बाधक है ? अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन। —संतवाणी 3
6. प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में मानव स्वाधीन है, परन्तु परिस्थिति के परिवर्तन में सभी पराधीन हैं। —संत-उद्‌बोधन
7. प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। —संत-उद्‌बोधन
8. आयी हुई परिस्थिति का विरोध अपनी व्यक्तिगत रुचि का पोषण है। —पाथेय
9. प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय है, इसी ध्रुव सत्य के कारण जो हो रहा है, वही ठीक है। —पाथेय
10. प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही अपूर्ण तथा अभावयुक्त है। —चित्तशुद्धि

11. प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में किसी का अहित नहीं है; क्योंकि प्राकृतिक न्याय क्षोभ तथा क्रोध से रहित है।
—चित्तशुद्धि

12. जो कुछ स्वत: हो रहा है, उसमें प्राणी का कभी अहित नहीं है। अहित होता है प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग न करने से।
—चित्तशुद्धि

13. प्रतिकूल परिस्थिति भोग में भले ही बाधक हो, पर योग में नहीं।
—चित्तशुद्धि

14. किसी परिस्थिति के कारण कोई वास्तव में ऊँचा-नीचा नहीं है, प्रत्युत् जो साधक परिस्थिति का सदुपयोग करता है, वही ऊँचा है, और जो दुरुपयोग करता है, वही नीचा है। —चित्तशुद्धि

15. ऐसी कोई अनुकूलता है ही नहीं, जिसने प्रतिकूलता को जन्म न दिया हो और न ऐसी कोई प्रतिकूलता ही है, जिसमें प्राणी का हित न हो। —चित्तशुद्धि

16. प्राकृतिक नियम के अनुसार जिन इच्छाओं में प्रवृत्त होना अनिवार्य है, उनकी प्रवृत्ति के लिए परिस्थिति स्वत: प्राप्त होती है, और जिन इच्छाओं की प्रवृत्ति अनावश्यक है, उनके लिए परिस्थिति प्राप्त नहीं होती। इस रहस्य को न जानने के कारण बेचारा प्राणी अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करने लगता है। —चित्तशुद्धि

17. अनन्त की अभिव्यक्ति अनन्त से भिन्न नहीं है। इस दृष्टि से भी परिस्थिति का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत् वह जिसकी अभिव्यक्ति है, उसमें उसी की सत्ता है अथवा वही है।
—चित्तशुद्धि

18. चित्त की शुद्धि भौतिक दृष्टि से परिस्थिति के सदुपयोग में, अध्यात्म-दृष्टि से परिस्थितियों के अभाव में और आस्तिक दृष्टि से परिस्थितियों के द्वारा प्रेमास्पद की पूजा में निहित है।
—चित्तशुद्धि

19. प्राकृतिक नियम के अनुसार अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों ही कर्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक अंग हैं ; क्योंकि प्रतिकूलता के बिना वस्तुओं के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान नहीं होता और अनुकूलता के बिना प्राप्त वस्तुओं का उदारतापूर्वक सदुपयोग नहीं होता। —चित्तशुद्धि

20. प्राप्त परिस्थिति में हित है, इस बात को वही जान सकता है, जो अनन्त के मंगलमय विधान पर विश्वास करता है।

—चित्तशुद्धि

21. केवल परिस्थिति का दुरुपयोग करना ही प्रतिकूलता है। परिस्थिति वास्तव में प्रतिकूल नहीं होती।

—सन्त-समागम 2

22. जितने आस्तिक होते हैं, वे प्रत्येक प्रतिकूलता में अपने परम प्रेमास्पद की अनुकूलता का अनुभव करते हैं कि अब हमारे प्यारे ने अपने मन की बात करना आरम्भ कर दिया। अब वे हमें जरूर अपनाएँगे।

—सन्त-समागम 2

23. जो परिस्थिति से हार स्वीकार करता तथा लक्ष्य से निराश हो जाता है, वह न तो आस्तिक हो सकता है और न शरणागत।

—सन्त-समागम 2

24. जब प्रतिकूलताओं में पूर्ण अनुकूलताओं का अनुभव हो और एकरसता की उत्पत्ति हो तो समझना चाहिए कि आज से हमारा नाता भगवान् के साथ पक्का हो गया। अगर भगवान् का नाम लिया और नौकरी मिल गयी तो समझो भगवान् का नाता टूट गया और नाम लेने की मजदूरी मिल गयी।

—सन्त-समागम 2

25. जो मन की अनुकूलता में रमण करता है, वह भगवान् के प्रेम से वंचित हो जाता है, इसमें कम-से-कम मुझे सन्देह नहीं है। अनुकूलता ने मुझे भगवान् से विमुख किया है और किसी ने नहीं।............ जो प्रतिकूलता को हृदय से लगा सकते हैं, वे भगवान् के सम्मुख होते हैं, यह भी मेरे हृदय की बात है।

—सन्त-समागम 2

26. परिस्थिति-परिवर्तन की अपेक्षा परिस्थिति का सदुपयोग अधिक मूल्य की वस्तु है; क्योंकि परिस्थिति-परिवर्तन से त्याग का अभिमान आता है और परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति से सम्बन्ध-विच्छेद होता है। त्याग का अभिमान राग का मूल है, इसे विचार शील जानते हैं।

—सन्त-समागम 2

27. प्रत्येक परिस्थिति स्वरूप से प्रतिकूल है। हम प्रतिकूलता को अनुकूलता मान लेते हैं।

—सन्त-समागम 2

28. यद्यपि प्राकृतिक विधान के अनुसार प्रत्येक संयोग बिना ही प्रयत्न वियोग में विलीन होता है; किन्तु संयोग की दासता के कारण वियोग होने पर भी संयोग ही बना रहता है, जो प्राकृतिक विधान का निरादर है। —सन्त-समागम 2

29. गहराई से देखिए, ऐसी कोई परिस्थिति नहीं होती, जिससे उच्च तथा निम्न अन्य परिस्थिति न हो अर्थात् प्रत्येक वस्तु तथा परिस्थिति में आबद्ध प्राणी अपने से उच्च तथा निम्न का स्वत: अनुभव करता है। इसी कारण उच्च को देख दीनता में और निम्न को देख अभिमान में आबद्ध हो जाता है। दीनता का बन्धन 'त्याग' से और अभिमान बन्धन 'सेवा' से मिट जाता है अर्थात् ऐसी कोई निर्बलता नहीं जो त्याग से, और ऐसा कोई अभिमान नहीं जो सेवा से मिट न जाता हो। —सन्त-समागम 2

30. प्रतिकूलता ही मनुष्य के जीवन को उन्नत करने वाली है। जिसके जीवन में प्रतिकूलता का अनुभव नहीं होता, उसकी उन्नति की ओर प्रगति नहीं होती। यदि प्रतिकूल परिस्थिति पैदा न होती तो शरीर और संसार से अहंता-ममता का दूर होना प्राय: सम्भव ही नहीं था। —संत-सौरभ

31. अनुकूल परिस्थिति में जो सरसता 'उदारता' से आती है, वही सरसता प्रतिकूल परिस्थिति में 'त्याग' से प्राप्त होती है। इस दृष्टि से अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति वर्तमान को सरस बनाने में हेतु नहीं है, अपितु उनका सदुपयोग ही नीरसता मिटाने में समर्थ है। —चित्तशुद्धि

32. प्रतिकूल परिस्थिति विकास का ही साधन है, विनाश का नहीं। —संत-उद्बोधन

33. निष्कामता को अपनाते ही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने की तथा अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन से रहित होने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है। —साधन-निधि

प्रवृत्ति-निवृत्ति

1. प्रवृत्ति का सौन्दर्य यही है कि किसी के काम आ जाएँ; और निवृत्ति का सौन्दर्य यही है कि अपने में ही अपने प्रेमपात्र का अनुभव हो जाए। जो प्रवृत्ति किसी के हित का साधन नहीं होती, वह त्याग करने योग्य है; और जो निवृत्ति प्रेमपात्र से अभेद नहीं करती, वह निर्जीव है। —संतपत्रावली 1
2. जिस प्रवृत्ति का परिणाम निवृत्ति नहीं है, वह प्रवृत्ति दूषित है, त्याज्य है। व्यक्तिगत सुख की आशा को लेकर जो प्रवृत्ति आरम्भ होती है, उसका परिणाम निवृत्ति नहीं होता, प्रत्युत् प्रवृत्ति के अन्त में भी प्रवृत्ति की ही रुचि शेष रहती है। —दुःख का प्रभाव
3. प्रवृत्ति वही सार्थक है, जो किसी के लिए अहितकर न हो, अपितु सर्वहितकारी हो। —दुःख का प्रभाव
4. संकल्पपूर्वक जिस निवृत्ति का सम्पादन किया जाता है, वह निवृत्ति होने पर भी घोर प्रवृत्ति ही है। —दुःख का प्रभाव
5. सर्वहितकारी प्रवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति की जननी है। —जीवन-दर्शन
6. सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव में किये हुए संग्रह का प्रायश्चित्त है, कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है; और निवृत्ति प्राकृतिक विधान है। उसे अपनी महिमा मान लेना मिथ्या अभिमान को ही जन्म देना है, और कुछ नहीं । —जीवन-दर्शन
7. प्रवृत्ति के द्वारा जिस किसी को जो कुछ मिलता है, वह कालान्तर में स्वतः मिट जाता है। —चित्तशुद्धि
8. सर्वहितकारी प्रवृत्ति अथवा देहाभिमान का त्याग वास्तविक निवृत्ति का साधन है। —चित्तशुद्धि

9. जीवन में दु:ख की मात्रा बढ़ जाने पर निवृत्ति सुगम है और सुख की मात्रा बढ़ जाने पर प्रवृत्ति सुगम है। —सन्त-समागम 2
10. प्रत्येक प्रवृत्ति महान् रोग है; क्योंकि प्रवृत्ति के अन्त में निर्बलता प्राप्त होती है। —सन्त-समागम 2
11. जब तक हम अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता का अनुभव करते हैं, तब तक किसी-न-किसी प्रकार की प्रवृत्ति बनी ही रहती है अर्थात् संयोग की आवश्यकता ही प्रवृत्ति है। —सन्त-समागम 2
12. उस प्रवृत्ति का नितान्त अन्त कर देना चाहिए, जो किसी अन्य के हित तथा प्रसन्नता का साधन न हो। —सन्त-समागम 2
13. यह भली प्रकार समझ लो कि हठपूर्वक की हुई निवृत्ति प्रवृत्ति का मूल है, और प्रेम-पात्र के नाते अभिनय के स्वरूप में की हुई प्रवृत्ति निवृत्ति का मूल है। —सन्त-समागम 2
14. प्रत्येक प्रवृत्ति निवृत्ति के लिए स्वीकार की जाती है, प्रवृत्ति के लिए नहीं; क्योंकि प्रत्येक संयोग का वियोग परम आवश्यक है। —सन्त-समागम 2
15. वही प्रवृत्ति और निवृत्ति साधन रूप हो सकती है, जो सुख की आशा से रहित है। —साधन-तत्त्व
16. सर्वप्रिय प्रवृत्ति संसार का सौन्दर्य है; सर्व प्रवृत्तियों की निवृत्ति संसार का अन्त है; निवृत्ति की निवृत्ति ईश्वरवाद का आरम्भ है। —सन्त-समागम 2

अस्वाभाविक दशा में किया हुआ कार्य उपयोगी सिद्ध नहीं होता। कारण, कि अस्वाभाविकता कर्त्ता को अस्त-व्यस्त कर देती है, जिसके होने से कार्य का उद्देश्य, कार्य करने का ढंग और पवित्र भाव की विस्मृति हो जाती है। अतः प्रत्येक कार्य का सम्पादन स्वाभाविकता में ही करना अनिवार्य है।

प्रार्थना

1. प्रार्थना इसलिए नहीं की जाती कि आप कहेंगे, तब परमात्मा सुनेंगे। प्रार्थना का असली रूप है -अपनी आवश्यकता का ठीक-ठीक अनुभव करना। —संतवाणी 7
2. प्रार्थना शब्दों द्वारा नहीं की जाती। प्रार्थना का मतलब है -अपनी जरूरत की विस्मृति न हो। —संतवाणी 7
3. प्रभु की महिमा स्वीकार करो, 'स्तुति' हो गयी। प्रभु से सम्बन्ध स्वीकार करो, 'उपासना' हो गयी। प्रभु के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करो, 'प्रार्थना' हो गयी। —संत-उद्बोधन
4. जिस प्रकार प्यास का लगना ही पानी का माँगना है, उसी प्रकार अभाव की वेदना ही प्रार्थना है। —मानव की माँग
5. प्रार्थना का अर्थ दीनता तथा पराधीनता नहीं है, प्रत्युत् अपनी वास्तविक आवश्यकता की जागृति है। —मानव की माँग
6. प्रार्थना ही निर्बल का बल है। प्रार्थी को अवश्य लक्ष्य की प्राप्ति होती है। —संतपत्रावली 2
7. यदि मानव-समाज व्यथित हृदय से करुणासागर को पुकारे तो प्रकृति का क्षोभ मिट सकता है और दुष्काल सुकाल में बदल सकता है।पर इस ओर तो आज दृष्टि ही नहीं जाती। जग की सहायता से जग की समस्याओं का सर्वांश में समाधान नहीं होता। करुणासागर जगदाधार को पुकारो और उनके द्वारा दिये हुए बल से क्रियात्मक सेवा करो। —संतपत्रावली 2
8. प्रकृति क्षोभित क्यों होती है ? इस सम्बन्ध में मेरा विचार है कि जब जन-समाज न करने वाली बातें भी करता रहता है, तब दैवी आपत्तियाँ आती हैं। उसकी शान्ति के लिए प्रार्थना और प्रायश्चित्त दोनों ही होने चाहिएँ, तभी व्यापक संकट की समस्या हल हो सकती है। प्रायश्चित्त तो यह है कि संग्रहीत वस्तु दु:खियों के काम आ जाए और व्यथित हृदय से परम कृपालु को पुकारा जाए। —संतपत्रावली 2

9. क्या अपने से अपनी कोई बात छिपी है, जो उनसे कही जाए ?
—पाथेय

10. जब साधक लक्ष्य से निराश नहीं होता और अपने द्वारा उसे पूरा नहीं कर पाता, तब स्वतः एक वेदना जाग्रत होती है, जो वास्तविक प्रार्थना का रूप धारण कर लेती है। वैधानिक प्रार्थना अवश्य पूरी हो जाती है, यह सर्वसमर्थ सर्वाधार की महिमा है। —पाथेय

11. 'मेरे नाथ' से सुन्दर शब्द अपनी भाषा में नहीं हैं।—प्रेरणा पथ

12. प्रार्थना करने का अधिकार तब होता है, जब कर्ता अपनी सारी शक्ति समाप्त कर दे; क्योंकि शक्ति रहते हुए सच्ची प्रार्थना नहीं होती। प्रार्थना वास्तव में दुःखी हृदय की आवाज है। .... जो प्रार्थी अपनी सारी शक्ति समाप्त कर सर्वसमर्थ इष्टदेव से प्रार्थना करता है, उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। प्रार्थना की नहीं जाती, बल्कि होती है; क्योंकि जब अभिलाषा मिटा पाते नहीं और उसके पूर्ण करने की शक्ति नहीं होती, तब जो आवाज हृदय से उत्पन्न होती है, वही प्रार्थना होती है। —सन्त-समागम 1

13. जिस प्रकार माँ को शिशु की सभी आवश्यकताओं का ज्ञान है एवं शिशु के बिना कहे ही माँ वह करती है, जो उसे करना चाहिए, उसी प्रकार आनन्दघन भगवान् हमारे बिना कहे ही वह अवश्य करते हैं, जो उन्हें करना चाहिए। परन्तु हम उनकी दी हुई शक्ति का सदुपयोग नहीं करते और निर्बलता मिटाने के लिए बनावटी प्रार्थना करते रहते हैं। —सन्त-समागम 2

14. यह नियम है कि असमर्थता की वेदना में सर्वसमर्थ की पुकार स्वतः रहती ही है।....... जिस असमर्थता में वेदना नहीं है, वह असमर्थता निर्जीव है अर्थात् आंशिक सामर्थ्य का सुखभोग है।
—साधन-तत्त्व

15. यदि अपनी ओर से पूरा प्रयास करने पर भी हम सुख के भोग और उसके आकर्षण को छोड़ने में अपने-आपको असमर्थ पाते हैं तो सरल विश्वासपूर्वक दुःखी हृदय से सर्वसमर्थ प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए। दुःख अवश्य मिट जाएगा।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

16. दार्शनिक दृष्टि तथा मान्यताओं का भेद होने पर भी प्रार्थना सभी की एक है। कारण कि स्वाभाविक आवश्यकता सबकी एक और अस्वाभाविक इच्छाएँ अनेक हैं। —मानवता के मूल सिद्धान्त

17. प्रार्थना व्यथित हृदय की पुकार तथा निर्बल का बल एवं आस्तिक का जीवन है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

18. प्राप्त शक्ति का सद्व्यय करने पर ही प्रार्थना करने का अधिकार मिलता है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

19. प्रार्थना असमर्थ का अन्तिम प्रयास, सफलता का अचूक अस्त्र और आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने वाला महामन्त्र है। अथवा यों कहो कि यह दुःखियों की वास्तविक साधना है।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

20. प्रार्थना के सम्बन्ध में जो कुछ कहा जाए, कम है; क्योंकि यह निराशा को आशा में, निर्बलता को बल में और असफलता को सफलता में परिवर्तित कर प्राणी को उसका अभीष्ट प्राप्त कराने में समर्थ है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

21. भावात्मक सेवा एकमात्र प्रार्थना से ही हो सकती है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

22. जो तुम्हारे सम्बन्ध में तुम से भी अधिक जानते हैं, क्या उनसे भी कुछ कहना है ? —पाथेय

23. प्रार्थना के द्वारा मानव प्रत्येक परिस्थिति में सर्वोत्कृष्ट सेवा कर सकता है और त्याग तथा प्रेम को प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकता है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

24. मानव प्रार्थी है, यह अनुभवसिद्ध सत्य है, यद्यपि प्रार्थ्य प्रार्थी में भी मौजूद है और प्रार्थना का पुंज ही मानव का अस्तित्व है।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

25. प्रार्थना श्रमसाध्य उपाय नहीं है, अपितु व्यथित हृदय की मूक आवाज है। मूक आवाज विभु होती है, यह वैज्ञानिक तथ्य है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

26. प्रार्थना के अनुरूप यथाशक्ति कार्य भी करना चाहिए। कर्तव्यनिष्ठ प्राणी ही वास्तविक प्रार्थी हो सकते हैं।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

27. 'मेरे नाथ' -इस वाक्य का उच्चारण करते ही ऐसा हृदय में भास होता है कि हम अनाथ नहीं हैं, कोई हमारा अपना है। और जो हमारा अपना है, वह कैसा है ? वह समर्थ है और रक्षक है। अब आप सोचिए कि समर्थ और रक्षक के होते हुए हमारे और आपके जीवन में चिन्ता और भय का कोई स्थान ही नहीं रहता।

—संतवाणी 8

मानव मात्र में क्रिया, भाव तथा विवेक विद्यमान है। इस कारण विवेक के प्रकाश से प्रकाशित भाव और पवित्र भाव से भावित कर्म सिद्धिदायक है। वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म को किए बिना क्रिया-शक्ति का सदुपयोग सम्भव नहीं है। यह नियम है कि मिली हुई वस्तु वस्तु का सदुपयोग न करने से उसकी आसक्ति का नाश नहीं होता। अतः मानव मांत्र को करने के राग से मुक्त होने के लिए पवित्र भाव से वर्तमान कार्य करना अनिवार्य है।

प्रेम

1. जब तक मिलन में वियोग न भासे तो प्रेम कैसा ? और वियोग में मिलन न भासे तो प्रेम कैसा ? —संतवाणी 5
2. परस्पर में (शरीर के अंगों में) प्रीति की कितनी गहरी एकता है कि पैर में काँटा लगता है तो आँख में आँसू निकलते हैं। आँख में जब चोट लगती है तो पैर लड़खड़ाता है। इसी प्रकार समस्त विश्व के साथ हमारी स्नेह की एकता हो। —संतवाणी 6
3. जहाँ हमारा अपनापन हो जाता है, वहाँ प्रियता उदय होती है। —संतवाणी 7
4. भिन्न-भिन्न साधन जब एक में विलीन हो जाते हैं, उसको कहते हैं -साधन-तत्त्व। तो समस्त साधन किस में विलीन होते हैं ? तो मानना पड़ता है कि प्रेम की प्राप्ति में, प्रेम की जागृति में। तो प्रेम हुआ साधन-तत्त्व। —संतवाणी 5
5. जो लोग यह कहते हैं कि 'क्या बताएँ, उन्होंने तो इतना प्यार किया कि हम मजबूर हो गए', उनसे निवेदन है कि कोई आदमी आपको मजबूर करे, क्या वह भी कोई प्यार है ? 'नहीं महाराज, आज तो खा ही लो। अरे महाराज, खा ही लें', तो यह प्यार है या शासन है ? प्यार है या आसक्ति है ? —प्रेरणा पथ
6. प्रेम में एक विलक्षणता है, और वह विलक्षणता यह है कि उसका आरम्भ कहीं से हो, पर वह विभु हो जाता है। —जीवन-पथ
7. जो परमात्मा को प्रेम नहीं करता, सन्तों को प्रेम नहीं करता, अपने को प्रेम नहीं करता; सच पूछो तो वह किसी को प्रेम नहीं करता। —संतवाणी 7
8. यह निर्विवाद सत्य है कि प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता है। —संतवाणी 5

9. यदि अपने को अपना प्रिय नहीं हो सकता, तो प्रियता की प्राप्ति का और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। —संत-उद्‌बोधन
10. प्रेमियों की सूची में नाम लिखाने चलें और कामना साथ लेकर चलें, तो क्या प्रेम होगा ? अपना मन रखकर क्या प्रेम होता है ? कदापि नहीं। —संत-उद्‌बोधन
11. कामना-पूर्ति और मोक्ष चाहने वाला प्राणी ईश्वर-प्रेमी नहीं हो सकता, ईश्वर से प्रेम नहीं कर सकता। —संत-उद्‌बोधन
12. जहाँ अपने ही लाभ का ध्यान है, वहाँ ईमानदारी रह नहीं सकती। ईमानदारी के बिना प्रेम का प्रादुर्भाव होता ही नहीं। —संत-उद्‌बोधन
13. प्रेम का उदय होने पर एक ही दो मालूम होते हैं। यह नहीं है कि दो होने पर प्रेम होगा। —संत-उद्‌बोधन
14. कोई भी विचारक यह सिद्ध नहीं कर सकता कि दो होने पर प्रेम हो सकता है। दो में तो न्याय हो सकता है, प्रेम नहीं; क्योंकि प्रेम का उदय वहाँ होता है, जहाँ एक ही दो मालूम होते हों। —मानव की माँग
15. जीवन्मुक्त होने के बाद मनुष्य प्रेम-प्राप्ति का अधिकारी होता है। —संत-उद्‌बोधन
16. जिसके हृदय में भोग-सुखों का लालच और काम-क्रोधादि विकार मौजूद हैं, वह प्रेम की प्राप्ति तो क्या, प्रेम की चर्चा करने तथा सुनने का भी अधिकारी नहीं है। वास्तव में तो जिसके हृदय में ममता, आसक्ति, कामना और स्वार्थ की गन्ध भी न हो, वही प्रेमी हो सकता है। —संत-उद्‌बोधन
17. अहम् का नाश हुए बिना भेद का नाश नहीं होता और उसके हुए बिना अनन्त के प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। —संत-उद्‌बोधन
18. चाह-रहित प्राणी ही प्रेम कर सकता है। —मानव की माँग
19. चाह-रहित हुए बिना मानव प्रियता का अधिकारी नहीं होता। —मानव-दर्शन
20. प्रभु की महिमा सुनकर जो ईश्वरवादी होते हैं, वे कामी हैं, प्रेमी नहीं। —जीवन-पथ

21. प्रेमी वह नहीं होते कि भगवान् तो प्यारे लगें और संसार खारा लगे। उसे प्रेमी नहीं कहते। —संतवाणी 5
22. प्रेमी हम कब होंगे ? जब हम यह स्वीकार करें कि प्रभु अपने हैं। —संतवाणी 7
23. यह प्रेम का स्वभाव है कि प्रेम प्रेमी का सर्वस्व हर लेता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमी का विनाश हो जाता है। प्रेम और प्रेमी के बीच में जो दूरी थी, वह मिट जाती है अर्थात् प्रेमी भी गलकर प्रेम ही हो जाता है। —मानव की माँग
24. जिस प्रकार नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे में आबद्ध होने से विषैले कीटाणुओं का घर बन जाता है, उसी प्रकार प्रेम-रूपी तत्त्व किसी वस्तु एवं व्यक्ति आदि में आबद्ध होकर लोभ, मोह आदि का रूप धारण कर अनेक विकार उत्पन्न करता है। —मानव की माँग
25. आसक्ति का अत्यन्त अभाव हुए बिना अनुरक्ति के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं होता। —मानव-दर्शन
26. जिसके जीवन में प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसके जीवन में भोग, मोक्ष आदि कोई भी कामना शेष नहीं रहती। —मानव की माँग
27. बोध में प्रेम और प्रेम में बोध ओत-प्रोत हैं। —मानव-दर्शन
28. प्रीति के समान और कोई अलौकिक महान् तत्त्व नहीं है। —मानव-दर्शन
29. उसकी प्राप्ति उसकी प्रियता में ही निहित है, जिज्ञासा में नहीं। —मानव-दर्शन
30. प्रेम ही भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। वही उनका मानव पर अधिकार है। —मानव की माँग
31. प्रियता प्राप्त करने के लिए सेवा और त्याग तथा आस्थापूर्वक आत्मीयता अनिवार्य है। —मानव-दर्शन
32. प्रेम का आरम्भ किसी भी प्रतीक में क्यों न हो, किन्तु प्रेम स्वभाव से ही विभु हो जाता है। अत: विश्वप्रेम भी विश्व से अतीत आत्मरति एवं प्रभु-प्रेम के रूप में परिणत होता है। कारण कि प्रेम-तत्त्व को किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। —मानव-दर्शन

33. प्रेम की अन्तिम भेंट है —'अहम्' और 'मम' को अर्पित करना।
—मानव-दर्शन

34. जिसे भोग और मोक्ष भी नहीं भाते, उसी को करुणामय अपनी प्रीति प्रदान करते हैं। —साधन-निधि

35. जो प्रियता सदैव नहीं रहती, वह वास्तव में प्रियता नहीं है, अपितु आसक्ति है। —मूक सत्संग

36. शरणागत बिना हुए शरण्य की अगाध प्रियता कैसे मिल सकती है ? कदापि नहीं। —मूक सत्संग

37. जब तक जीवित शरीर मृतक के समान न मालूम हो, तब तक प्रेम पैदा नहीं हो सकता -ऐसा मेरा विश्वास है। —संतपत्रावली 1

38. प्रेमी के हृदय में कामना तथा क्रोध उत्पन्न नहीं होता, ऐसा मेरा अनुभव है। —संतपत्रावली 1

39. जिस प्रकार गंगा का पवित्र जल, जो आनन्द का हेतु है, गड्ढे में बँध जाने से अनेक विषैले कीड़ों को उत्पन्न कर दुःख का कारण होता है, इसी प्रकार पवित्र प्रेम मलमूत्र-पूर्ण शरीर में बँध जाने से अनेक वासनारूपी कीड़ों को उत्पन्न कर महान् दुःख का कारण होता है। —संतपत्रावली 1

40. जब तक किसी प्रकार की वासना शेष है, तब तक समझना चाहिए कि प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि प्रेम उत्पन्न होने पर हृदय आनन्द तथा समता से भर जाता है और सब ओर अपना आपा ही नजर आता है। —संतपत्रावली 1

41. पवित्र प्रेम को शरीर में कैद करने से मोह की उत्पत्ति होती है।
—संतपत्रावली 1

42. बढ़ा हुआ रोग आरोग्यता में और बढ़ा हुआ प्रेम प्रेमपात्र में विलीन हो जाता है। —संतपत्रावली 1

✓43. प्रेमी का स्नान क्या है ? -रोना। प्रेमी का ध्यान क्या है ? -अपने-आपको मिटा देना। प्रेमी की पूजा क्या है ? -सच्ची व्याकुलता। प्रेमी का भोजन क्या है ? -हर्ष और शोक। प्रेमी निवास कहाँ करता है ? -जहाँ और कोई न हो। प्रेमी का पाठ क्या है ? -मौन। —संतपत्रावली 1

44. अपने प्रियतम को अपने से भिन्न किसी और में अनुभव मत करो।
—संतपत्रावली 1

45. प्रेमरूप धन अधिक-से-अधिक छिपाकर रखना चाहिए। यहाँ तक कि मन, इन्द्रियों आदि को भी पता न चले। नहीं तो ये निर्मल प्रेम को गन्दा कर देंगे।
—संतपत्रावली 1

46. प्रेमास्पद से भिन्न की अस्वीकृति के लिए विवेक अपेक्षित है और प्रेमास्पद से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने के लिए विश्वास हेतु है।
—पाथेय

47. प्रीति स्वरूप से दिव्य, चिन्मय तथा अनन्त है। यह नियम है कि जो चिन्मय है, वह विभु है। जो विभु है, उससे देश-काल की दूरी तथा भेद रह नहीं सकता। हाँ, एक बात अवश्य है कि प्रीति ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जो वियोग में मिलन और मिलन में वियोग का भास कराता है। पर इस रहस्य को वे ही प्रेमी जानते हैं, जो भुक्ति और मुक्ति की दासता से मुक्त हैं अर्थात् जिन्होंने भोग और मोक्ष को ठुकरा दिया है और प्रेम ही को अपना सर्वस्व स्वीकार किया है।
—संतपत्रावली 2

48. प्रीति का क्रियात्मक रूप ही सेवा है और प्रीति का विवेकात्मक रूप ही बोध है और प्रीति का भावात्मक रूप ही प्रीतम को रस देना है।
—संतपत्रावली 2

49. जिसका कुछ नहीं है और जिसे कुछ नहीं चाहिए, वही प्यारे प्रभु को अपना मान सकता है, और उसी को प्रेम की प्राप्ति होती है।
—संतपत्रावली 2

50. प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता स्वीकार करने पर प्रीति में शिथिलता आती है। प्रीति को सुरक्षित रखने के लिए प्रेमास्पद से भिन्न अन्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करना चाहिए। तभी प्रीति सबल तथा स्थायी हो सकती है।
—पाथेय

51. प्रीति का उदय तभी होता है, जब अनेक विश्वास एक विश्वास में, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में एवं अनेक चिन्तन एक चिन्तन में विलीन हो जाते हैं।
—पाथेय

52. प्रीति किसी कर्म और अभ्यास से प्राप्त नहीं होती, अपितु आत्मीयता से प्राप्त होती है, जो विश्वास से सिद्ध है। जिसने एक बार 'मेरे नाथ' कह दिया, बस, प्रीति प्राप्त हो गयी।
—पाथेय

53. क्या प्रीति को शरीर की आवश्यकता है ? कदापि नहीं।
—पाथेय

54. जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसी को प्रेमास्पद अपना प्रेम-तत्त्व प्रदान करते हैं। जिसे कुछ और चाहिए, उसे प्रेम की प्राप्ति नहीं होती।
—पाथेय

55. अभ्यास का महत्त्व कार्य-कुशलता में भले ही हो, परन्तु प्रेम के साम्राज्य में तो अभ्यास का प्रवेश ही सम्भव नहीं है।
—सत्संग और साधन

56. जिनके सम्बन्ध मात्र में ही देहाभिमान गल जाता है, उनके प्रेम की प्राप्ति में भला देहादि की क्या अपेक्षा होगी ?
—सत्संग और साधन

57. 'प्रेम' में तो अपने-आपको मिटाना होता है और 'सेवा' के लिए अपना सब कुछ देना होता है। जो अपने-आपको मिटा नहीं सकता, वह प्रेम नहीं कर सकता और जो अपना सर्वस्व दे नहीं सकता, वह सेवा नहीं कर सकता।
—जीवन-दर्शन

58. कर्म करने की सामर्थ्य और विवेक तो अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त हैं; परन्तु प्रेम-प्राप्ति के लिए तो हमें उस अनन्त के समर्पित होना पड़ेगा।
—जीवन-दर्शन

59. जीवन का मुख्य उद्देश्य प्रेम-प्राप्ति है। वह तभी प्राप्त होगा, जब हम उनकी कृपा का आश्रय लेकर अपने को उन्हीं के समर्पित कर दें। इस बात के लिए चिन्तित न हों कि हम कैसे हैं ? जैसे भी हैं, उनके हैं। वे जैसे भी हैं, अपने हैं। उनकी कृपा स्वयं हमें उनसे प्रेम करने के योग्य बना लेगी।
—जीवन-दर्शन

60. प्रेम के साम्राज्य में प्रेमास्पद से भिन्न कुछ हुआ ही नहीं।
—जीवन-दर्शन

61. त्याग रूपी भूमि में ही प्रेमरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है अर्थात् त्याग का फल ही प्रेम है।
—जीवन-दर्शन

62. 'अहं' और 'मम' का नाश बिना हुए प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता। —जीवन-दर्शन

63. प्रेम-प्राप्ति प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा पर निर्भर है और जिज्ञासा की पूर्ति जिज्ञासा की पूर्ण जागृति पर निर्भर है। —जीवन-दर्शन

64. प्रेम को स्थायी तथा सबल बनाने के लिए चाहरहित होना अनिवार्य है; क्योंकि चाह की उत्पत्ति प्रेम को दूषित करती है। यहाँ तक कि प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है, जब सद्गति की भी चाह न हो। इतना ही नहीं, अचाह होने की भी चाह न हो; क्योंकि चाह की उत्पत्ति भिन्नता उत्पन्न करती है, जो प्रेम में बाधक है। —जीवन-दर्शन

65. प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है, जब प्रेमी में इस भाव का उदय भी न हो कि मैं प्रेमी हूँ; क्योंकि प्रेम प्रेमी को खाकर ही पुष्ट होता है। —जीवन-दर्शन

66. यह प्रश्न नहीं है कि आपका साध्य क्या है। प्रश्न यह है कि आपकी अपने साध्य में प्रियता है या नहीं। जीवन में मूल्य प्रियता का है। —सफलता की कुंजी

67. जिसे अपने लिए किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा है, उसका प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश ही नहीं हो पाता। —दर्शन और नीति

68. प्रेम वही कर सकता है, जो काम से रहित हो। जिसकी प्रसन्नता दूसरों पर निर्भर है, वह प्रेम नहीं कर सकता। —चित्तशुद्धि

69. जिसे किसी भी वस्तु, अवस्था आदि की आवश्यकता है, उसे प्रीति प्राप्त नहीं होती। —चित्तशुद्धि

70. प्रेम एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है, जिसकी निवृत्ति, क्षति या पूर्ति सम्भव नहीं। निवृत्ति कामनाओं की और पूर्ति जिज्ञासा की होती है। प्रेम की तो प्राप्ति ही होती है, पूर्ति या निवृत्ति नहीं। इस दृष्टि से प्रेम प्रेमास्पद की ही अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं।—चित्तशुद्धि

71. प्रेम में निर्दोषता और निर्दोषता में प्रेम ओतप्रोत है अर्थात् प्रेम और निर्दोषता में विभाजन नहीं हो सकता। —चित्तशुद्धि

72. अपने को प्रेमी मानकर प्रेमास्पद को रस प्रदान करना साधन और प्रेमास्पद से कुछ भी माँगना असाधन है। —चित्तशुद्धि

73. प्रेम क्षति, पूर्ति तथा निवृत्ति से रहित है। निवृत्ति 'काम' की होती है, प्रेम की नहीं। पूर्ति 'जिज्ञासा' की होती है, प्रेम की नहीं। क्षति 'सुखभोग' की होती है, प्रेम की नहीं। प्रेम की तो उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है। —चित्तशुद्धि

74. कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर ही प्रेम की प्राप्ति होती है। —चित्तशुद्धि

75. चाहरहित हुए बिना प्रीति का उदय होता ही नहीं। इस दृष्टि से प्रीति की भूमि बन्धन से रहित है अथवा यों कहो कि मुक्ति ही प्रीति का उद्‌गम-स्थान है। —चित्तशुद्धि

76. प्रीति में ही समस्त साधनों की समाप्ति है। प्रीति के बिना कभी किसी को रस की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। उसके बिना खिन्नता, क्षोभ, क्रोध, राग आदि विकारों का अन्त हो ही नहीं सकता। —चित्तशुद्धि

77. प्रीति एक में दो और दो में एक का दर्शन कराती है अथवा यों कहो कि एक और दो की गणना से विलक्षण है। उसमें भेद और भिन्नता की तो गन्ध ही नहीं है। —चित्तशुद्धि

78. प्रीति ऐसी निर्मल धारा है कि वह किसी में आबद्ध नहीं रहती, अपितु सभी को पार करती हुई अनन्त में ही समाहित हो जाती है। —चित्तशुद्धि

79. (1) यह (संसार) जो कुछ है, वह उनका है अर्थात् प्रेम पात्र का है—यह प्रेम की प्रथम अवस्था है। (2) यह जो कुछ है, वह उनका ही स्वरूप है -यह प्रेम की द्वितीय अवस्था है। इस अवस्था में सृष्टि मिटकर प्रेमपात्र का स्वरूप प्रतीत होता है अर्थात् संसार का भाव मिट जाता है। (3) प्रेम की जो तीसरी अन्तिम अवस्था है, वह किसी प्रकार कही नहीं जा सकती। सिर्फ यह संकेत किया जा सकता है कि प्रेमपात्र के सिवाय और कुछ कभी हुआ ही नहीं। —सन्त-समागम 1

80. जो अपने प्रेम-पात्र को अपने में अनुभव करते हैं, उनको वियोग का दु:ख उठाना नहीं पड़ता। अपने से भिन्न कितना ही समीप क्यों

न देखिए, फिर भी वियोग अवश्य होगा। अत: प्रेम-पात्र को अपने में अनुभव करने से उनसे स्थायी संग हो जाता है। प्रेमपात्र को अपने से भिन्न में वही देखते हैं, जो विषयों की सत्ता का त्याग नहीं कर सकते। इसी कारण विषयी प्रेम-पात्र की खोज करने के लिए संसार में भटकता है। —सन्त-समागम 1

81. यह भली प्रकार समझ लो कि प्रेम किसी व्यक्ति से नहीं होता। व्यक्तियों से तो राग-द्वेष ही हो सकता है, और त्याग भी किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं होता। 'त्याग' कुल संसार का और 'प्रेम' जो संसारातीत है, उससे होता है, अथवा 'त्याग' शरीर का और 'प्रेम' जो शरीर से परे है, उससे होता है। —सन्त-समागम 1

82. एक काल में, एक हृदय में दो स्वतन्त्र सत्ताएँ नहीं ठहर सकतीं। प्रेम-पात्र के आते ही प्रेमी की सत्ता का अन्त हो जाता है। प्रेमी के रहते हुए प्रेमपात्र आ नहीं पाता। सिर्फ माने हुए नाते के आधार पर हृदय कभी-कभी भावावेश से भर जाता है, जो वास्तव में प्रेम नहीं कहा जा सकता। —सन्त-समागम 1

83. अभिलाषी स्वयं अभिलाषा को अपने स्वरूप में अनुभव करता है, जिस प्रकार एम०ए० का अभिलाषी एम०ए० होने पर 'मैं एम०ए० हो गया' ऐसा अनुभव करता है, अर्थात् प्रेमी प्रीतम को अपने में भिन्न नहीं पाता। प्यारे, प्रीतम जब रुचि के स्वरूप में होता है, तब प्रेमी कहलाता है। रुचि के पूर्ण होने पर प्रेमी 'प्रीतम' हो जाता है। प्रेमी और प्रीतम के समान ही 'अपूर्ण' तथा 'पूर्ण' को समझो।........ पूर्ण की अभिलाषा ही अपूर्णता है। —सन्त-समागम 1

84. गहराई से देखो, अपने समान और कोई प्रिय नहीं। उस अत्यन्त प्रिय अपने में ही अपने प्रेम-पात्र का अनुभव करना सच्चा सम्बन्ध है। क्रिया तथा भाव द्वारा किया हुआ सम्बन्ध केवल व्यापार है, अथवा यों कहो कि मानी हुई अहंता के जीवित रखने का उपाय है। —सन्त-समागम 1

85. जो प्राणी अपने से भिन्न में अपने प्रेम-पात्र को देखते हैं, उनका प्रेम-पात्र से योग नहीं होता, बल्कि संयोग होता है। —संत-समागम 1

86. प्रेम-पात्र आने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं; क्योंकि वे केवल स्थान न मिलने के कारण नहीं आ पाते। प्यारे, प्रेमी से अधिक प्रेम-पात्र को प्रेमी की आवश्यकता है; क्योंकि प्रेमी के सिवाय और कहीं संसार में प्रेम-पात्र को स्थान नहीं मिलता। —सन्त-समागम 1

87. यद्यपि प्रत्येक प्राणी में प्यार उपस्थित है, परन्तु स्वीकृति मात्र को सत्ता मान लेने से प्यार-जैसा अलौकिक तत्त्व भी सीमित हो जाता है। सीमित प्यार संहार का काम करता है, जो प्यार के नितान्त विपरीत हैं; जैसे देश के प्यार ने देशों पर, सम्प्रदाय के प्यार ने अन्य सम्प्रदायों पर, जाति के प्यार ने अन्य जातियों पर अत्याचार किया है।

—सन्त-समागम 2

88. यदि प्रेम पात्र के प्रेम को चाहते हो तो सब प्रकार से उनके हो जाओ। ऐसा करने पर भिन्न-भिन्न प्रकार के साधनों की खोज नहीं करनी पड़ेगी। —सन्त-समागम 2

89. प्रेमी तथा प्रेम पात्र के मिलने के लिए किसी तीसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् प्रेमी स्वतन्त्रतापूर्वक प्रेम-पात्र से मिल सकता है। —सन्त-समागम 2

90. अपनत्व साधन है और प्रेम साध्य है। प्रेमी अपनत्व के बल से प्रेम-पात्र को पाता है। —सन्त-समागम 2

91. त्याग तथा प्रेम -ये दोनों ही एक वस्तु हैं।......... बेचारा कामनायुक्त प्राणी त्याग तथा प्रेम का आस्वादन नहीं कर पाता।
—सन्त-समागम 2

92. प्रेम अपने से होता है, भिन्न से नहीं। गहराई से देखो, जिसका किसी प्रकार भी त्याग हो सकता है, उससे प्रेम नहीं हो सकता। प्रीति उसी से होती है, जिसका त्याग नहीं हो सकता।
—सन्त-समागम 2

93. मोह द्वारा माने हुए सभी सम्बन्धों का विच्छेद होने पर सर्वसमर्थ प्रेम पात्र से अपनत्व स्वत: हो जाता है। अपनत्व होते ही प्रीति की गंगा लहराने लगती है। —सन्त-समागम 2

94. कामनायुक्त प्राणियों से प्रेम की आशा परम भूल है।
—सन्त-समागम 2

95. प्रेमी तथा प्रेमपात्र के बीच में केवल चिन्तन ही रुकावट है, जो दोनों को मिलने नहीं देता। —सन्त-समागम 2

96. जिस प्रकार नदी का शुद्ध जल किसी गड्ढे में आबद्ध होकर अनेक विकार उत्पन्न करता है, उसी प्रकार स्नेह किसी शरीर, वस्तु या अवस्था में आबद्ध होकर मोहयुक्त अनेक विकार उत्पन्न करता है। —सन्त-समागम 2

97. भगवत्-प्रेम का महत्त्व है, भगवत्-दर्शन का कोई महत्त्व नहीं। भगवान् रोज दिखें और प्यारे न लगें तो तुम्हारा विकास नहीं होगा। भगवत्-विश्वास, भगवत्-सम्बन्ध और भगवत्-प्रेम का महत्त्व है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

98. कामी कामिनी को प्रेम नहीं करता। वे एक-दूसरे को नष्ट करते हैं, खा जाते हैं। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

99. एकमात्र प्रभु को अपना मानना और कुछ नहीं चाहना -यही प्रेम प्राप्त करने का उत्तम साधन है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

100. प्रेम में प्रेम का ही आदान-प्रदान है; कारण कि प्रेम के बदले में प्रेम ही हो सकता है, कुछ और नहीं।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

101. प्रेम की प्राप्ति में जीवन की पूर्णता निहित है, जो आस्तिकवाद की पराकाष्ठा है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

102. प्रियता निष्कामता के बिना विभु नहीं होती। सीमित प्रियता आसक्तियों की जननी है और असीम प्रियता में ही प्रेम का प्रादुर्भाव होता है, जो वास्तविक जीवन है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

103. प्रेम जो होता है, इस बात पर नहीं होता है कि वह कैसा है, प्रत्युत् इस बात पर होता है कि वह अपना है। वह कैसा है -इस बात की जरूरत तब होती है, तब उससे हमें कुछ लेना हो। यानी, अपने सुख के लिए आदमी सोचता है कि अमुक वस्तु कैसी है, अमुक व्यक्ति कैसा है। —संतवाणी 8

104. जिसे कुछ नहीं चाहिए और जिसके पास अपना करके कुछ नहीं है, वही प्रेम दे सकता है। और जिसके पास सब कुछ है, वही केवल प्रेम से प्रसन्न हो सकता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो आपके प्रेम का पात्र कौन होगा ? जिसके पास सब कुछ हो और

जिसे कुछ नहीं चाहिए। और प्रेम दे कौन सकता है ? जिसके पास कुछ न हो और जिसे कुछ नहीं चाहिए। .... तो प्रेम देने के लिए दो बातें जरूरी हो गयीं -मेरे पास मेरा करके कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए। और तीसरी बात -जिसको प्रेम देना है, वही मेरा अपना है, और कोई मेरा अपना नहीं है।

—संतवाणी 8

105. जो सचमुच नित्य वर्तमान है, वह परमात्मा अपने को और जो सदा-सर्वदा नहीं है, उस (संसार) को भी प्रकाशित करता है। पर परमात्मा की प्रीति, जो वास्तव में नहीं है, उस (संसार) की निवृत्ति में और जो है, उस (परमात्मा) की प्राप्ति में समर्थ है। इसलिए भगवत्-प्रीति का महत्त्व भगवान् से अधिक है।

—संत-सौरभ

106. भोगी मनुष्य प्रेम का अधिकारी नहीं होता। वह तो सेवा का अधिकारी है। —संत-सौरभ

107. प्रेमी का मन, इन्द्रियाँ आदि कुछ भी भौतिक नहीं रहते; क्योंकि भगवान् स्वयं जिस चिन्मय प्रेम की धातु से बने हैं, उसी से उनका प्रेमी, उनका दिव्य धाम और सब कुछ बने हैं। —संत-सौरभ

108. बोध के बाद प्रेम होना असंगत नहीं है। इसी में तो सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म लीलामय परमेश्वर के सगुण-साकार रूप की सार्थकता है। प्रेम के अतिरिक्त सगुण ब्रह्म के होने में कोई कारण ही नहीं है।

—संत-सौरभ

109. प्रेम किसी भी कर्म के अधीन नहीं होता। वह किसी प्रकार की क्रिया में बँधता नहीं कि अमुक प्रकार की क्रिया या व्यवहार का नाम ही प्रेम है। —संत-सौरभ

110. जहाँ प्रेम प्रकट हो जाता है, वहाँ इन्द्रियों के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। —संत-सौरभ

111. प्रेम की कभी पूर्णता नहीं होती। इस कारण प्रेमी को हरेक अवस्था में प्रेम की कमी का बोध होता है। —संत-सौरभ

112. जिस पर विश्वास होता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध होता है, उसी का चिन्तन होता है। और जिसका चिन्तन होता है, उसी में प्रेम होता है। भगवान् पर विश्वास और प्रेम

स्वाभाविक होना चाहिए, किसी प्रकार का जोर डालकर नहीं; क्योंकि प्रयत्नसाध्य वस्तु स्थायी नहीं होतीं। —संत-सौरभ

113. जिस तन से, धन से, बुद्धि से आप संसार में भले आदमी कहलाए, उसी तन-बुद्धि आदि से आप परमात्मा के प्रेमी हो जाएँ, यह सम्भव नहीं है। —संत-सौरभ

114. जब तक प्राणी का शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं छूटता, जब तक वह शरीर को 'मैं' और संसार को अपना मानता है, तब तक गोपी-प्रेम की बात समझ में नहीं आती। —संत-सौरभ

115. जब तक स्थूल, सूक्ष्म या कारण किसी भी शरीर में अहंभाव है, तब तक मनुष्य को गोपी-भाव प्राप्त नहीं होता; अत: वह गोपी-प्रेम का अधिकारी नहीं है। —संत-सौरभ

116. गोपी-भाव प्राप्त करने के लिए वस्तु के संयोग और क्रियाजन्य सुख की तो कौन कहे, चिन्तन तक के सुख का भी त्याग करना पड़ता है। —संत-सौरभ

117. जब तक देहभाव रहता है, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ -ऐसा भाव होता है, तब तक गोपी-चरित्र सुनने और समझने का अधिकार प्राप्त नहीं होता। फिर गोपी-प्रेम क्या है -यह तो कोई समझ ही कैसे सकता है ? —संत-सौरभ

118. ब्रज में प्रवेश हो जाने के बाद भी गोपी-भाव की प्राप्ति बहुत दूर की बात है। दास्यभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभाव के बाद कहीं गोपीभाव की उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गोपी-प्रेम की बात कैसे समझ सकते हैं और कैसे कह सकते हैं ? —संत-सौरभ

119. जिसमें जितनी चतुराई-चालाकी होती है, उतना ही वह प्रेम के राज्य से दूर रहता है और जिसमें जितना भोलापन होता है, उतना ही वह प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश पाता है। —संतवाणी 6

120. आप अपने निकटवर्ती प्रियजनों से पूछिए कि आप हमको बहुत प्यारे लगते हैं, लेकिन हमारे पास जो वस्तु है, वह हम आपको नहीं दे सकते, तो आपको तुरन्त उत्तर मिलेगा कि आप का प्यार भाड़ में जाए।........ केवल प्रियता मात्र से रीझने में प्रभु ही समर्थ

हैं।........संसार भर की आप खोज कीजिए, एक भी आदमी आपको ऐसा नहीं मिलेगा जो आपको यह कहे कि हम आपको अपना मानते हैं, इतने मात्र से आप प्रसन्न हो जाइए। —जीवन-पथ

121. प्रेम के साम्राज्य में कोई भी प्रेमी अपने पास अपनी करके कोई वस्तु नहीं रख सकता। —संतवाणी 5

122. प्रेम कोई अभ्यास नहीं है, कोई अनुष्ठान नहीं है, कोई श्रम-साध्य प्रयोग नहीं है, अपितु मानव मात्र में स्वभाव से मौजूद है। परन्तु उसका बोध कब होता है ? जब मानव आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सुने हुए प्रभु को अपना मान लेता है। —संतवाणी 5

123. आप अपने सुख के लिए कुछ आशा रखते हैं, तब सोचते हैं कि वे (प्रभु) कैसे हैं। यदि आप प्रेमी हैं, तो कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कैसे हैं ! और कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे कहाँ हैं ! कहाँ यह प्रश्न आता है कि वे क्या करते हैं ! चाहे जैसे हों, चाहे जहाँ हों, चाहे कुछ करें, अपने हैं और प्रिय हैं। यह है प्रेम की दीक्षा। —संतवाणी 5

124. अगर किसी के प्रति भी तुम्हारे हृदय में प्रेम की कमी होती है या प्रेम तुम नहीं दे सकते हो, तो तुम प्रभु से तो प्रेम नहीं कर सकते। —संतवाणी 4

125. प्रेमी के हृदय में जब प्रीति की वृद्धि होती है तो उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति आ जाती है। प्रीति कोई ऐसी चीज नहीं है कि आप जब सब काम-धन्धा छोड़ देंगे, तब प्रेम करेंगे। —संतवाणी 3

126. यदि किसी को अपने प्रिय की भूख है कि हमारा कोई प्रिय हो, तो इसका अर्थ है कि उसको सिवाय परमात्मा के और कोई नहीं मिलेगा। जो सभी का प्रिय हो, ऐसा परमात्मा ही हो सकता है। —संतवाणी 3

127. जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर कुछ भी चाहता है तथा भगवान् का भजन करके भगवान् से कुछ भी माँगता है, वह भगवान् के प्रेम का पात्र नहीं होता, यानी उसको भगवान् का प्रेम नहीं मिलता है। उसका कल्याण भी नहीं होता। —संत-उद्बोधन

128. आत्मीयता वही कर सकता है, जो भोग और मोक्ष को फुटबाल बनाकर ठुकरा दे। महँगी है तो इतनी और सस्ती है तो इतनी कि धोखे से, बिना सोचे, बिना समझे एक बार यह कह के चुप हो जाए कि 'प्रभु, निस्सन्देह तुम सदैव मेरे हो', 'तुम सदैव मेरे हो'।

—जीवन-पथ

129. अपने में अपने से भिन्न प्रेमास्पद की स्वीकृति क्या आवश्यक है ? अवश्य है। कारण कि मानव ने अपने ही में पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि को स्वीकार किया है, जो वास्तव में भूलजनित है। भूल अपने में है, तत्त्व में नहीं। भूल का अत्यन्त अभाव तभी हो सकता है, जब अपने ही में अपने प्रेमास्पद को अपनाया जाए। अपने में अपने प्रेमास्पद की स्वीकृति भेद की जननी नहीं है, अपितु भिन्नता की नाशक है।

—मूक सत्संग

130. जिस प्रकार देहाभिमान रहते हुए भोग की रुचि स्वाभाविक है, उसी प्रकार देहाभिमान गल जाने पर प्रीति की लालसा स्वाभाविक है।

—चित्तशुद्धि

131. प्रेम-पात्र का संग करके अचिन्त हो जाओ और सर्वदा अभय रहो। स्मरण, चिन्तन, ध्यान तथा सज्जनता के आधार पर जीवित रहना प्रेम का अधूरापन है, जो किसी भी प्रेमी को शोभा नहीं देता। चिन्तन, ध्यान आदि अथवा 'संग' में बड़ा भेद है। ध्यान आदि से माना हुआ अहंभाव दब जाता है और 'संग' से मिट जाता है; क्योंकि चिन्तन, ध्यान आदि से कुछ-न-कुछ दूरी अवश्य रहती है और 'संग' से किसी प्रकार की दूरी तथा भेद नहीं रहता।

—सन्त-समागम 1

मिली हुई सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तु का दुरुपयोग करना भूल है। अतः मानव मात्र को मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

बुराई (परदोषदर्शन)

1. मेरा यह अनुभव है कि यदि हम अपने साथ बुराई न करते, तो संसार की सामर्थ्य नहीं कि वह हमारे साथ बुराई कर सके।
—प्रेरणा पथ

2. जब-जब मैं सोचता हूँ, तब-तब मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि हे मानव ! तूने अपने साथ जितनी बुराई की है, कोई दूसरा तेरे साथ उतनी बुराई कभी कर ही नहीं सकता। —प्रेरणा पथ

3. बुराई-रहित होते ही भलाई अपने-आप होने लगती है; किन्तु उसका अभिमान नहीं होता। भलाई का अभिमान तो बुराई को जन्म देता है। —प्रेरणा पथ

4. जब तक मानव भूल से अपने को बुरा नहीं बना लेता, तब तक उससे बुराई नहीं होती। —साधन-निधि

5. बुराई-रहित होना सत्संग से साध्य है और भला हो जाना दैवी विधान है। भलाई सीखी नहीं जाती, सिखाई नहीं जाती। बुराई-रहित होने से भलाई स्वत: अभिव्यक्त होती है। —संत-उद्बोधन

6. अपनी भलाई का भास हो जाने पर भी भलाई 'भलाई' नहीं रह जाती। तब सूक्ष्मरूप से बुराई का जन्म हो जाता है।
—संत-उद्बोधन

7. हम किसी दूसरे के प्रति कोई भलाई तथा बुराई कर ही नहीं सकते, जब तक कि अपने को भला या बुरा न बना लें।
—मानव की माँग

8. हम किसी और को कोई हानि पहुँचा ही नहीं सकते, जब तक कि स्वयं का सर्वनाश नहीं कर लेते। —मानव की माँग

9. यदि हम अपना कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण चाहते हैं तो यह अनिवार्य हो जाता है कि हम दूसरों में तथा अपने में बुराई की स्थापना न करें। —मानव की माँग

10. जो व्यक्ति कभी किसी को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता, वह प्रकृति के विधान से अजातशत्रु हो जाता है।

—संतवाणी 6

11. जब उसके साथ कोई बुराई करता है, तब अपने को निर्दोष मानकर बुराई के बदले में बुराई करने के लिए अपने को बुरा बनाता है। पर उसे इस बात का स्वयं पता नहीं रहता कि बुराई का प्रतिकार करने के लिए मैं स्वयं बुरा हो गया। —साधन-निधि

12. बुराई का चिन्तन बुराई से अधिक बुरा है; क्योंकि चिन्तन के अनुसार कर्ता का स्वरूप बन जाता है। —संतपत्रावली 1

13. प्रत्येक बुराई का उत्तर भलाई से दो अथवा सहन करो और मौन हो जाओ; क्योंकि बुराई का उत्तर बुराई से देनां पशुता है।

—संतपत्रावली 1

14. बुराई को बुराई जानकर न करना और भलाई को भलाई जानकर करना साधन है। परन्तु किसी भी प्रलोभन से प्रेरित होकर की हुई भलाई और किसी भय से भयभीत होकर त्यागी हुई बुराई वास्तव में साधन के रूप में असाधन है। —सत्संग और साधन

15. जो किसी के साथ बुराई नहीं करता, उसका भला अपने-आप हो जाता है।

—दर्शन और नीति

16. प्राकृतिक नियमानुसार किसी को भला बनाने का उपाय है -उसके प्रति भलाई करना, उसे बुरा न समझना, उसका बुरा न चाहना और उसके प्रति किसी प्रकार की भी बुराई न करना।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

17. यह नियम है कि जो अपने को धोखा नहीं देता, वह दूसरों को धोखा दे ही नहीं सकता अर्थात् जो बुराई प्राणी अपने प्रति करता है, वही दूसरों के प्रति भी करता है। इतना ही नहीं, हम अपने प्रति कोई बुराई न करें तो दूसरों की की हुई बुराई का प्रभाव हम पर हो ही नहीं सकता।

—चित्तशुद्धि

18. प्राकृतिक नियम के अनुसार कोई किसी के साथ भलाई तथा बुराई करे तो उसका प्रभाव सारे विश्व के साथ हो जाता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक प्रवृत्ति का प्रभाव अखिल लोक-लोकान्तर तक

पहुँचता है; क्योंकि सब कुछ किसी एक से ही सत्ता पाकर एक में ही स्थित है अर्थात् सब का प्रकाशक एक ही है, जो अनन्त है। प्राणी जो कुछ करता है, वह उसी के प्रति होता है और उसकी प्रतिक्रिया भी उसी से होती है। —चित्तशुद्धि

19. अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति बुराई को बुराई जानता है। —चित्तशुद्धि

20. बुराई का त्याग होने पर अच्छाई उत्पन्न होती है। अच्छाई किसी से सीखी नहीं जाती। —सन्त-समागम 1

21. बड़ी-से-बड़ी अच्छाई अभिमान आने पर बुराई में बदल जाती है। —सन्त-समागम 2

22. जानी हुई बुराई छोड़ दो तो तुम्हें सब कुछ मिलेगा -शान्ति, मुक्ति, भक्ति। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

23. बुराई करने के लिए हमें अपने को स्वयं बुरा बनाना पड़ेगा। किसी के द्वारा की हुई बुराई से हमारी उतनी क्षति नहीं हो सकती, जितनी स्वयं को बुरा बनाने से होती है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

24. अच्छाई जो है, वह दैवी है, वह मनुष्यकृत नहीं है, बुराई मनुष्य की भूल से होती है। —संतवाणी 8

25. बुरा कहलाने का भय और सज्जन कहलाने का प्रलोभन जब तक रहेगा, तब तक चित्त शुद्ध नहीं हो सकता। यदि बुराई हो तो उसका त्याग करना है। हमें कोई बुरा न समझे -इससे हम भले हो नहीं जाते। भले तो बुराई के त्याग से ही हो सकते हैं। —चित्तशुद्धि

26. सबसे बड़ा आदमी, जिसको सुपरमैन, अतिमानव कहें, कौन है ? जिसके जीवन में किसी प्रकार की बुराई नहीं है, वह सबसे बड़ा आदमी है। किसके जीवन में बुराई नहीं होती ? जो सचमुच कभी किसी से कुछ नहीं चाहता। —संतवाणी 7

भक्त

1. भक्त वह है, जो केवल भगवान् को ही अपना मानता है। भगवान् मिलें न मिलें, उनकी इच्छा। उनसे कुछ लेना नहीं है। केवल भगवान् को अपना मान लेना ही भगवान् को प्रिय है। शान्ति, मुक्ति से भी बढ़ कर भक्ति है। —संत-उद्‌बोधन
2. भक्त वह बनता है, जो जीवन्मुक्ति को ठुकरा देता है। —संतवाणी 4
3. भक्ति स्वतन्त्र इसलिए है कि जगत् का आश्रय उसे नहीं चाहिए। भगवान् से भी उसे कुछ नहीं चाहिए। —संत-उद्‌बोधन
4. आत्मीयता वही कर सकता है, जो भोग और मोक्ष को फुटबाल बनाकर ठुकरा दे। —जीवन-पथ
5. प्रेम भी भिन्न से नहीं होता और मुक्ति में भिन्न का अस्तित्व ही नहीं रहता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ वास्तविक मुक्ति है, वहीं पूर्ण भक्ति है। —मानव की माँग
6. जिसमें अनन्त सौन्दर्य हो, अनन्त ऐश्वर्य हो, अनन्त माधुर्य हो, उसको रस देने के लिए किसी गुण-विशेष की अपेक्षा नहीं होती। केवल इस बात की अपेक्षा होती है कि वे हम को प्यारे लगें। और किसी के प्यारा लगने के लिए इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है कि हम उसे अपना मानें। —जीवन-पथ
7. भक्ति और मुक्ति का विभाजन नहीं हो सकता। कारण कि जो मुक्त है, वही भक्त हो पाता है और जो भक्त है, वही संसार से मुक्त है। शरीर और संसार से मुक्त हुए बिना क्या कोई केवल प्रभु को अपना मान सकता है और क्या प्रभु का होकर रह सकता है ? कदापि नहीं। —संत-उद्‌बोधन

8. सिद्धान्त तो यह है कि चाहे मुक्त होकर भक्त हो अथवा भक्त होकर मुक्त हो, वास्तविक प्रेमी न तो भोग चाहता है और न मोक्ष।
—मानव की माँग

9. भक्त की दृष्टि में भगवान् के सिवा और किसी की सत्ता नहीं रहती। वह सोचता है कि आज हमारे मन की बात नहीं हुई तो इसका अर्थ है कि वह भगवान् के मन की हुई।
—सन्त-समागम 2

10. जिसको भगवान् का होकर रहना है, उसके लिए भक्त होना अनिवार्य है। यह नियम है कि जो जिसका भक्त हो जाता है, उसको उसके बिना कल नहीं पड़ती। उसमें स्वाभाविक व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है। —सन्त-समागम 2

11. भक्त तथा जिज्ञासु वर्ण-आश्रम में होते हुए भी वास्तव में वर्ण-आश्रम से अतीत ही होते हैं। —सन्त-समागम 2

12. जब प्राणी संसार से विभक्त हो जाता है, तब वह भक्त अपने-आप हो जाता है। —सन्त-समागम 2

13. भक्त के हृदय में जैसी रुचि विद्यमान है, उसके अनुरूप भगवान् का प्राकट्य अपने-आप होगा। भक्त का केवल यही परम धर्म है कि वह सद्भावपूर्वक उनका हो जाए। —सन्त-समागम 2

14. अपनत्व का बल सभी बलों से श्रेष्ठ है। अपनत्व हो जाने पर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। अपनत्व का हो जाना ही भक्ति की दृष्टि से परम पुरुषार्थ है। —सन्त-समागम 2

15. सच्चा भक्त वही है, जो केवल अपने प्रेम पात्र के अतिरिक्त अन्य किसी की ओर नहीं देखता; क्योंकि भक्त की दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती, अर्थात् भक्त के हृदय में से संसार के सभी सम्बन्ध मिट जाते हैं। —सन्त-समागम 2

16. जो साधक सुने हुए प्रभु को अर्थात् जिसे इन्द्रिय-दृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से नहीं देखा है, केवल अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर अपना मान लिया है, उसमें जो आत्मीयता स्वीकार कर ली है, यह मान लिया है कि वे अपने हैं -इसी का नाम 'भक्ति' है। —संतवाणी 5

17. जिसको लोग मुक्ति कहते हैं, वह भक्ति का सहयोगी साधन है।
—संतवाणी 5

18. भक्त का अर्थ यह नहीं है कि भक्त को भगवान् से कुछ लेना है। जिसे भगवान् से कुछ लेना है, वह तो भक्त है ही नहीं।
—संतवाणी 5

19. प्रभु को अपना वह मानता है, जिसको भोग और मोक्ष नहीं चाहिए।
—संतवाणी 5

20. भक्त होने पर भक्ति आएगी; क्योंकि अहंता के अनुरूप प्रवृत्ति होती है।
—सन्त-समागम 2

21. भक्त के जीवन में भय तथा चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है।
—सन्त-समागम 2

प्राकृतिक नियमानुसार आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति मिली हुई वस्तुओं के सदुपयोग में निहित है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायणता में ही दरिद्रता का नाश है। मिली हुई वस्तुओं को व्यक्तिगत मान लेना अपने को वस्तुओं की दासता अर्थात् लोभ में आबद्ध करना है। लोभ की उत्पत्ति होते ही दरिद्रता अपने-आप आ जाती है। पर इस रहस्य को वे ही विज्ञानवेत्ता जानते हैं, जिन्होंने उस विधान की खोज की है, जिससे वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि निर्लोभता के बिना आर्थिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है।

भय

1. प्राकृतिक नियमानुसार भयभीत उन्हीं को होना पड़ता है, जो अपने से निर्बलों को भय देते हैं। —संत-उद्बोधन
2. भयभीत प्राणी ही दूसरों को भयभीत करता है। जो अभय हो जाता है, वह किसी को भयभीत नहीं करता। —सफलता की कुंजी
3. अनादर का भय जीवन में तभी तक बना रहता है, जब तक हम अपनी दृष्टि में आदर के योग्य नहीं होते। —मानव की माँग
4. भय तथा चिन्ता में आबद्ध प्राणी का विकास नहीं होता, यह प्राकृतिक विधान है। —मूक सत्संग
5. चिन्तित तथा भयभीत होने से साधक की बड़ी ही क्षति होती है; कारण कि चिन्ता और भय से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास होता है। —पाथेय
6. मानव स्वभाव से ही अभय होने की आवश्यकता का अनुभव करता है; किन्तु पराधीनता को पसन्द करने से निर्भय हो नहीं पाता। —सफलता की कुंजी
7. किसी भय से दोष का ऊपर से त्याग भले ही हो जाए, दोष-जनित सुख का राग नाश नहीं होता। उसी का परिणाम यह होता है कि किसी को भय देकर निर्दोष नहीं बनाया जा सकता। कारण कि भय स्वयं ही एक बड़ा दोष है। —दर्शन और नीति
8. यह प्राकृतिक नियम है कि जो किसी को भी भय देता है अथवा दबाता है, उसे स्वयं भी भयभीत होना पड़ता है और उसकी विरोधी शक्ति उसे अवश्य दबाती है। —चित्तशुद्धि
9. प्रलोभन के रहते हुए भय-रहित होना असम्भव है; क्योंकि प्रलोभन उस परिस्थिति से सम्बन्ध जोड़ देता है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। —चित्तशुद्धि
10. सुख की आशा में दुःख का भय निहित है। —चित्तशुद्धि

11. जब व्यक्ति यह स्वीकार कर लेता है कि जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधान से हो रहा है, तब प्रत्येक परिस्थिति में वह निश्चिन्त तथा निर्भय रहता है। —चित्तशुद्धि
12. संसार का भय उसी समय तक जीवित रहता है, जब तक अपनी पूर्ति के लिए संसार की आवश्यकता होती है। —सन्त-समागम 2
13. जो अपने से निर्बल को भयभीत नहीं करता, उसे अपने से सबल का भय कभी नहीं होता; क्योंकि प्राकृतिक विधान के अनुसार व्यक्ति जो देता है, वही पाता है। —सन्त-समागम 2
14. संयोग का रस वियोग का भय उत्पन्न करता है। —सन्त-समागम 2
15. दुःख डरने से दूना और न डरने से आधा रह जाता है। —सन्त-समागम 2
16. देहाभिमान में ही समस्त भय निहित हैं। —साधन-तत्त्व
17. ममता छोड़ने से भय का और कामना छोड़ने से दरिद्रता का नाश हो जाता है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
18. भय तो उसको होता है, जो शरीर और संसार पर विश्वास करता है एवं जिसके पास कुछ होता है। जिसके पास अपना कुछ भी नहीं होता, जो सर्वस्व भगवान् को सौंप चुका है, उसको भय क्यों होगा ? —संत-सौरभ
19. जो यह अनुभव करता है कि संसार में मेरा कुछ है, वह कभी भी अभय नहीं होगा; उसे तो भय लगा ही रहेगा। जिसने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु मुझ में हैं, मेरे हैं, अभी हैं, उसको भय नहीं होगा। जिसके पास कुछ भी नहीं है, उसको भी भय नहीं होगा; क्योंकि उसके पास कुछ भी नहीं है और उसको कुछ चाहिए भी नहीं। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे कहाँ से भय होगा ? —संतवाणी 7
20. अन्यायकर्ता कितना ही सबल हो, उससे भयभीत नहीं होना है। उसके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करना है। यहाँ तक कि प्रसन्नता और धीरजपूर्वक अपने प्राणों तक की आहुति देकर अन्याय की अस्वीकृति का परिचय देना है। —दर्शन और नीति
21. जब जीवन में सुख का प्रलोभन नहीं रहता, तब दुःख का भय भी नहीं रहता। —संतवाणी 6

भोजन

1. कुछ महानुभाव जिनसे भोजन बनवाते हैं, उनको (नौकर आदि को) अपने-जैसा भोजन नहीं खिला पाते। भोजन बनाने वाले के मन में भोजन-पान आदि करने का रस प्राय: बना रहता है; किन्तु उसे मिलता है नहीं। अत: उस भोजन में मानसिक दोष आ जाता है। ऐसा भोजन करने से मानसिक अवनति होती है। नौकर से भोजन उनको बनवाना चाहिए, जो अपने समान उसे भी खिला सकें, नहीं तो अपने घर के ही लोगों से बनवाना चाहिए, जिससे भोजन में मानसिक अपवित्रता न आने पाए। भोजन बनाने के लिए वही उचित होता है, जिसका हृदय माता के समान विशाल हो।
—सन्त-समागम 1

2. जो भोजन का संयम नहीं कर सकता, वह वीर्य-रक्षा नहीं कर सकता। —सन्त-समागम 1

3. ब्रह्मचर्य पालने के लिए अस्वाद-व्रत परम अनिवार्य है। रसना-इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करने से वीर्य-रक्षा में सुविधा होती है। वास्तव में सर्व इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य ही 'ब्रह्मचर्य' है। अनावश्यक चेष्टाओं का निरोध करने से ब्रह्मचर्य व्रत स्वाभाविक हो जाता है। —संतपत्रावली 1

4. रुचिकर और सुखकर भोजन में केवल इतना अन्तर है कि रुचि षट्रसों में से किसी रस-विशेष की होती है और सुखकर भोजन में वस्तु-विशेष का आग्रह होता है। रुचिकर आहार शरीर की माँग है और सुखकर आहार स्वाद की आसक्ति है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

5. भोजन वास्तव में यज्ञ है, उपभोग नहीं।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

6. भोजन उन्हीं लोगों का बनाया हुआ स्वास्थ्यकर होता है, जिनसे कर्म, विचार तथा स्नेह की एकता हो।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

7. भोजन की उत्पत्ति तथा उसके पचाने का सम्बन्ध सूर्य से है। इसी कारण दिन के दूसरे पहर के भीतर और रात्रि के प्रथम पहर में भोजन करना हितकर होता है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

8. खाद्य पदार्थों में कुछ वस्तुएँ ऐसी हो सकती हैं, जो स्थूलशरीर के लिए तो उपयोगी हों, किन्तु सूक्ष्मशरीर के लिए हानिकर हों।...... अत: आहार का सम्बन्ध केवल शरीर के अंगों को हृष्ट-पुष्ट करना ही नहीं है, अपितु इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को भी स्वस्थ रखना है। वह तभी सम्भव होगा, जब उस आहार का, जो सूक्ष्मशरीर के लिए हितकर नहीं है, त्याग कर दिया जाए। क्षोभ, असहनशीलता आदि दोषों का सम्बन्ध सूक्ष्मशरीर के अस्वस्थ होने से ही है।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

अपने से वस्तुओं को अधिक महत्त्व देना दरिद्रता का आह्वान करना है। स्वयं-प्रकाश जीवन पर-प्रकाश्य वस्तुओं के अधीन हो जाए, इससे बढ़कर असावधानी और कुछ नहीं है। वस्तुओं की दासता ने ही आवश्यक वस्तुओं के अभाव को जन्म दिया है। अतः वस्तुओं की दासता के नाश में ही आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति निहित है। पर यह रहस्य वे ही तत्त्ववेत्ता जानते हैं, जिन्होंने वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश पाया है।

मन

1. जगत् में जो प्रभु का दर्शन नहीं कर सकता, उसका मन संसार से कभी नहीं हट सकता। —संतवाणी 7
2. जब तक हम जगत् में प्रभु का दर्शन नहीं कर सकते अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तु में प्रभु का दर्शन नहीं कर सकते, तब तक सदा के लिए मन भगवान् में लग जाए, यह बात कभी भी सिद्ध नहीं होती। —संतवाणी 7
3. मन में कोई खराबी होती ही नहीं है। अपनी खराबी ठीक करो, मन ठीक हो जाएगा। —संत-उद्बोधन
4. अपने को देह मानकर कभी भी किसी का मन संसार से अलग नहीं हो सकता। —संत-उद्बोधन
5. यह तो हमारे में सुख-भोग की जो रुचि है, उसी का नाम 'मन' रख दिया है। —संत-उद्बोधन
6. जो वस्तु हमको रुचिकर होगी, जिसको हम पसन्द करेंगे, चाहेंगे, मन उसी का चिन्तन करेगा। यानी जहाँ हमारी आवश्यकता होगी, मन वहीं जाएगा। —संत-उद्बोधन
7. मन कर्ता नहीं, करण है। गुण-दोष जो होते हैं, वे सब कर्ता में होते हैं, करण तो केवल उनको दिखा देता है।......मन भी एक दर्पण अथवा थर्मामीटर के समान है। वह तो हमारी असलियत को बताता है। —संत-उद्बोधन
8. यदि मन को भगवान् में लगाना चाहते हो, तो भगवान् के होकर रहो। भगवान् के सिवाय और कुछ भी पसन्द मत करो, और कुछ भी मत चाहो। देखो, फिर मन भगवान् में लगता है या नहीं। —संत-उद्बोधन
9. यदि हम सब कुछ को नापसन्द करके केवल भगवान् को ही पसन्द कर लें, और कुछ न चाहकर केवल भगवान् को ही चाहने

लग जाएँ, तो फिर हमारा मन स्वतः भगवान् में लग जाएगा, हटाने से भी नहीं हटेगा।

—संत-उद्‌बोधन

10. यदि विवेकपूर्वक अपने को देह न स्वीकार किया जाए, तो मन स्वभाव से ही चिन्तन-रहित होकर उस चेतन में विलीन हो जाता है, जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

—संत-उद्‌बोधन

11. प्रेमी और तत्त्वज्ञ दोनों ही बेमन के हो जाते हैं; कारण, उनके पास अपना मन नहीं रहता।

—मानव की माँग

12. जब तक लेश मात्र भी संसार सुखरूप, सत्यरूप और सुन्दर मालूम होता है, तब तक समझना चाहिए कि अभी इस अभागे मन में सत्य की तलाश नहीं हुई।

—संतपत्रावली 1

13. जब तक कोई भी अपने से कम मालूम पड़े, तब तक समझना चाहिए कि मन शुद्ध नहीं हुआ। मन शुद्ध होने पर गुणहीन पुरुष के प्रति भी आदर के भाव होते हैं, जिस प्रकार सूर्य मल-मूत्र को भी अपना प्रकाश देता है।

—संतपत्रावली 1

14. अब तुम्हारा मन तुम्हारा नहीं है। अतः उसकी ओर कभी न देखो। न उसके पीछे दौड़ो और न उसको दबाओ। न उसके संकल्पों को देखो। जब तुम उसकी ओर न देखोगी, तब वह विवश होकर खुद तुम्हारे प्यारे की प्रीति बन जाएगा, जो वास्तव में तुम्हारी वास्तविक सत्ता है-प्रीति।

—पाथेय

15. कार्य की अधिकता से स्वास्थ्य पर प्रभाव हो सकता है, पर मानसिक स्थिति में कोई विकृति नहीं होनी चाहिए। मानसिक विकृति का मूल कारण पराधीनता है अर्थात् जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर हो जाती है, उसी के मन की स्थिति में क्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे मानसिक संतुलन नहीं रहता और फिर मस्तिष्क में अनर्गल ख्याल उठते रहते हैं।

—पाथेय

16. जब तक हम अपना मन अपने ही पास रखना चाहते हैं, तब तक राग तथा क्रोध आदि दोषों से नहीं बच सकते। कारण कि जिनके द्वारा हमारे मन की बात पूरी होगी, उनसे राग हो जाएगा और जो मन की बात पूरी होने में बाधक होंगे, उन पर क्रोध आ जाएगा।

—जीवन-दर्शन

17. जब तक हम केवल अपने ही मन की बात पूरी करते रहेंगे, तब तक कर्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकेंगे। —जीवन-दर्शन
18. चित्त की चंचलता तथा मलिनता का बोध चित्त की एकाग्रता तथा निर्मलता का साधन है; क्योंकि जिस ज्ञान से चित्त के विकारों का बोध होता है, उसी ज्ञान में चित्त को निर्विकार बनाने का सामर्थ्य विद्यमान है; क्योंकि वह ज्ञान जिसकी देन है, वह सर्वसमर्थ है। —चित्तशुद्धि
19. चित्त में अशुद्धि सामर्थ्य के दुरुपयोग से आती है और शुद्धि स्वाभाविक है। —चित्तशुद्धि
20. चित्त स्वरूप से अशुद्ध नहीं है, अपितु व्यक्ति अपनी बनाई हुई अशुद्धि को चित्त की अशुद्धि मान लेता है और फिर चित्त व्यक्ति के अधीन नहीं रहता। उस स्थिति में व्यक्ति चित्त की निन्दा करने लगता है और इस बात को भूल जाता है कि मेरा ही दोष चित्त में प्रतिबिम्बित हो रहा है। —चित्तशुद्धि
21. चित्त स्वरूप से अशुद्ध नहीं है। कारण कि चित्त स्वयं कर्ता नहीं है। —चित्तशुद्धि
22. जब तक प्राणी को चित्त-जैसी कोई वस्तु भासित होती है, तब तक चित्त में कोई-न-कोई अशुद्धि है। जब चित्त सर्वांश में शुद्ध हो जाता है, तब उसका भास नहीं होता। —चित्तशुद्धि
23. साधक असावधानी के कारण स्वयं तो माने हुए सम्बन्धों का त्याग नहीं करता, जिस अनन्त से नित्य सम्बन्ध है, उसको स्वीकार नहीं करता और चित्त से यह आशा और करता है कि वह कहीं न भटके, एक ही में लगा रहे ! भला इसमें चित्त का क्या दोष है ? —चित्तशुद्धि
24. कर्मेन्द्रिय क्रियाशक्ति का भाग है और ज्ञानेन्द्रिय इच्छाशक्ति का भाग है। मन में ये दोनों भाग एकत्रित रहते हैं। क्रियाशक्ति प्राण का भाग है और इच्छाशक्ति ज्ञान का भाग है। मन इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति का समूह है। इसी कारण प्राण के निरोध से मन में स्थिरता और मन के निरोध से प्राण का निरोध हो जाता है। प्राण और मन में बड़ी ही घनिष्ठ एकता है। बुद्धि केवल ज्ञान का प्रतीक है, इसी कारण बुद्धि का निर्णय मन को मान्य होता है। —चित्तशुद्धि

25. कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों मन में एक हो जाती हैं, इसीलिए मन में क्रिया और ज्ञान दोनों ही मालूम होते हैं। मन में जो ज्ञानशक्ति है, वह बुद्धि का अंग है और जो क्रियाशक्ति है, वह प्राण का अंग है। —सन्त-समागम 1
26. जिनसे द्वेष है, उनसे प्रेम करो। जिनसे राग है, उनका त्याग करो। ऐसा करने से मन शान्त हो जाएगा। —सन्त-समागम 1
27. भाव तथा विचार की प्रबलता से मन का निरोध सुगमतापूर्वक होता है। प्राणायाम आदि की आवश्यकता भाव की कमी होने पर होती है।
—सन्त-समागम 1
28. जप से मन का निरोध नहीं होता, बल्कि मन की सफाई होती है।
—सन्त-समागम 1
29. क्रियाजन्य निरोध किसी प्रकार की शक्ति देने वाला अवश्य है, पर शान्ति देने में असमर्थ है। असंगतापूर्वक स्वाभाविक निरोध शक्ति तथा शान्ति दोनों के लिए समर्थ है। —सन्त-समागम 1
30. हठयोग तथा राजयोग में केवल यही अन्तर है कि हठयोग प्रथम प्राण का निरोध करने का प्रयत्न करता है, तथा राजयोग प्रथम मन का। मन के निरोध से प्राण का निरोध अपने-आप हो जाता है और प्राण के निरोध से मन दब जाता है।....... मन का निरोध होने पर छिपी हुई शक्तियों का विकास होने लगता है।
—सन्त-समागम 2
31. जब तक प्राणी अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की खोज करता है, तब तक मन में स्थायी स्थिरता नहीं आती।
—सन्त-समागम 2
32. अकेला मन वास्तव में कभी होता नहीं; क्योंकि मन का जन्म ही तब होता है, जब किसी-न-किसी प्रकार की वासना उत्पन्न हो जाती है। —सन्त-समागम 2
33. मन में निर्मलता आ जाने पर स्थिरता आ जाती है।
—सन्त-समागम 2
34. मन दर्पण की भाँति अपनी दशा का यथार्थ ज्ञान कराता है। अत: उसे बुरा समझना या उसकी निन्दा करना उचित नहीं है।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
35. संसार से हटा लेने पर भगवान् में मन अपने-आप लग जायगा।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

36. मनुष्य स्वयं अलग रहकर अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों को भगवान् में लगाना चाहता है, भूल यहीं से होती है।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

37. भगवान् में आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता करने पर उनमें प्रीति होगी, तब प्रभु की स्मृति जगेगी और सहज ही प्रभु में मन लग जाएगा। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

38. जब तक हम संसार की ममता, आसक्ति और कामनाओं का त्याग नहीं करेंगे, तब तक संसार हमारी छाती पर चढ़ा ही रहेगा। हम चाहेंगे चिन्तन करना भगवान् का, होगा संसार का। हाथ में माला व मुख से नाम लेते रहने पर भी मन संसार में भटकता रहेगा।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

39. मन को जहाँ लगाना चाहते हैं, उसे पसन्द कर लें और जहाँ से हटाना चाहते हैं, उसे नापसन्द कर दें। मन की चंचलता का भास तभी मिलता है, जब हम पसन्द तो संसार को करते हैं और मन भगवान् में लगाना चाहते हैं। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

40. स्वप्न में मन का जैसा स्वरूप है, वैसा सामने आ जाता है।
—संत-सौरभ

41. संसार के सम्बन्ध का जो प्रभाव है, सच पूछो तो उसी का नाम मन है। मन कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। —संतवाणी

42. वास्तव में तो भलाई और बुराई कर्त्ता में होती है, करण में नहीं होती। जब करण में नहीं होती, तब मन कर्त्ता है ही नहीं, वह तो करण है। जब मन कर्त्ता है ही नहीं, तब हम और आप किस न्याय से, किस ईमानदारी से अपने मन को भला और बुरा बतलाते हैं ? हम भले होते हैं, मन भला होता है। हम बुरे होते हैं, मन बुरा होता है। —संतवाणी

43. यदि परमात्मा को तुम अपना मान लो, उनसे सम्बन्ध जोड़ लो तो तुम्हारा मन स्वतः परमात्मा में लग जाएगा। —सन्त-जीवन-दर्पण

44. श्रीकृष्ण में यही तो चमत्कार है कि वे सब के मन को स्वयं खींचते हैं, यह नहीं कि मन को लगाना पड़े। वे अपने-आप खींच लेते हैं; किन्तु कब ? जब उन्हें कोई अपना मान ले, तब।
—संतवाणी 3

ममता

1. ममता के नाश से समता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है।
—जीवन-पथ
2. सेवा करना और अपना न मानना -इससे ममता नाश हो जाती है।
—साधन-त्रिवेणी
3. जिस वस्तु को हम अपना मान लेते हैं, वह दूर हो या समीप, उससे संयोग सिद्ध हो जाता है।
—मानव की माँग
4. किसी को अपना न मानना अथवा सभी को अपना मानना एक ही बात है। इसी कारण विचारशील व्यक्ति सुखभोग के लिए किसी को अपना नहीं मानते, और सेवा करने के लिए सभी को अपना मानते हैं।
—मानव की माँग
5. शरीर सृष्टिरूपी सागर की एक बूँद के तुल्य है। जब सागर व्यक्ति-गत नहीं है तो भला उसकी बूँद अपनी कैसे हो सकती है ? अतः शरीर की ममता भी भूल ही है।
—मानव-दर्शन
6. असत् की ममता के समान और कोई जड़ता नहीं है, और सत् की जिज्ञासा के तुल्य और कोई सजगता नहीं है।
—मानव-दर्शन
7. जो कभी है, कभी नहीं है, उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसकी सेवा कर सकते हैं; किन्तु उसको अपना नहीं मान सकते।
—मानव-दर्शन
8. मिली हुई वस्तुओं में ममता करना और दाता को अपना न मानना, यह कहाँ तक न्याययुक्त है ?
—मानव-दर्शन
9. ममता मिले हुए ज्ञान के अनादर से उत्पन्न होती है, प्राकृतिक दोष नहीं है।
—साधन-निधि
10. ममता तो साधक को सेवा से विमुख ही करती है। शरीर की ममता परिवार के हित से, परिवार की ममता समाज के हित से, समाज की ममता देश के हित से, और देश की ममता विदेश के हित से विमुख कर देती है।
—साधन-निधि

11. ममता जिसमें उत्पन्न होती है और जिसके प्रति होती है, दोनों ही के लिए अहितकर है। —साधन-निधि
12. यह प्राकृतिक नियम है कि जो अपनी नहीं है, वह अपने लिए भी नहीं है। अपना ही अपने लिए होता है। —साधन-निधि
13. मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, यह निर्णय मानव को अपने ही द्वारा करना है। —मूक सत्संग
14. प्राप्त वस्तु आदि की ममता ही अप्राप्त की कामना को जन्म देती है और कामनायुक्त मानव ही अहंकृति में आबद्ध होता है। —मूक सत्संग
15. सर्वांश में ममता का नाश होने पर कामना का नाश और कामनाओं के नाश में ही तादात्म्य का नाश निहित है। —मूक सत्संग
16. किसी भी वस्तु को बिगाड़ने का तथा उसको अपना समझने का किसी को लेशमात्र भी अधिकार नहीं है। —संतपत्रावली 1
17. जब तुम अपने में अपना कुछ न पाओगी, तब सब कुछ स्वतः हो जाएगा। —पाथेय
18. जिस वस्तु से अपनी ममता हट जाती है, वह वस्तु अपने-आप प्रेमास्पद की सेवा के योग्य बन जाती है; क्योंकि सभी निर्बलताएँ तथा अपवित्रताएँ ममता की मलिनता से उत्पन्न होती हैं। —पाथेय
19. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समष्टि शक्तियाँ हैं। उनमें ममता कर लेना ही उन्हें दूषित करना है, और उनकी ममता से रहित हो जाना ही उनको शुद्ध करने का सुगम, सहज तथा अन्तिम उपाय है। —संतपत्रावली 2
20. शान्त तथा मौन होकर एकान्त में अपने ही द्वारा स्वयं निज ज्ञान के प्रकाश में अनुभव करो कि किसी भी काल में मेरा कुछ नहीं हैं। सर्वांश में ममता का नाश होते ही निष्काम तथा असंग होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। —संतपत्रावली 2
21. 'मेरा कुछ नहीं है' -यह ज्ञान 'पर' और 'स्व' में विभाजन कर देता है, जिसके होते ही चिन्मय अविनाशी जीवन से स्वतः एकता होती है। —संतपत्रावली 2

22. जिस वस्तु के प्रति अपनी ममता रहती है, उसमें अनेक दोष आ जाते हैं। ममता करने योग्य तो केवल वे ही हैं। —पाथेय

23. प्राणी अपने को देह मान कर ही किसी शरीर के प्रति ममता कर बैठता है, जो वास्तव में प्रमाद है, अनन्त में देह और देही का विभाजन नहीं है। जिसमें देह-देही का विभाजन नहीं है, उसी में अपनी ममता करनी है अर्थात् उसी को अपना मानना है और सर्वदा उसी की प्रीति होकर रहना है।

—पाथेय

24. जिनसे हमारी ममता होती है, क्या उनका विकास हो सकता है ? कदापि नहीं।
—जीवन-दर्शन

25. ममता-रहित उदारता ही त्याग को पोषित करती है। परन्तु ममतायुक्त उदारता देने वाले में अभिमान और लेने वाले में लोभ तथा अधिकार-लालसा को जन्म देती है।
—पाथेय

26. ममता के नाश के लिए ही 'सेवा' की जाती है, और 'अहं' तथा 'मम' का अन्त करने के लिए ही 'त्याग' अपनाया जाता है।
—पाथेय

27. ममता करने मात्र से शरीर का कोई हित नहीं होता और ममता के त्याग से कोई अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, ममता किसी वस्तु को सुरक्षित भी नहीं रख सकती।
—जीवन-दर्शन

28. यदि हमने 'शरीर' को अपना न माना होता तो कभी काम की उत्पत्ति न होती; 'मन' को अपना न माना होता तो कभी अशुद्ध संकल्प उत्पन्न न होते और 'बुद्धि' को अपना न माना होता तो कभी विवेक का अनादर न होता।
—जीवन-दर्शन

29. जब तक हम किसी से ममता नहीं करते, तब तक कामनाओं का जन्म ही नहीं होता। देह को अपना मानने पर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं।
—जीवन-दर्शन

30. जिनसे ममता है, उनके अधिकार की रक्षा करने से ही उनके प्रति राग की निवृत्ति हो सकती है और अपने अधिकार के त्याग से ही उनसे असंगता हो सकती है।
—जीवन-दर्शन

31. यह नियम है कि जिससे अपनी ममता न हो और जिसका उपयोग सभी के हित में हो, उसको सभी अपना मान लेते हैं। अतः जब

हमारी देह में ममता न रहेगी और देह का उपयोग सभी के हित में होगा, तब सभी उस देह को अपने देह के समान सुरक्षित रखने का प्रयत्न करेंगे। उस समय लेना भी देना बन जाएगा। देह आदि वस्तुओं से ममता करके देना भी लेना हो जाता है।

—जीवन-दर्शन

32. वस्तुओं की ममता अपने को संग्रही बनाती है और समाज में दरिद्रता उत्पन्न करती है, जो विप्लव का हेतु है। व्यक्तियों की ममता अपने को मोही बनाकर आसक्त कर देती है और जिनसे ममता की जाती है, उनमें अधिकार-लालसा जाग्रत करती है।

—जीवन-दर्शन

33. किसी को भला और बुरा मानकर उसकी ममता मिटाना सम्भव नहीं है। ममता उसी की मिट सकती है, जिसको भला अथवा बुरा न मानें। किसी को भला-बुरा समझना उससे सम्बन्ध जोड़ना है।

—दर्शन और नीति

34. जब तक प्राणी अपने को व्यक्तित्व, कुटुम्ब, वर्ग, जाति और देश की ममता में आबद्ध रखता है, तब तक उसका जीवन विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होता। —दर्शन और नीति

35. शरीर की ममता ने विश्व की आत्मीयता का हनन किया है। उसका बड़ा ही भयंकर परिणाम यह हुआ है कि प्रीति की एकता पर दृष्टि नहीं रही। —दर्शन और नीति

36. जिस वस्तु से ममता नहीं रहती, वह अनन्त को समर्पित हो जाती है। यह नियम है कि जो वस्तु अनन्त को समर्पित हो जाती है, वह अनन्त की कृपा-शक्ति से स्वतः शुद्ध हो जाती है। —चित्तशुद्धि

37. जो अपने ही हैं अथवा जो अपने से भिन्न नहीं हैं, उनसे 'प्रेम' हो सकता है; और जिनसे मानी हुई एकता है अथवा जो अपने से भिन्न हैं, उनकी 'सेवा' की जा सकती है, उनसे ममता नहीं की जा सकती। —चित्तशुद्धि

38. अहंताशून्य ममता नहीं होती। —सन्त-समागम 2

39. जिन-जिन वस्तुओं को आप अपना न समझेंगी, वे स्वयं पवित्र होकर भगवान् की सेवा के योग्य बन जाएँगी, यह परम सत्य है।

—सन्त-समागम 2

40. जब तक तुम लेशमात्र भी उन सभी सम्बन्धियों को अपना समझोगी, तब तक उनका सुधार कदापि नहीं हो सकता।
—सन्त-समागम 2

41. ममता सुख लेने का एक उपाय भर है। जिससे जितना अधिक सुख लोगे, उससे ममता तोड़ना उतना ही कठिन होगा।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

42. ममता का त्याग करना होगा, जिज्ञासा की पूर्ति विधान से होगी और प्रियता प्रभु-कृपा से मिलेगी। कर्तव्य न आत्मा का है, न ईश्वर का। वह तो आपका है और उसका मूल मन्त्र है -ममता का त्याग। ममता का नाश करने पर ही हम दूसरा कार्य आरम्भ करेंगे। तभी साधन है और तभी सत्संग है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

43. संसार में मेरा कुछ नहीं है -ऐसे निर्मम होने से तुम्हारे ऊपर संसार का कोई टैक्स नहीं रहेगा। जिसके पास कुछ नहीं, उस पर कोई टैक्स होता है क्या ?
—संतवाणी 8

44. जिससे जातीय एकता नहीं है, उसकी सेवा की जा सकती, उससे ममता नहीं की जा सकती।
—संतवाणी 7

45. आजकल लोग क्या कहते हैं ? ममता कैसे छूटेगी, कामना कैसे मिटेगी ? अजी, ममता अगर अपने-आप छूटती, तो होती ही नहीं। क्यों ? जो चीज आपने बनायी है, उसको कोई और नहीं मिटा सकता।
—संतवाणी 6

46. सोचने लगते हैं कि किसी पोथी को पढ़ेंगे, तब हमारे जीवन में निर्ममता आएगी। किसी गुरु के पास जाएँगे, तब हम निष्काम हो जाएँगे।......... दूसरे लोग परामर्श दे सकते हैं, इस बात का समर्थन कर सकते हैं। पर आपकी ममता आपको छोड़नी है, न अपने-आप मिटेगी और न उसे कोई छुड़ा पाएगा।
—संतवाणी 6

47. वह वस्तु तो अपने-आप मिटेगी, जिसमें ममता है। पर, ममता अपने-आप नहीं मिटेगी।...... अपनी स्वीकृति का नाश अपने ही द्वारा होगा।
—संतवाणी 5

48. निर्ममता से निष्कामता और निष्कामता से असंगता स्वत: प्राप्त होगी।
—संतवाणी 5

49. अगर किसी की गाड़ी फँस गयी हो, तो फँस रही है गाड़ी और दु:खी है वह स्वयं। क्यों ? यह ममता का प्रभाव है।

—संतवाणी 5

50. जिसमें हमारी ममता हो जाती है, वह दूषित हो जाता है। जिसमें हमारी ममता नहीं रहती, वह शुद्ध हो जाता है। —संतवाणी 4

51. कोई भी विचारक, कोई भी समाज-विज्ञानी इस बात को सिद्ध कर ही नहीं सकता कि कोई भी वस्तु और व्यक्ति किसी एक का ही है। तो भाई, पंचायती वस्तु पर पूरा अधिकार जमाना क्या ईमानदारी है ? —जीवन-पथ

52. जिनसे ममता नहीं है, उनका सुधार दुलार तथा प्यारपूर्वक ही सम्भव है, उपेक्षा द्वारा नहीं। जिनसे ममता है, उनका सुधार मोहरहित होने से सम्भव है, क्षुभित होने से नहीं। अपने चित्त का सुधार अपने प्रति घोर न्याय तथा असहयोग से ही सम्भव है, दुलार तथा प्यार से नहीं। —चित्तशुद्धि

53. जो व्यक्ति संसार में किसी भी वस्तु को अपनी मानता है, वह सबसे बड़ा बेईमान और जो व्यक्ति भगवान् को अपना नहीं मानता वह महामूर्ख। —सन्त-जीवन-दर्पण

प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी मनुष्य के पास व्यक्तिगत कोई वस्तु नहीं है। कारण, कि जो शरीर प्राप्त है, वह भी समष्टि भौतिक पदार्थों से निर्मित है। उस मिले हुए शरीर के सदुपयोग द्वारा आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। कारण, कि शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम के सहयोग से ही वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। यदि उनका संग्रह तथा उनसे ममता न की जाए और उनका दुरुपयोग भी न किया जाए, तो मंगलमय विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं। अतः दरिद्रता का अन्त करने के लिए मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग अनिवार्य है।

मानव

1. मानव-जीवन में सबसे बड़ा कलंक यही है कि मानव होकर अपने लिए किसी की आवश्यकता अनुभव करे। —संतवाणी 7
2. यदि निष्पक्ष भाव से हम और आप विचार करें तो मालूम होगा कि पहले मनुष्य बना और पीछे वेद अवतरित हुए।........ वेदों के प्रादुर्भाव से पूर्व आपके मानव-जीवन का निर्माण हुआ है। —संतवाणी 7
3. मानव का निर्माण विधाता ने अपने में से अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर किया है। इस दृष्टि से मानव की उससे जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीयता है। —प्रेरणा पथ
4. यह मानव-जीवन का कलंक है कि उसकी कोई आवश्यकता हो। यह मानव-जीवन का भूषण है कि आप किसी की आवश्यकता हों। —जीवन-पथ
5. मानव-जीवन साधक का जीवन है। मानव कहो अथवा साधक कहो, एक ही बात है। —जीवन-पथ
6. मानव जन्मजात साधक है। —साधन-त्रिवेणी
7. चाह का जन्म अविवेक से होता है। इसी का नाम अमानवता है। अत: अविवेक और अमानवता एक ही बात है। चाह की निवृत्ति विवेक से होती है, और उसी का नाम मानवता है। —मानव की माँग
8. आप सच मानिए, यह मानव-जीवन भोगयोनि नहीं है। यह जीवन प्रेमयोनि है। इस जीवन में ही मनुष्य को प्रेम की प्राप्ति होती है। —संतवाणी 6
9. आत्मा और परमात्मा की 'जिज्ञासा' और अनात्मा की 'कामना' जिसमें है, वही मानव है। —संत-उद्‌बोधन

10. अपनी भूल को मिटाने का दायित्व मानव के रचयिता ने मानव पर ही रखा है। —संत-उद्‌बोधन

11. अपनी कामना से ही मानव आप पराधीन हो गया है। —संत-उद्‌बोधन

12. मानव-जीवन मिलना ही उसकी हम पर अहैतुकी कृपा है। —मानव की माँग

13. अपने को मानव मानकर जिसे हम मानवता कहते हैं, जिज्ञासु मानकर उसी को तत्त्व-जिज्ञासा कहते हैं, भक्त मानकर उसी को प्रिय की लालसा कहते हैं, और विषयी मानकर उसी को आसक्ति कहते हैं। —मानव की माँग

14. मानव-जीवन में एक बड़ी अलौकिक बात है। वह यह है कि यह ऐसी बात की आशा नहीं दिलाता, जिसे आप वर्तमान में प्राप्त नहीं कर सकते, और न किसी ऐसी आशा की ओर ही ले जाता है, जिसकी पूर्ति दूसरों पर निर्भर हो। —मानव की माँग

15. वास्तव में आकृति मानव नहीं है। मानव है -साधनयुक्त जीवन। —मानव की माँग

16. कोई अपने को मनुष्य कहता है तो उसे विचार करना होगा कि मनुष्य मानने से जिस कर्तव्य की प्रेरणा मिलती है, उस कर्तव्य के समूह का नाम ही मनुष्य हुआ, किसी आकृति का नहीं। —मानव की माँग

17. राग-द्वेष से रहित होने पर ही मानव वास्तविक मानव हो सकता है। —मानव की माँग

18. जीवन में दो बातें सभी को अनुभव होती हैं -एक तो 'मैं कर रहा हूँ' और दूसरा 'स्वत: हो रहा है'। इन दोनों का समूह ही मानव-जीवन है। —मानव की माँग

19. कर्तव्यनिष्ठ जीवन ही मानव-जीवन है। —मानव की माँग

20. प्रेम के प्रादुर्भाव में ही मानव-जीवन की पूर्णता निहित है। —मानव-दर्शन

21. प्राकृतिक नियमानुसार ऐसी कोई उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि है ही नहीं, जिसके बिना मानव न रह सके और जो मानव के बिना न रह सके। —मानव-दर्शन

22. संसार भी आपके सामने अधिकार की रक्षा के लिए आता है और भगवान् भी आपसे कहते हैं कि तू मेरी शरण में आ जा। तात्पर्य क्या है ? तुम्हारी माँग संसार को भी है और भगवान् को भी।
—मानव की माँग
23. किसी से शासित रहने के समान मानव-जीवन का और कोई अपमान नहीं है। अपने पर अपना शासन करने पर ही मानव 'पर' के शासन से मुक्त होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।
—मानव-दर्शन
24. मानव में मानवता तभी से आरम्भ होती है, जब यह सुख-दुःख से अतीत जीवन की खोज करता है। इस मौलिक माँग की जागृति से पूर्व मानव प्राणी है, मानव नहीं।
—मानव-दर्शन
25. आस्था और जिज्ञासा मानव में ही होती है।
—मानव-दर्शन
26. दुःख क्या है और क्यों है ? यह प्रश्न मानव का प्रश्न है, प्राणी का नहीं। बेचारे मानवेतर प्राणी तो सुख-दुःख भोगते हैं।
—मानव-दर्शन
27. मिले हुए शरीर का नाम मानव रखना भूल है; कारण कि शरीर कर्म-सामग्री है, और कुछ नहीं।
—साधन-निधि
28. मानव मात्र अपने को साधक स्वीकार करे, यह अनिवार्य है।
—साधन-निधि
29. मानव की स्वाधीनता दूसरों के अधिकार की रक्षा ही में है; अपने अधिकार को पाने में मानव स्वाधीन नहीं है।
साधन-निधि
30. सत्संग मानव से भिन्न किसी अन्य प्राणी के लिए सम्भव ही नहीं है अर्थात् मानव-जीवन में ही सत्संग की उपलब्धि होती है।
—मूक सत्संग
31. मानव के निर्माता को मानव अत्यन्त प्रिय है।
—मूक सत्संग
32. असत् की आसक्ति और सत् की प्रियता असत् और सत् में नहीं हो सकती, अपितु उसी में होती है, जो जाने हुए का आदर अथवा अनादर, तथा मिले हुए का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग, एवं सुने हुए में श्रद्धा अथवा अश्रद्धा करता है। उसका यदि नामकरण आवश्यक है तो उसे 'मानव' कह सकते हैं।
—मूक सत्संग

33. मानव का अपना मूल्य किसी उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था, परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। —मूक सत्संग

34. बोल-चाल, रहन-सहन, आने-जाने की सुविधा-असुविधा के नाम पर हम एक साथ नहीं रह सकते, यह बड़ी ही अमानवता है। इस अमानवता का अन्त तभी होगा, जब मानव में मानवता का संचार हो। —पाथेय

35. अधिकार-लालसा और भेदभाव की भावना ने मानव में मानवता नहीं रहने दी। —पाथेय

36. प्रत्येक मानव मानवता के विकसित होने पर इतना सुन्दर हो सकता है कि उसकी सभी को आवश्यकता हो जाती है और उसे किसी की आवश्यकता नहीं होती। —पाथेय

37. प्रत्येक मानव 'मानव' होने के नाते बड़े ही महत्त्व का है। पर कब? जब किसी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, पद आदि के आधार पर अपना मूल्यांकन न करे। —पाथेय

38. वस्तु तथा व्यक्तियों के सम्बन्ध ने ही मानव को मानव नहीं रहने दिया। —पाथेय

39. मानव उन्हीं के समान अद्वितीय है। —पाथेय

40. निर्माता को मानव अत्यन्त प्रिय है। यह उसका निज खिलौना है। इसका निर्माण उसने अपनी मौज के लिए ही किया है। पर यह दीनतावश उससे विमुख हो उसकी वाटिका में खेलने लगा है। —पाथेय

41. मानव-जीवन सत्संग के लिए ही मिला है, जो एकमात्र निर्ममता, निष्कामता एवं आत्मीयता से साध्य है। —पाथेय

42. सृष्टि का निर्माण भले ही मानव के लिए हो; किन्तु मानव का निर्माण तो उन्होंने अपने ही लिए किया है। —पाथेय

43. प्रत्येक परिस्थिति में मानव उतना ही बड़ा मानव है, जितना कोई कभी हुआ है। —पाथेय

44. मानव-जीवन में ही धर्म की चर्चा है; कारण कि मानव ही धर्मात्मा होता है। —पाथेय

45. शरीर मानव का स्वरूप नहीं है। कर्तव्य-परायणता, विवेक का प्रकाश और विश्वास का तत्त्व जिसमें है, वही मानव है।

—पाथेय

46. प्राणी और मानव में एक भेद है -वह यह कि मानव को मानव के रचयिता ने बल, विवेक तथा विश्वास का तत्त्व दिया है; अन्य प्राणियों में विवेक और विश्वास का तत्त्व नहीं है। —पाथेय

47. मानव अपने ही प्रमाद से बल का दुरुपयोग, विवेक का अनादर और विश्वास में विकल्प करने से सर्वश्रेष्ठ होने पर भी आज पशु, पक्षी तथा हिंसक जन्तुओं से भी निम्न कोटि में चला गया है।

—पाथेय

48. ऐसा मानना कि हमारा कोई साध्य नहीं है, हम पर कोई दायित्व नहीं है, मानव-जीवन की घोर निन्दा है। —दु:ख का प्रभाव

49. जिस किसी मानव को जो कुछ मिला है, वह किसी का दिया हुआ है।

—सफलता की कुंजी

50. अहम् को मानव मानना युक्तियुक्त है; कारण कि जिसमें कोई माँग है और जिस पर कोई दायित्व है, वही मानव है।

—सफलता की कुंजी

51. मानव-जीवन बड़े ही महत्त्व का जीवन है। इसी जीवन में प्राणी अपने वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

—सफलता की कुंजी

52. जिसे आप मानव कहते हैं, वह वास्तविक मानव तभी हो सकेगा, जब उसमें देहाभिमान न रहे। —सफलता की कुंजी

53. मानव का निर्माण भी मानव के रचयिता ने अपने सहज स्वभाव से ही किया है। इस कारण साधक में बीज रूप से उदारता, समता तथा प्रियता विद्यमान हैं। जो विद्यमान है, उसी की अभिव्यक्ति होती है।

—सफलता की कुंजी

54. विवेक का विरोध करने पर मानव में अमानवता की उत्पत्ति हो जाती है।

—दर्शन और नीति

55. मानव का निर्माण मानव के अपने प्रयास का फल नहीं है; क्योंकि प्रयास का दायित्व मानव होने के पश्चात् ही आता है।

—सफलता की कुंजी

56. उद्देश्य-रहित जीवन मानव-जीवन नहीं है। —दर्शन और नीति

57. मानव की माँग सभी को है; क्योंकि उसके द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित होते हैं। इस दृष्टि से मानव सर्वप्रिय है।
—सफलता की कुंजी

58. अविवेकी मानव मानव के भेष में अमानव है। अमानव को पशु कहना पशु की निन्दा है। कारण कि पशु में विवेक जाग्रत नहीं है, इससे उस पर विवेकी होने का दायित्व नहीं है। किन्तु मानव मात्र में विवेक जाग्रत है, इस कारण उस पर दायित्व है कि वह विवेक का अनादर न करे। अतः प्रत्येक वर्ग, समाज तथा देश का वही मानव आदरणीय है, जो विवेकी है। —दर्शन और नीति

59. अनन्त की अहैतुकी कृपा से मानव-जीवन का निर्माण हुआ है; क्योंकि विवेकयुक्त जीवन ही मानव-जीवन है। इस जीवन में अपने लिए कुछ भी करने की बात नहीं है, यह इसकी महिमा है।
—दर्शन और नीति

60. मानव-जीवन में जो कुछ पराधीनता है, वह अपनी ही भूल है।
—दर्शन और नीति

61. अपनी कमी का अनुभव करना और उसको मिटाने का प्रयत्न करना, यही मानव-जीवन का आरम्भ है। —सन्त-समागम 1

62. मानवता व्यक्ति नहीं है, बल्कि जीवन की एक अवस्था है, जो उन्नति के लिए एकमात्र सर्वोत्तम अवस्था है। जीवित वही अवस्था रहती है, जो पूर्ण नहीं होती। पूर्ण मानवता होने पर मानवता का अन्त हो जाता है अर्थात् मानवता 'पूर्ण' से अभिन्न हो जाती है।
—सन्त-समागम 1

63. अपनी न्यूनता का अनुभव करना तथा उसे मिटाने का प्रयत्न करना मानवता है। —सन्त-समागम 2

64. केवल वस्तुओं के आधार पर जीवन व्यतीत करना मनुष्य के स्वरूप में पशुता है। —सन्त-समागम 2

65. प्रत्येक मानव साधक है; क्योंकि उसमें बीजरूप से साधन-तत्त्व विद्यमान है। —साधन-तत्त्व 3

66. शान्ति, मुक्ति और भक्ति में तो मनुष्य का जन्मजात अधिकार है।
—संतवाणी 8

67. मानवता क्या है ? मानवता है साधन। किस रूप में ? भाई, जो हमारे पास है, वह हमारा नहीं है। और जो दूसरों के पास है, उसकी हमें माँग नहीं है। उस मानवता का फल हो जाता है -स्वाधीनता, उदारता और प्रेम। इन तीनों को इकट्ठा कर दें तो यही मानवतायुक्त मानव का चित्र है। —संतवाणी 7

68. आपका मानव-जीवन बड़ा ही अनुपम जीवन है, अद्भुत जीवन है। क्यों? इसी जीवन में सद्गति होती है। इसी जीवन में दुःख-निवृत्ति होती है। इसी जीवन में परमानन्द की प्राप्ति होती है। —संतवाणी 5

69. मानव-जीवन के विकास की चरम सीमा योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में है और भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति में है। —संतवाणी 7

70. जिसका जीवन सभी के लिए उपयोगी है, उसी का नाम है -मानव-जीवन। —संतवाणी 4

वस्तुओं को सिक्के में बदलने से संग्रह की भावना उत्पन्न होती है। संग्रह होते ही मिथ्या अभिमान, आलस्य, अकर्मण्यता और विलासिता का जन्म होता है, जो व्यक्ति के सर्वनाश का हेतु है। उस संग्रह के कारण समाज में भी विप्लव उत्पन्न हो जाता है। अतः सिक्के में अर्थ-बुद्धि स्वीकार करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। श्रम का महत्त्व बढ़ाए बिना आलस्य, संग्रह तथा अकर्मण्यता नष्ट न होगी और उसके हुए बिना शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का सदुपयोग न होगा एवं मिथ्या अभिमान भी नष्ट न होगा, जो दरिद्रता का मूल है।

मानव-सेवा-संघ

1. एक से अधिक व्यक्ति मिलकर जब अपनी-अपनी निर्बलताओं का अन्त करने के लिए पारस्परिक सहयोग अर्पित करते हैं और निर्बलताओं से रहित होते हैं, तब 'संघ' का जन्म होता है।
—मानव-दर्शन
2. आप अनीश्वरवादियों की सूची में अपना नाम लिखाना चाहते हैं तो भी कोई आपत्ति नहीं। चाहे मैं भले ही कट्टर ईश्वरवादी हूँ, पर मैं आपको सलाह देता हूँ कि मानव-सेवा-संघ में तुम्हारा उतना ही स्थान है, जितना किसी ईश्वरवादी का। —संतवाणी 3
3. मानव-सेवा-संघ की नीति में आदेश और उपदेश अपने को दिया जाता है। —संतवाणी 5
4. मानव-सेवा-संघ की नीति के अनुसार साम्प्रदायिक भेद बुरा नहीं है। लेकिन साम्प्रदायिक भेद में प्रीति का भेद हुआ, यह बुरा है। इसलिए प्रत्येक साधक का अलग-अलग साधन होने पर भी यदि प्रत्येक साधक में प्रत्येक साधक के प्रति प्रीति की एकता नहीं है, तो वह साधक नहीं हो सकता। —संतवाणी 5
5. मानव-सेवा-संघ की नीति में अपना विचार किसी पर लादने का नियम नहीं है। —संतवाणी 6
6. हमने सिद्ध बनकर संस्था का निर्माण नहीं किया है। हमने तो अपने को, अपने साथियों को साधक माना है। —प्रेरणा पथ
7. मानव-सेवा-संघ कोई ऐसा संघ नहीं है, जो आपका अपना नहीं है। —प्रेरणा पथ
8. मानव-सेवा-संघ का अर्थ क्या है? मानव का अपना संघ। मानव-सेवा-संघ की बात क्या है ? मानव की अपनी बात। मैं तो लोगों से कहता हूँ कि जो लोग मानव-सेवा-संघ की बात को नहीं मानते, वे मानो अपनी बात नहीं मानते। —जीवन-पथ

9. मानव-सेवा-संघ किसी की स्वाधीनता का अपहरण नहीं करता।
—जीवन-पथ

10. साधक माने मानव-सेवा-संघ का मालिक; क्योंकि यह साधकों का संघ है, किसी व्यक्ति का तो है नहीं। —साधन-त्रिवेणी

11. मानव-सेवा-संघ उसी विचारधारा का प्रतीक है, जिसका शरणानन्द। इस दृष्टि से संघ की सेवा ही शरणानन्द की सेवा है।
—संत-उद्‌बोधन

12. संघ ने मानव मात्र को 'अपनी आँखों देखो और अपने पैरों चलो' की प्रेरणा दी है। —संत-उद्‌बोधन

13. आपका जीवन तो यह है कि दूसरे लोगों को हमारा ही सत्य मानना चाहिए। जब आपका यह जीवन है तो आप माफ कीजिए, आपके द्वारा मानव-सेवा-संघ कलंकित हो सकता है, प्रकाशित नहीं हो सकता। और आप मानव-सेवा-संघ के द्वारा अपना विकास नहीं कर सकते। —संतवाणी 4

14. अब रही मानव-सेवा-संघ के प्रचार तथा प्रसार की बात। इस सम्बन्ध में मेरा निश्चित मत है कि जो बात हमारे जीवन में आ जाएगी, उसका प्रचार तथा प्रसार स्वत: होगा। इस दृष्टि से प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग में ही संघ का प्रचार निहित है।
—संतपत्रावली 2

15. मानव-सेवा-संघ किसी व्यक्ति-विशेष का तथा किसी देश-विशेष का तथा किसी दल तथा वर्ग-विशेष का संघ नहीं है। मानव-सेवा-संघ मानवमात्र का है। अत: उसकी आवश्यकता मानव मात्र की आवश्यकता है। तो फिर इसका प्रचार क्यों न होगा?
—संतपत्रावली 2

16. इस समय आवश्यकता ऐसे कार्यकर्ताओं की है, जो अपने जीवन से संघ की विचारधारा का परिचय दे सकें। —संतपत्रावली 2

17. मानव-सेवा-संघ का कार्यक्रम प्रैक्टिकल है, केवल थ्योरिटिकल नहीं; क्योंकि प्रत्येक प्रवृत्ति के द्वारा संघ की विचारधारा का प्रचार करना है। —संतपत्रावली 2

18. प्रत्येक कार्य में संघ की विचारधारा का प्रभाव प्रदर्शित होने लग जाए, तब समझना चाहिए कि हम मानव-सेवा-संघ के सदस्य हैं।
—संतपत्रावली 2

19. मानव-सेवा-संघ की विचारधारा मानवमात्र की माँग है। उस विचारधारा का प्रचार सनातन सत्य का प्रचार है। संघ की साधन-प्रणाली आधुनिक है, पर उद्देश्य सनातन है।

—संतपत्रावली 2

20. कार्यकर्ताओं के अभाव में ही संघ का कार्य शिथिल है। सही कार्यकर्ताओं का निर्माण होने पर संघ की विचारधारा बड़ी ही सुगमतापूर्वक व्यापक हो सकती है; क्योंकि मानवमात्र को उसकी माँग है। —संतपत्रावली 2

21. मानव-सेवा-संघ का प्रचार मानव का व्यक्तिगत जीवन है। जो मानव जिस अंश में अपने को सुन्दर बनाता है, उसी अंश में वह संघ का प्रचार कर सकता है। —संतपत्रावली 2

22. मानव-सेवा-संघ का प्रादुर्भाव केवल इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुआ है कि मानव मात्र उस जीवन को पा सकता है, जो किसी भी महामानव को मिला है। —संतपत्रावली 2

23. मानव-सेवा-संघ कोई मत, दल तथा संस्था नहीं है। वह तो मानव मात्र की माँग है। —संतपत्रावली 2

24. मानव-सेवा-संघ का प्रकाश अपना लेने पर मानव सभी के लिए उपयोगी हो जाता है। —संतपत्रावली 2

25. अपने ज्ञान का आदर करने का स्वभाव बनाना ही मानव-सेवा-संघ की सत्संग-प्रणाली है। —पाथेय

26. मानव-सेवा-संघ का सत्संग वर्तमान जीवन की प्रत्येक समस्या को त्याग तथा प्रेम के द्वारा हल करता है। —पाथेय

27. मानव-सेवा-संघ के साहित्य का प्रचार अपने-अपने ढंग से, जिसको जैसा ढंग प्रिय हो, करे। वास्तव में तो मानव मात्र की अनुभूति ही मानव-सेवा-संघ का साहित्य है। —पाथेय

28. संघ का दर्शन मानव का अपना दर्शन है। जो अपनी ओर देखता है, वही संघ के दर्शन से परिचित हो जाता है। संघ किसी को कोई ऐसी बात नहीं बताता, जो उसकी अपनी बात नहीं है।—पाथेय

29. अहंरूपी अणु का अन्त करने पर ही संघ का सन्देश विभु हो सकता है।...... अहं का नाश किये बिना संघ का सन्देश विभु नहीं हो सकता। —पाथेय

30. मानव-सेवा-संघ भी प्रभु का ही है। इस कारण संघ की सेवा प्रभु की निज सेवा है। —पाथेय
31. साधक को जगत् के प्रति उदार, प्रभु के प्रति प्रेमी और अपने प्रति अचाह होना है। यही मानव-दर्शन पर आधारित मानव-सेवा-संघ की दीक्षा है। —पाथेय
32. मानव-सेवा-संघ साधकों का संघ है। साधकों की सेवा संघ की सर्वोत्कृष्ट सेवा है। —पाथेय
33. संघ की मूल नीति है कि संघ की वस्तुओं पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार कभी भी न हो। —पाथेय
34. अपने-अपने अधिकार-त्याग की भावना जिन-जिन साधकों में हो, वे ही संघ की यथेष्ट सेवा कर सकते हैं। संघ की सेवा का अर्थ मानव-जाति की सेवा है, किसी वर्ग-विशेष की नहीं। —पाथेय
35. मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य मानव का अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
36. सच्चा मानव-सेवा-संघी कभी घर नहीं छोड़ता, बल्कि ममता और अपना अधिकार छोड़ देता है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
37. मानव मात्र का जो सत्य है, उसी का नाम मानव-सेवा-संघ का सिद्धान्त है। —संतवाणी 8
38. संघ की साधन-प्रणाली में किसी मत, सम्प्रदाय की गन्ध नहीं है और न किसी का विरोध है। क्यों ? भूमि, भला बताओ तो सही, किस पौधे का विरोध करती है और किस का पक्ष करती है ? भूमि न किसी पौधे का विरोध करती है और न किसी का पक्षपात करती है, अपितु प्रत्येक पौधे को विकसित करती है। उसी प्रकार की साधन-प्रणाली मानव-सेवा-संघ की साधन-प्रणाली है। —संतवाणी 4
39. संघ की नीति में गुरु एक तत्त्व है और वह गुरु-तत्त्व विवेक के रूप में आपको प्राप्त है। —संतवाणी 4
40. मानव-सेवा-संघ की नीति में प्रवचन को भी सत्-चर्चा कहा है, सत्संग नहीं.... मानव-सेवा-संघ में 'मूक सत्संग' को मुख्य सत्संग माना है। —संत-उद्‌बोधन
41. संघ की सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि अचाह होकर प्राप्त बल का सदुपयोग किया जाए। —संत-उद्‌बोधन

मुक्ति (कल्याण)

1. आपका कल्याण किसी बाह्य सहायता से नहीं होगा, किसी और के द्वारा नहीं होगा। आपका कल्याण होगा -आपके निज ज्ञान के प्रभाव से। —संतवाणी 7
2. सही काम करने से समाज में शान्ति होती है, यानी विश्व में शान्ति होती है, और न करने से अपना कल्याण होता है। —साधन-त्रिवेणी
3. जो होती है, उसे मुक्ति थोड़े ही कहते हैं। जो है, उसे मुक्ति कहते हैं। —संत-उद्‌बोधन
4. हमें शरीर और संसार दोनों से मुक्त होना है। वह तभी सम्भव है जबकि हमारी कोई कामना न रहे, यानी हम अचाह हो जाएँ। —संत-उद्‌बोधन
5. अपने कल्याण का अर्थ क्या है ? अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता न रहे। —संत-उद्‌बोधन
6. जो वस्तु जिस काम के लिए होती है, उसके लिए वह काम कठिन नहीं होता। यह मनुष्य जन्म केवल जीव के कल्याण के लिए ही मिलता है। इसलिए इसको पाकर कल्याण की प्राप्ति को कठिन मानना भारी भूल है। —संत-उद्‌बोधन
7. जब तक हमें कुछ प्राप्त करना शेष है, जब तक हम किसी भी अभाव का अनुभव करते हैं, तब तक हमें मानना होगा कि हमारा कल्याण नहीं हुआ। —मानव की माँग
8. भगवत्प्रेम के बिना कल्याण नहीं हो सकता। —मानव की माँग
9. यदि कल्याण चाहने वाले भाई-बहन यह सोचते हैं कि हमारा कल्याण किसी और पर निर्भर है तो मानना पड़ेगा कि वे अपना कल्याण नहीं चाहते। आपका कल्याण तो आप पर ही निर्भर है अर्थात् आपके साधन पर निर्भर है। —मानव की माँग

10. कोई मुक्ति के पश्चात् भक्ति मानता है और कोई मुक्ति के पश्चात् मौन हो जाता है; किन्तु मुक्ति तक तो सभी साथ हैं।
—मानव की माँग

11. अहम् तथा ममरूप जो सम्बन्ध है, उससे मुक्त होना ही वास्तविक मुक्ति है। मुक्ति के लिए इसके अतिरिक्त और कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। जिसकी प्राप्ति सम्बन्ध-विच्छेद करने मात्र से होती है, उसके लिए भविष्य की आशा करना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कारण कि भविष्य की आशा उसके लिए की जाती है, जिसके लिए कोई कर्म अपेक्षित हो। यह नियम है कि कर्म उसी के लिए अपेक्षित होता है, जिससे देश-काल की दूरी हो अथवा जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त हो। —मानव की माँग

12. विजातीय से मुक्त होना ही वास्तव में मुक्ति है; क्योंकि भिन्नता उसी से हो सकती है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अपने में से विजातीयता का निकल जाना ही मुक्त हो जाना है। —मानव की माँग

13. अगर हम और आप जाने हुए असत् का त्याग कर सकते हैं तो सिद्धि वर्तमान की वस्तु है। —संतवाणी 4

14. मुक्ति में भक्ति और भक्ति में मुक्ति ओतप्रोत हैं। कारण कि ज्ञान और प्रेम में विभाजन नहीं होता। —संतपत्रावली 2

15. इच्छाएँ रहते हुए प्राण चले जाएँ तो, 'मृत्यु' हो गयी, फिर जन्म लेना पड़ेगा। और प्राण रहते इच्छाएँ चली जाएँ, 'मुक्ति' हो गयी। जैसे बाजार गए, पर पैसे समाप्त हो गए और जरूरत बनी रही तो फिर बाजार जाना पड़ेगा। और यदि पैसे रहते जरूरत समाप्त हो जाए तो बाजार काहे को जाना पड़ेगा ? —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

16. कर्तव्यपरायणता में सुन्दर समाज का निर्माण तथा असंगता में अपना कल्याण निहित है। —मानवता के मूल सिद्धान्त

17. जो जीवन में मुक्त नहीं होता, वह मरने के बाद भी मुक्त नहीं होता। और जो ऐसा मानता है कि मुक्ति अभी नहीं मिली, मरने के बाद मिलेगी, वह अपने को धोखा देता है। —संतवाणी 8

18. ममता और कामना का नाश करने के बाद जो गृहस्थ बनता है, वह गृहस्थ जीवन्मुक्त होता है। —संतवाणी 4
19. कर्ता-भाव और भोक्ता-भाव का मिट जाना ही जीवन्मुक्ति है। —संत-उद्‌बोधन
20. जीवन्मुक्त वह होता है, जो निज विवेक का आदर करता है। —संतवाणी 4
21. मुक्ति कोई बहुत बड़ी चीज नहीं है। अगर ईमानदारी से देखा जाए तो जैसे वैराग्य 'योग' का साधन है, ऐसे ही योग 'बोध' का साधन है और बोध 'प्रेम' का साधन है। —संतवाणी 8
22. आप कहेंगे कि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त में भी कहीं माँग होती है ? बात तो ठीक है। पर वह काम-रहित है कि माँग-रहित है ? विचार करो।............. मुक्त किसे कहते हैं ? जो काम-रहित है। क्या अनन्त रस की माँग मुक्त में नहीं है ? यदि वह मुक्त में न होती, तो उसे मुक्ति खारी नहीं लगती। मुक्त को मुक्ति भी खारी लगती हैं। कब ? जब अखण्ड रस की भूख को अनन्त रस की भूख में बदला हुआ पाता है। —संतवाणी 6
23. अगर तुम्हें यह अनुभव हो जाए कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, बस, मुक्त हो गए। —संत-उद्‌बोधन
24. मेरे जीवन की अन्तिम अनुभूति है कि श्रम के बिना, वस्तु के बिना, साथी के बिना हम सबको सिद्धि मिल सकती है। —संतवाणी 4

प्राकृतिक विधान के अनुसार जिसकी वास्तव में उपयोगिता अपेक्षित है, उसकी रक्षा के साधन अपने-आप प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से जीवन की उपयोगिता में ही समस्त विकास निहित है। श्रम, संयम, सदाचार और सेवा द्वारा जीवन जगत् के लिए एवं त्याग द्वारा अपने लिए और पवित्र प्रेम के द्वारा अनन्त के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। अतः जीवन को उपयोगी बनाने में ही अभावों का अभाव निहित है।

मूक सत्संग

1. जिस प्रकार प्रत्येक पौधे के लिए भूमि अनिवार्य है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक के लिए मूक सत्संग अनिवार्य है। —मूक सत्संग
2. जिस प्रकार समस्त पौधे भूमि से उत्पन्न होकर उसी में स्थित रहते हैं और उसी में विलीन भी होते हैं, उसी प्रकार मूक सत्संग समस्त साधनों की अभिव्यक्ति से पूर्व भी अपेक्षित है और समस्त साधनों की पूर्णता भी मूक सत्संग में ही निहित है। —मूक सत्संग
3. मूक सत्संग में सभी साधनों का समावेश है। —पाथेय
4. मूक सत्संग वास्तव में आदि साधन है अथवा यों कहो कि अन्तिम साधन है। कारण कि जो कुछ किया जाता है, उसके मूल में 'न करना' ही होता है और करने के अन्त में भी 'न करना' ही होता है। इस दृष्टि से आदि और अन्त में मूक होने पर ही सभी को सब कुछ मिलता है। —पाथेय
5. मूक सत्संग का आरम्भ शान्त रस से और अन्त अनन्त रस में होता है। —साधन-तत्त्व
6. यह जो शान्त रहना है, यह बहुत बड़ा साधन है। पर इस रहस्य को कोई बिरले ही जानते हैं। —संत-उद्‌बोधन
7. हम बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं, बड़े-बड़े अभ्यासी हो सकते हैं, बड़े-बड़े पुरुषार्थी हो सकते हैं, लेकिन दो-तीन मिनट भी शान्त नहीं हो सकते ! —संतवाणी 4
8. प्रत्येक साधक के लिए यह अत्यन्त अनिवार्य है कि वह प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में स्वभाव से ही शान्त होकर मूक सत्संग करने का स्वभाव बना ले।........ जब हम मूक सत्संग करने का स्वभाव बना लेंगे, तो आप सच मानिये कि जो सत्य किसी को भी मिला है, वह हमें और आपको मिलेगा। —प्रेरणा पथ

9. मौन का अर्थ खाली चुप होना नहीं है, बल्कि न सोचना भी है, न देखना भी है अपनी ओर से। मुझे जो चाहिए, सो तो मुझ में है, फिर इन्द्रियों की क्या अपेक्षा ? मौन के पीछे एक दर्शन है कि हम को जो चाहिए, वह अपने में है, अपना है और अभी है।
—संत-उद्‌बोधन

10. प्रत्येक संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व और प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के पश्चात् स्वभाव से निर्विकल्पता रहती है। इस निर्विकल्पता का नाम ही 'मूक सत्संग' है, जिससे आवश्यक शक्ति का विकास होता है।
—संत-उद्‌बोधन

11. किसी कार्य के करते हुए किसी ऐसी बात की स्मृति आना, जिसका सम्बन्ध उस कार्य से नहीं है, यही 'जाग्रत् का स्वप्न' है। और वर्तमान कार्य से सम्बन्ध न रहे तथा अन्य कार्य की भी स्मृति न आए, यह भीतर-बाहर का मौन ही 'जाग्रत् की सुषुप्ति' है।
—मानव की माँग

12. मूक सत्संग वास्तविक सत्संग है। विचार-विनिमय आदि का प्रयास वास्तविक सत्संग का सहयोगी अंग है अर्थात् विचार-विनिमय से मूक सत्संग की सामर्थ्य आती है। —मूक सत्संग

13. मूक सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु समस्त साधनों की भूमि है। मूक सत्संग किया नहीं जाता, आवश्यक कार्य के अन्त में स्वत: होता है। —मूक सत्संग

14. जो स्वयं करना है, वही सत्संग है। निर्मम तथा निष्काम होते ही मूक सत्संग स्वत: सिद्ध हो जाता है। —मूक सत्संग

15. मूक सत्संग से ही सर्वतोमुखी विकास होता है। —मूक सत्संग

16. मूक सत्संग से विस्मृति नाश होती है। —मूक सत्संग

17. मूक सत्संग कल्पतरु के समान है अर्थात् आवश्यक सामर्थ्य, विचार का उदय, प्रीति की जागृति मूक सत्संग में ही निहित है।
—मूक सत्संग

18. मूक सत्संग कोई उपाय नहीं है, अपितु वास्तविक जीवन का एक पहलू है। —मूक सत्संग

19. देहाभिमान का अन्त करने के लिए सहज निवृत्तिपूर्वक मूक सत्संग अनिवार्य है। —मूक सत्संग

20. मूक सत्संग के बिना देहाभिमान का नाश सम्भव नहीं है।
—मूक सत्संग

21. मूक सत्संग विश्वास तथा विचार दोनों ही पथों के लिए समान है। कारण कि विचार का उदय तथा प्रीति की जागृति मूक सत्संग से स्वत: होती है।
—मूक सत्संग

22. मूक सत्संग मानव को किसी स्थिति में आबद्ध नहीं करता, अपितु सभी से असंग करता है।
—मूक सत्संग

23. मूक सत्संग अकर्मण्यता, जड़ता एवं अभाव में आबद्ध नहीं होने देता, अपितु कर्तव्य-परायणता, चिन्मयता एवं पूर्णता से अभिन्न करता है।
—मूक सत्संग

24. मूक सत्संग से निर्मम, निष्काम एवं असंग होने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है।
—मूक सत्संग

25. सत्-चर्चा तथा सत्-चिन्तन करते हुए आंशिक असत् का आश्रय रहता है; किन्तु मूक सत्संग से सर्वांश में सत्संग होता है अथवा यों कहो कि मूक सत्संग ही सत्संग है।
—मूक सत्संग

26. मूक सत्संग तथा नित्ययोग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों में स्वरूप से विभाजन नहीं है, अपितु मूक सत्संग में ही नित्ययोग और नित्ययोग में ही मूक सत्संग ओतप्रोत है।
—मूक सत्संग

27. यह नियम है कि जब मानव वस्तु, अवस्था, परिस्थिति के आश्रय से रहित होता है, तब सर्वाधार का आधार स्वत: प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से आस्था में सजीवता मूक सत्संग से ही साध्य है।
—मूक सत्संग

28. मूक सत्संग कोई अभ्यास, अनुष्ठान एवं श्रमसाध्य प्रयोग नहीं है, अपितु सहज तथा स्वाभाविक स्वत: सिद्ध तथ्य है। नित्यप्राप्त की प्राप्ति और पराश्रय की निवृत्ति मूक सत्संग में ही निहित है।
—मूक सत्संग

29. अगर हम थोड़ी-थोड़ी देर के लिए विश्राम करने का स्वभाव बना लें, अकेले होने का स्वभाव बना लें, तो हमें अपने में ही, कहीं बाहर नहीं, प्रीतम की प्राप्ति हो जाएगी।
—संतवाणी 6

30. अकेला होना बड़ा ही उत्तम है; परन्तु शरीर से अकेला होना 'अकेला होना' नहीं है। जब प्राणी माने हुए सम्बन्धों से तथा स्वीकृतिजन्य सत्ता से अपने को अतीत कर लेता है, तब अकेला हो पाता है। —संतपत्रावली 1

31. अचाहरूपी भूमि में ही मूक सत्संगरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है और सम्बन्ध-विच्छेदरूपी जल से उसे सींचा जाता है। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग ही उस वृक्ष की रक्षा करने वाली बाड़ है। उनकी मधुर स्मृति उस वृक्ष का बौर है और अमरत्व ही उस वृक्ष का फल है, जिसमें प्रेम रूपी रस भरपूर है। —पाथेय

32. मूक सत्संग में आलस्य तथा श्रम दोनों का अभाव है। मूक सत्संग में इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि की चेष्टाओं से पूर्ण असंगता तथा असहयोग है। —पाथेय

33. बल का सदुपयोग होने पर जो स्वाभाविक विश्राम है, वह भी मूक सत्संग है और अपने-आपको अनन्त की अहैतुकी कृपा पर निर्भर कर देना भी मूक सत्संग है और सब ओर से विमुख होकर अपने में ही सन्तुष्ट हो जाना भी मूक सत्संग है। —पाथेय

34. अब रही वैज्ञानिक दृष्टि, जिससे निश्चित समय पर मूक सत्संग करने की योजना है -प्रात: 3.30 बजे से लेकर 5 बजे तक का समय बहुत ही उपयुक्त है।............ वास्तव में तो प्रत्येक प्रवृत्ति का उदय और अन्त मूक सत्संग में ही होना चाहिए। मूक सत्संग अखण्ड साधन है, यह कोई अभ्यास नहीं है, अपितु सब प्रकार से उस अनन्त का हो जाना है, जो सभी में है, सभी से अतीत है, जिससे देश, काल आदि की दूरी ही नहीं है। —पाथेय

35. असत् के संग का प्रभाव प्रकट हुए बिना नाश नहीं होता। श्रम-साध्य साधन उस प्रभाव को दबाता है, प्रकट नहीं होने देता। मूक सत्संग उस प्रभाव को प्रकट करता है। —सत्संग और साधन

36. 'है' का संग श्रम-साध्य नहीं है। अत: मूक सत्संग से ही 'है' का संग साध्य है। मूक सत्संग वर्तमान दशा का बोध कराने में अचूक मन्त्र है। —सत्संग और साधन

37. मूक सत्संग के बिना सत् का संग सम्भव नहीं है। —सत्संग और साधन

38. जो साधक असमर्थता का अनुभव करता है, वह मूक सत्संग द्वारा कर्तव्यनिष्ठ होता है और जो साधक मिली हुई सामर्थ्य का पवित्र भाव से सद्व्यय करता है, वह कर्तव्यनिष्ठ होकर मूक सत्संग प्राप्त करता है।
—सत्संग और साधन
39. भौतिकवाद की दृष्टि से कर्तव्यपरायणता, अध्यात्मवाद की दृष्टि से असंगता और आस्तिकवाद की दृष्टि से शरणागति ही अन्तिम प्रयास है। इन तीनों प्रयासों की पूर्णता मूक सत्संग में निहित है।
—सत्संग और साधन
40. मूक सत्संग सिद्ध होते ही 'करना' 'होने' में और 'होना' 'है' में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही अमरत्व से अभिन्नता होती है।
—सत्संग और साधन
41. अहम् का नाश श्रम-साध्य नहीं है। श्रम के मूल में बीज रूप से अपना सुख छिपा रहता है। मूक सत्संग साधक को सुख की दासता और दु:ख के भय से रहित कर देता है, जिसके होते ही अहम् अपने-आप गल जाता है। —सत्संग और साधन
42. जीवन की पूर्णता जो विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम में निहित है, मूक सत्संग से ही सिद्ध है। —सत्संग और साधन
43. मूक सत्संग के लिए तो किसी परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा ही नहीं है। अत: साधक चाहे जिस परिस्थिति में हो, मूक सत्संग स्वाधीनतापूर्वक हो सकता है। —सत्संग और साधन
44. योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य का भेद होने पर भी मूक सत्संग सभी के लिए समान है। मूक सत्संग के द्वारा समस्त असाधनों का नाश हो सकता है और योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप व्यक्तिगत साधन की अभिव्यक्ति भी हो सकती है। —सत्संग और साधन
45. मूक सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु जीवन का सहज, स्वाभाविक एवं अविभाज्य अंग है। उसका कोई भी साधक त्याग नहीं कर सकता; किन्तु उसे सत्संग का रूप कोई विरले ही दे पाते हैं।
—सत्संग और साधन
46. भीतर-बाहर से अकेले रहने का स्वभाव बनाओ। ऐसा करने से आपको वह (आनन्द) मिल जाएगा, जो आपके बिना नहीं रह सकता अथवा यों कहो 'जो आपकी आवश्यकता है'।
—सन्त-समागम 2

47. मूक सत्संग अभ्यास नहीं है, अपितु चिर-विश्राम है, जिसकी माँग स्वभाव से ही प्रत्येक साधक को है। —साधन-तत्त्व
48. भौतिकवाद की दृष्टि से 'कर्तव्यपरायणता' का, अध्यात्मवाद की दृष्टि से विवेकपूर्वक 'असंगता' का और अस्तिकवाद की दृष्टि से 'समर्पण' का परिणाम मूक सत्संग है। कर्तव्यपरायणता, असंगता और समर्पण से मूक सत्संग स्वत: हो जाता है। —साधन-तत्त्व
49. मूक सत्संग के बिना अहम् भाव का अन्त हो ही नहीं सकता। अत: प्रत्येक साधक को सब कुछ करने पर भी मूक सत्संग को अपना लेना अनिवार्य है; क्योंकि बिना उसके अपनाए अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नता सम्भव नहीं है। —साधन-तत्त्व
50. जब आपकी सुषुप्तिजागृति में बदले तो उसी समय बिस्तर में उसी दशा में, जैसे आपको सुख मिले, थोड़ी देर के लिए जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्ति वत् विश्राम कीजिये। उसका परिणाम यह होगा कि अगर आपको दो-तीन मिनट की आदत विश्राम करने की आ जाएगी, तो आपका ध्यान स्वत: हो जाएगा, अपने-आप हो जाएगा। दस-बारह मिनट में धारणा हो जाएगी; आधे घण्टे में समाधि हो जाएगी। —संतवाणी 4
51. हम थोड़ी देर के लिए, दो, चार या दस मिनट, इससे ज्यादा नहीं, बिना कोई काम करे अकेले रहने का स्वभाव बनाऐं। यह कोशिश करें कि दस मिनट तक हम कोई काम नहीं करेंगे, अकेले रहेंगे, बिना सामान और बिना साथी के रहेंगे, शरीर को लेकर नहीं। हमें जो अपने बहुत-से साथी मालूम होते हैं, बहुत-सा सामान मालूम होता है, उसके बिना रहेंगे। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम साथियों को नाराज कर दें या सामान को बरबाद कर दें। ऐसा मेरा मतलब नहीं है। लेकिन थोड़ी देर के लिए ऐसा अनुभव करें कि मान लो, हमारे पास हमारा शरीर भी नहीं रहेगा, तब हम होंगे कि नहीं ? ऐसा प्रश्न अपने सामने रखें। —सन्तवाणी 6

मृत्यु

1. जब तक जीने की आशा है, तब तक मरने का भय नहीं मिट सकता; और करने लायक काम बाकी बना रहने से जीने की आशा नहीं मिटती। —संत-उद्‌बोधन
2. मृत्यु के समान और कोई हितकर वस्तु नहीं है। उसके आने पर ही आस्तिक प्राणी अपने इष्टलोक अथवा विदेह-मुक्ति को पाता है, जो मानव का परम लक्ष्य है। —संतपत्रावली 2
3. मोहवश मृतक मनुष्य का स्मरण कर दुःखी होने से मृतक के सूक्ष्मशरीर को दुःख अधिक होता है; क्योंकि जब तक सम्बन्ध शेष रहता है, तब तक उसे दूसरी योनि धारण करने में विलम्ब होता है। यदि सद्‌भाव से, प्रसन्नतापूर्वक मृतक मनुष्य से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाए तो फिर वह अपने कर्मों के अनुसार शीघ्र, सुगमता से दूसरी योनि धारण कर लेता है।.......... जब-जब मोह के आवेश के कारण उनका स्मरण हो, तब-तब हृदय में यह भावना करो कि आपका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है।

   —संतपत्रावली 1
4. संयोग में ही वियोग का, जीवन में ही मृत्यु का दर्शन करने से उस दिव्य जीवन से अभिन्नता होती है, जो जीवन किसी के लिए भी दुःखकर नहीं होता, अपितु सभी के लिए हितकर ही होता है।

   —संतपत्रावली 2
5. प्राणों के रहते हुए कामनाओं का अन्त हो जाने पर जब मृत्यु होती है, तब उसे 'काल मृत्यु' समझना चाहिए। कामनाओं के रहते हुए प्राणों का अन्त होना 'अकाल मृत्यु' है। वह चाहे जिस प्रकार से हो, चाहे जितनी आयु में हो। —संतपत्रावली 2
6. मृतक प्राणी की सर्वोत्कृष्ट सेवा यही है कि उनसे विचारपूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाए और जब-जब उनकी स्मृति आए,

तब-तब प्रार्थना की जाए। उनके निमित्त यथाशक्ति अपने विश्वास के अनुसार पुण्यकर्म आदि भी किया जा सकता है; किन्तु उनको अपना मानना, उनका चिन्तन करना अपने और उनके लिए अहितकर ही सिद्ध होता है। —संतपत्रावली 2

7. वर्तमान जीवन क्या है ? जीवनशक्ति, प्राण और इच्छाओं का समूह है। मृत्यु क्या है ? प्राणशक्ति का व्यय हो जाना और इच्छाओं का शेष रह जाना।....... जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करने के लिए साधक को प्राणों के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना होगा। जीवन में ही मृत्यु का अनुभव किए बिना कोई भी योगी, विवेकी और प्रेमी नहीं हो सकता। —जीवन-दर्शन

8. सबसे बड़ी निर्बलता जीवन में कब आती है ? जब मानव प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु को नहीं अपनाता, अपितु सबल के अत्याचार को स्वीकार कर जीना चाहता है। इस निर्बलता ने ही सबल की बल के दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति को पोषित किया है। —साधन-निधि

9. मृतक के साथ सबसे बड़ा कर्तव्य यही है कि उससे हमको अपना सम्बन्ध तोड़ देना चाहिए और हृदय से सद्‌भावपूर्वक मूक प्रार्थना करनी चाहिए कि उस प्राणी का कल्याण हो।........... यदि आप उसके साथ सम्बन्ध रखेंगे तो उसको योनि धारण करने में देर अवश्य होगी। —सन्त-समागम 1

10. जो कामनाएँ शेष रह जाती हैं, उनकी पूर्ति के लिए मृत्यु एक अवस्था है और कोई वस्तु नहीं। —सन्त-समागम 1

11. जिस प्रकार थके हुए प्राणी को थकावट दूर करने के लिए नींद आवश्यक है, उसी प्रकार इच्छाओं के शेष रहने पर प्राणी को जीवन के लिए मृत्यु आवश्यक है। —सन्त-समागम 1

12. गहराई से देखो, जिसको आप मृत्यु कहते हैं, वह तो नवीन जीवन को उत्पन्न करने के लिए एक विशेष अवस्था है। —सन्त-समागम 1

13. मरने से डरो नहीं और कुछ चाहो नहीं तो मरने से पहले अमर जीवन मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

14. यदि जन्म के साथ मृत्यु, संयोग के साथ वियोग, उत्पत्ति के साथ विनाश और प्रवृत्ति के साथ असमर्थता न होती तो न जाने कितनी भयंकर दुर्दशा मानव-समाज की हो जाती। —मंगलमय विधान

15. एक मृत्यु ही दूसरे नवीन जीवन का कारण बनती है। यदि संसार में कोई न मरे तो जनसंख्या इतनी बढ़ जाए कि रहने के लिए पृथ्वी पर कोई जगह ही न मिले और इतना दु:ख बढ़ जाए कि कोई जीना पसन्द न करे। अत: मृत्यु की भी आवश्यकता है और वह बहुत महत्त्व की चीज़ है। एक शरीर का नाश होकर दूसरा नया शरीर मिलता है। अत: मृत्यु ही नवीन जीवन प्रदान करती है। यह समझने वाला बुद्धिमान् मनुष्य कभी मृत्यु से नहीं डरता, वरन् उसका स्वागत करता है। —संत-सौरभ

16. जहाँ तक हमारे विश्वास की बात है, वह यह है कि मरने में कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट जो होता है, वह इस बात का होता है कि हम जीना चाहते हैं और मरना पड़ रहा है।.......... अगर हम जीना न चाहें तो मरने में कोई कष्ट नहीं है। —संतवाणी 3

जब तक श्रम का उपयोग शरीर के पोषण और सजाने में तथा सिक्कों के संग्रह में ही किया जाएगा, तब तक दरिद्रता नष्ट न होगी। श्रम का उपयोग समाज के लिए उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन में ही है।

योग

1. योग कब होता है ? कि जब आपका शरीर से सम्बन्ध नहीं रहता।
—संतवाणी 5

2. रागरहित होते ही सबको योग मिल जाएगा। —संतवाणी 4

3. योग की इस परिभाषा पर गौर कीजिए कि सृष्टि का अपने लिए उपयोग करना भोग, सृष्टि की सेवा में शरीर को लगा देना योग। परमात्मा को अपना मानना योग, परमात्मा से कुछ माँगना भोग।
—संतवाणी 7

4. योग अपने लिए और कर्तव्य 'पर' के लिए निर्मित है। योग की प्राप्ति के लिए किसी कर्म-सामग्री की अपेक्षा नहीं है, केवल करने की राग-निवृत्ति मात्र से ही योग के साम्राज्य में प्रवेश होता है अर्थात् योग-प्राप्ति में श्रम अपेक्षित नहीं है। इस कारण योग अपने लिए और कर्तव्य 'पर' के लिए विकास का मूल है।
—मानव-दर्शन

5. योग की अभिव्यक्ति के लिए किसी प्रकार की प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है, अपितु मूक सत्संग ही अपेक्षित है। —मूक सत्संग

6. राग-रहित भूमि में ही 'योग' रूपी वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है, जो कल्पतरु के समान है अर्थात् उसमें समस्त विकास होते हैं। इतना ही नहीं, 'योग' रूपी वृक्ष पर ही 'तत्त्वज्ञान' रूपी फल लगता है, जो 'प्रेम' रस से परिपूर्ण है। —दु:ख का प्रभाव

7. भोग की रुचि रहते हुए योग की उपलब्धि सम्भव नहीं है।
—चित्तशुद्धि

8. भोग का अत्यन्त अभाव हो जाना ही वास्तव में योग है।
—सन्त-समागम 1

9. योग से शक्ति संचय होती है, तत्त्व-साक्षात्कार नहीं ।
—सन्त-समागम 1

10. जो संयोग में ही वियोग का अनुभव कर लेता है, उसका नित्ययोग होना परम अनिवार्य है।
—सन्त-समागम 1

11. भोग की ओर जाने में सद्भाव क्रिया में विलीन हो जाता है, और योग की ओर जाने में क्रिया भाव में विलीन हो परमतत्त्व से अभिन्न हो जाती है।
—सन्त-समागम 2

12. योग से शक्ति संचित होती है, पर शान्ति नहीं। स्वाभाविक पूर्ण असंगता होने पर निज-स्वरूप का स्वयं बोध हो जाता है। बोध होने पर परम शान्ति बिना बुलाए आ जाती है।......... योग के बिना शक्तिहीनता नहीं मिटती और यथार्थ बोध के बिना शान्ति नहीं आती।
—सन्त-समागम 2

13. भोग-बुद्धि का अन्त होते ही योग बिना ही प्रयत्न हो जाता है।
—सन्त-समागम 2

14. निष्कामता की अभिव्यक्ति होते ही भोग स्वत: 'योग' में विलीन हो जाता है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

15. पराश्रय और परिश्रम से रहित तथा हरि-आश्रय और विश्राम के द्वारा जो जीवन है, वह जीवन जिसे पसन्द है, वह योगी है। योग का उपाय क्या है ? हरि-आश्रय और विश्राम। —संतवाणी 3

16. योग तो शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान -इन दोनों से परे है।
—संतवाणी 2

संयम तथा सदाचार के बिना श्रम उपयोगी सिद्ध नहीं होता। इस दृष्टि से श्रम के आदि और अन्त में संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। सदाचार संयम का ही क्रियात्मक रूप है और सदाचारयुक्त प्रवृत्ति ही समाज की सेवा है। समाजसेवा की भावना ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों सुख-भोग की रुचि नष्ट होती जाती है। सर्वांश में सुख-भोग की रुचि का नाश होते ही दुःख का भय तथा सुख का प्रलोभन मिट जाता है, जिसके मिटते ही सुखी और दुःखी में एकता हो जाती है और फिर दरिद्रता की गन्ध भी नहीं रहती।

राग-द्वेष

1. आपका एक अपना बड़प्पन है। आपका एक अपना महत्त्व है। आपकी एक अपनी सुन्दरता है। और वह सुन्दरता राग-द्वेष रहित हुए बिना प्राप्त नहीं होती। —सन्तवाणी 4
2. संसार की बड़ी-से-बड़ी वासना हमें उसी समय तक अपनी ओर आकर्षित करती है, जब तक कि हमारे मन में किसी प्रकार का राग है। —मानव की माँग
3. राग के बिना द्वेष उत्पन्न ही नहीं होता। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वेष मिटाने के लिए राग का मिटाना अनिवार्य है। —मानव की माँग
4. सीमित 'मैं' और सीमित 'मेरा' ही राग-द्वेष का मूल है, जो वास्तव में अविवेक है। —मानव की माँग
5. किसी की वास्तविकता का बोध तभी सम्भव होगा, जब उसके प्रति राग तथा द्वेष लेशमात्र भी न हों। —मानव-दर्शन
6. राग और द्वेष दोनों ही सम्बन्ध पुष्ट करते हैं। सम्बन्ध के रहते हुए बोध सम्भव नहीं है। —मानव-दर्शन
7. जिस अंश में भिन्नता प्रतीत होती है, उस अंश में त्याग को अपनाना है, द्वेष को नहीं और जिस अंश में एकता प्रतीत होती है, उस अंश में सेवा को अपनाना है, राग को नहीं। —मानव-दर्शन
8. द्वेष के नाश में प्रेम की अभिव्यक्ति और राग के नाश में बोध की अभिव्यक्ति स्वत:सिद्ध है। —मानव-दर्शन
9. राग तथा द्वेष जब तक बाकी हैं, तब तक किसी वस्तु को यथार्थ समझना तथा जान पाना कठिन है। —संतपत्रावली 1

10. राग और द्वेष मिटाने के लिए शरीर-भाव का अत्यन्त अभाव करना होगा। जब तक यह स्वाभाविक न हो जाए कि मैं शरीर किसी भी काल में नहीं हूँ, तब तक राग और द्वेष कदापि नहीं मिट सकते।
—संतपत्रावली 1

11. राग एक ऐसा मधुर विष है, जो सदैव मृत्यु की ओर ही गतिशील करता है अर्थात् राग के रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते और न बन्धनरहित ही हो सकते हैं; क्योंकि राग त्याग की सामर्थ्य का अपहरण कर लेता है और त्याग के बिना कर्तव्य-पालन सम्भव ही नहीं है।
—जीवन-दर्शन

12. यह द्वेष की महिमा है कि गुण का दर्शन नहीं होने देता। यह नियम है कि किसी का द्वेष किसी का राग बन जाता है। जिस प्रकार द्वेष गुण का दर्शन नहीं होने देता, उसी प्रकार राग दोष का दर्शन नहीं होने देता।
—दर्शन और नीति

13. राग 'त्याग' से और द्वेष 'प्रेम' से नष्ट होता है। त्याग विवेक में और प्रेम आत्मीयता में निहित है।
—दर्शन और नीति

14. स्वप्न की घटना स्वप्न काल में तो जाग्रत् के ही समान सत्य है और जाग्रत् में भूतकाल की घटनाएँ वर्तमान में स्वप्न के समान ही मिथ्या हैं। इस दृष्टि से स्वप्न और जाग्रत् की घटनाएँ समान ही अर्थ रखती हैं; परन्तु प्राणी जाग्रत् की घटना को सत्य मान कर उनके राग-द्वेष में आबद्ध हो चित्त को अशुद्ध कर लेता है।
—चित्तशुद्धि

15. रागरहित होने में ही योगी में योग, जिज्ञासु में तत्त्वज्ञान और प्रेमी में प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है, अथवा यों कहो कि समस्त विकास रागरहित होने में ही निहित है; क्योंकि रागरहित हुए बिना न तो चित्त का निरोध ही हो सकता है, न देहाभिमान ही गल सकता है और न समर्पित होने की सामर्थ्य ही आती है।
—चित्तशुद्धि

16. यदि राग व द्वेष न किया होता तो त्याग व प्रेम न करना पड़ता।
—सन्त-समागम 1

17. राग त्याग से और द्वेष प्रेम से मिट जाता है।—सन्त-समागम 1

18. यदि जगत् के वास्तविक स्वरूप को जानना चाहते हो तो राग का अन्त कर दो; क्योंकि राग होने से यथार्थ दृष्टि उत्पन्न नहीं होती।
—सन्त-समागम 1

19. देखने वाला जब तक देखने की अभिलाषा करता है, तब तक देखने का राग है; दीखने वाली सत्ता सत् हो अथवा असत्। असत् सिनेमा की आसक्ति भी बन्धन है। —सन्त-समागम 1

20. केवल असत् समझना रागरहित होना नहीं है, बल्कि अपने से भिन्न किसी की भी आवश्यकता न हो, यही निष्ठा रागरहित होना है। किसी और की आवश्यकता का होना ही राग है।

—सन्त-समागम 1

21. राग-रूपी भूमि में ही भोग-रूपी वृक्ष उत्पन्न होता है, जिस पर सुख-दुःख रूपी अनेक फल लगते हैं।...... राग-रहित भूमि में ही योग-रूपी वृक्ष की अभिव्यक्ति होती है, जिस पर तत्त्वज्ञान-रूपी फल लगता है, जो प्रेमरस से पूर्ण है। —साधन-तत्त्व

22. दोष मालूम होते हुए भी त्याग न करना 'राग' है। गुण मालूम होते हुए भी ग्रहण न करना 'द्वेष' है। राग त्याग नहीं होने देता व द्वेष प्रेम नहीं होने देता। त्याग व प्रेम से राग-द्वेष मिट जाते हैं।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

23. राग की भूमि में ही समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

24. राग-द्वेष रहित होने का उपाय क्या निकला ? अपने सुख-दुःख का कारण किसी और को न मानना। —संतवाणी 4

25. जो मान्यता तथा जो सिद्धान्त मनुष्य को स्नेह से दूर करके राग-द्वेष में आबद्ध करते हैं, वे चाहे कितने ही सुन्दर क्यों न हों, उनसे चित्त शुद्ध नहीं होता। —संत-सौरभ

26. सुख की आशा की नहीं कि 'राग' उत्पन्न हो जाएगा। अपने दुःखों का कारण दूसरों को माना नहीं कि 'द्वेष' उत्पन्न हो जाएगा।............ द्वेष ने ही भिन्नता को पोषित किया है, राग ने ही हमें पराधीन बनाया है। —संतवाणी

राजनीति

1. विधान-निर्माताओं को राष्ट्र का संचालक कभी नहीं होना चाहिए। वे राष्ट्र को विधान के रूप में प्रकाश देते रहें। राष्ट्र के बनाए हुए विधान से और विधान-निर्माताओं द्वारा राष्ट्र का संचालन होने से कभी भी देश में वास्तविक एकता सुरक्षित नहीं रह सकती। अत: राष्ट्र के संचालक और विधान-निर्माता -इन दोनों का अलग-अलग होना अनिवार्य है।
—दर्शन और नीति
2. विधान-निर्माण का अधिकार किसी राष्ट्र को नहीं है, अपितु वीतराग पुरुषों को है। राष्ट्र विधान का पालन कराने में प्रयत्नशील हो सकता है; किन्तु विधान वही बना सकता है, जिसका जीवन विधान हो।
—दर्शन और नीति
3. राष्ट्र का निर्माण समाज के उन व्यक्तियों द्वारा होना चाहिए, जिन्होंने क्रियात्मक रूप से जन-समाज की सेवा की है अर्थात् सेवा करने वालों के द्वारा ही राष्ट्र का निर्माण ठीक-ठीक हो सकता है, पर उन्हें स्वयं राष्ट्र-संचालक नहीं होना चाहिए।
—दर्शन और नीति
4. सच्चा सेवक वही हो सकता है, जिसके जीवन में राष्ट्र का संचालक होने का प्रलोभन न रहे। सम्मान की दासता ने अभिमान को जन्म देकर सेवाभाव को नष्ट किया है। इस कारण सेवक राष्ट्र का निर्माता हो सकता है, किन्तु राष्ट्र का संचालक नहीं।
—दर्शन और नीति
5. सेवा करने वाला व्यक्ति जनता का प्रतिनिधि तो स्वाभाविक ही बन जाता है। उसमें न तो पद का लालच होता है, न पक्षपात, न स्वार्थ; अत: वह उसी व्यक्ति को चुनेगा, जो वास्तव में सच्चा सेवक और ईमानदार होगा।
—सन्त-समागम 2

6. यदि पूँजीपति धर्मशून्य राजनीतिक नेताओं के अत्याचारों से बचना चाहते हैं तो उनको संग्रह की हुई सम्पत्ति स्वेच्छापूर्वक बाल-मन्दिर और शुश्रूषा-आश्रम के बनाने में लगा देनी चाहिए अर्थात् अपनी सम्पत्ति सच्चे सेवकों के हाथ में दे देनी चाहिए, नहीं तो समाज-सुधार के गीत गाकर साम्यवादी और समाजतंत्रवादी डाकुओं की भाँति छीन लेंगे, अथवा विधान बदलकर पूँजीवाद मिटा देंगे। जैसे काँग्रेस गवर्नमैण्ट ज़मीदारी प्रथा को मिटा रही है।
—सन्त-समागम 2

7. पार्टी का प्रतिनिधि बनकर जो कार्य किया जाएगा, उससे केवल पार्टी सुदृढ़ होगी, व्यक्ति का निर्माण नहीं होगा। व्यक्तियों के निर्माण के बिना सच्चाई, ईमानदारी और निष्पक्षता का प्रादुर्भाव नहीं होता और न स्वार्थ-भावना मिटती है। —सन्त-समागम 2

8. जिस देश के पूँजीपति तथा विद्वान् विषयासक्त हो जाते हैं, उस देश का शासन दूषित हो जाता है; क्योंकि शासन करने वाली संस्था का जन्म विद्वानों तथा पूँजीपतियों के आधार पर ही निर्भर है।........... अतः पूँजीपतियों तथा विद्वानों का सुधार होने पर ही राष्ट्र का यथेष्ट निर्माण हो सकता है। —सन्त-समागम 2

9. बाल-मन्दिर तथा शुश्रूषा-आश्रमों की सेवा करने वाले विद्वानों के द्वारा ही गवर्नमेंट का निर्वाचन होना चाहिए। जो उन विद्वानों में से वीतराग पुरुष हों अर्थात् जिनका मोह नष्ट हो गया हो, उनको विधान बनाने का अधिकार होना चाहिए।...... राष्ट्र का कर्तव्य तो केवल वीतराग पुरुषों के बनाए हुए विधान का पालन करना है।
—सन्त-समागम 2

10. इने-गिने व्यक्ति प्रचार के द्वारा जनता को अपने पक्ष में लेकर जनता के बहाने अपने मन की बात करते हैं। इस चुनाव में सच्चाई नहीं होती। चुने हुए सदस्य कहने के लिए ही जनता के प्रतिनिधि होते हैं, वास्तव में जनता के नहीं होते। —सन्त-समागम 2

11. सेवा करने वालों का चुना हुआ राष्ट्र हो और वीतराग पुरुषों का बनाया हुआ विधान हो, तभी समाज में न्याय तथा शान्ति की स्थापना हो सकती है। —सन्त-समागम 2

12. हित अपराध के नाश में है, अपराधी के **नाश** में नहीं। अपराधी निरपराध हो जाए, यह सद्भावना स्वभाव से अपने ही में अपने

प्रति होती है अथवा उन वीतराग तत्त्वविद् महापुरुषों में होती है, जिनके जीवन में सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति हो गयी है। इसी कारण विधान बनाने का वास्तविक अधिकार वीतराग तत्त्ववेत्ताओं को है, अन्य को नहीं। —मानवता के मूल सिद्धान्त

13. रानी के पेट से निकला हुआ राजा नापसन्द है तो जनता के पेट से निकला हुआ मिनिस्टर गरीबी मिटाएगा, बिलकुल भ्रमात्मक धारणा है। —संतवाणी 8

14. आजकल यही तो सत्य मान लिया है कि बहुत-से लोग जिस बात को कह दें, वह बात मान ली जाए, चाहे झूठ हो। ऐसा मान लो कि सौ बेवकूफ हों और निन्यानवे बुद्धिमान हों तो सौ बेवकूफ निन्यावे बुद्धिमानों को हरा दें। यह नीति गलत है कि नहीं ? —संतवाणी 8

15. यदि जनता स्वयं सच्चाई को जानने में समर्थ होती तो शासकों के निर्वाचन की आवश्यकता ही क्या थी ? जनता तो अबोध बालक के समान होती है। जनता के द्वारा निर्वाचन होने पर तो सौ मूर्ख निन्यानवे भले आदमियों को हरा सकते हैं। ऐसी गवर्नमेण्ट कभी सत्य की खोज करने वाली नहीं हो सकती। —सन्त-समागम 2

16. जिस प्रकार पागल का स्वस्थ शरीर भी कुछ काम नहीं आता, वही दशा धर्मशून्य साम्यवाद की होगी। —सन्त-समागम 2

17. सेवक शासक नहीं हो सकता और शासक सेवा नहीं कर पाता। —साधन-निधि

जिसने व्यक्तिगत सुख के लिए ही शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का उपयोग किया है, उसी ने व्यक्ति और समाज की एकता भंग की है, जिसके होने से सर्वात्म-भाव सुरक्षित नहीं रहा और व्यक्ति अभिमान तथा दीनता में आबद्ध हो गया। इस कारण आर्थिक विषमता सुदृढ़ हो गयी। अतः शारीरिक तथा बौद्धिक श्रम का उपयोग समाज के हित में ही करना अनिवार्य है। तभी आर्थिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रह सकती है।

रोग

1. रोग शरीर की वास्तविकता समझाने के लिए आता है।
—संतपत्रावली 1
2. रोग पर वही विजय प्राप्त कर सकता है, जो शरीर से असंगता का अनुभव कर लेता है। —संतपत्रावली 1
3. जब प्राणी तप नहीं करता, तब उसको रोग के स्वरूप में तप करना पड़ता है। —संतपत्रावली 1
4. प्राप्त का अनादर और अप्राप्त का चिन्तन, अप्राप्त की रुचि और प्राप्त से अरुचि -यही मानसिक रोग है। —साधन-त्रिवेणी
5. वास्तव में तो जीवन की आशा ही परम रोग और निराशा ही आरोग्यता है। देहभाव का त्याग ही सच्ची औषधि है।
—संतपत्रावली 2
6. राग का अन्त करने के लिए ही रोग उत्पन्न हुआ है। राग का अन्त कर रोग स्वतः नाश हो जाएगा, और फिर बुलाने पर भी न आएगा। —संतपत्रावली 2
7. रोग प्राकृतिक तप है। उससे डरो मत। रोग भोग की रुचि का नाश तथा देहाभिमान गलाने के लिए आता है। इस दृष्टि से रोग बड़ी आवश्यक वस्तु है। —संतपत्रावली 2
8. रोग भी प्राकृतिक तप है, और कुछ नहीं। रोग का वास्तविक मूल तो किसी-न-किसी प्रकार का राग ही है; क्योंकि राग-रहित करने के लिए ही रोग के स्वरूप में अपने प्यारे प्रभु प्रीतम का ही मिलन होता है। हम प्रमादवश उन्हें पहचान नहीं पाते और रोग से भयभीत होकर उससे छुटकारा पाने के लिए आतुर तथा व्याकुल हो जाते हैं, जो वास्तव में देहाभिमान का परिचय है, और कुछ नहीं।—पाथेय
9. सभी रोगों का मूल एकमात्र राग है। —पाथेय

10. भोजन की रुचि ने सभी को रोगी बनाया है। यद्यपि भोजन परिवर्तनशील जीवन का मुख्य अंग है; परन्तु उसकी रुचि अनेक रोग भी उत्पन्न करती है। असंगता सुरक्षित बनी रहे और भूख तथा भोजन का मिलन सहजभाव से होता रहे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक बहुत से रोग मिट जाते हैं। रोग राग का परिणाम है, और कुछ नहीं -चाहे वर्तमान राग हो या पूर्वकृत। —पाथेय
11. देहजनित सुख की दासता का अन्त करने के लिए रोग के स्वरूप में तुम्हारे ही प्रीतम आए हैं। उनसे डरो मत, अपितु उनका आदरपूर्वक स्वागत करो और विधिवत् उनकी पूजा करो। रोग भोग के राग का अन्त कर अपने-आप चला जाएगा। —पाथेय
12. स्वरूप से तुम किसी भी काल में रोगी नहीं हो केवल देह की तद्रूपता से ही तुम्हें अपने में रोग प्रतीत होता है । —पाथेय
13. देहाभिमान गलाने के लिए ही रोग भगवान् आए हैं। —पाथेय
14. रोग प्राकृतिक तप है। रोगावस्था में शान्त तथा प्रसन्न रहना अनिवार्य है। प्राणशक्ति सबल होने पर प्रत्येक रोग स्वतः नष्ट हो जाता है। चित्त में प्रसन्नता तथा हृदय में निर्भयता रहने से प्राणशक्ति सबल हो जाती है। —पाथेय
15. मेरे विश्वास के अनुसार कुछ रोग अभिमान बढ़ जाने पर भी होते हैं। किसी साधक को ऐसा छिपा हुआ अभिमान होता है कि जिसकी निवृत्ति कराने के लिए भीं रोग आता है। एक साधक ने किसी के प्रति घृणा की भावना की और वह तुरन्त रोगी हो गया। उनके सिखाने के अनेक ढंग हैं। भय से भी रोग हो जाते हैं। भय और अभिमान का अन्त होने पर कुछ रोग स्वतः नाश हो जाते हैं। —पाथेय
16. जो साधन-सामग्री है, उसके द्वारा साधक किसी प्रकार का सुख-सम्पादन न कर सके, इसी कारण वे रोग के स्वरूप में प्रकट होते हैं। पर साधक यह रहस्य जान नहीं पाता कि मेरे ही प्यारे रोग के वेष में आए हैं। —पाथेय
17. शारीरिक बल का आश्रय तोड़ने के लिए रोग आया है। उससे डरो मत, अपितु उसका सदुपयोग करो। रोग का सदुपयोग देह की वास्तविकता का अनुभव कर उससे असंग हो जाना है। —पाथेय

18. चित्त में प्रसन्नता, मन में निर्विकल्पता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाएगी, त्यों-त्यों स्वत: आरोग्यता आती जाएगी, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। —पाथेय
19. निश्चिन्तता तथा निर्भयता आने से प्राणशक्ति सबल होती है, जो रोग मिटाने में समर्थ है। उसके लिए हरि-आश्रय तथा विश्राम ही अचूक उपाय है। —पाथेय
20. दु:ख के भय से प्राप्त शक्ति का ह्रास और शारीरिक तथा मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। —दु:ख का प्रभाव
21. शरीर का पूर्ण स्वस्थ होना शरीर के स्वभाव से विपरीत है; क्योंकि जिस प्रकार दिन और रात दोनों से ही काल की सुन्दरता होती है, उसी प्रकार रोग और आरोग्य दोनों से ही शरीर की वास्तविकता प्रकाशित होती है। —सन्त-समागम 1
22. जो रोग औषधि से ठीक नहीं होता, उसका कारण अदृश्य की मलिनता होती है। अदृश्य की मलिनता शुभ कर्म आदि से दूर होती है, औषधि से नहीं। —सन्त-समागम 1
23. रोग-निवृत्ति का एक सर्वोत्तम उपाय यह भी है कि यदि रोगी रोगी-भाव का सद्भाव अपने में से निकाल दे तो फिर बेचारा निर्जीव हो जाता है; क्योंकि 'मैं' की सत्ता से सभी सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं।............ सद्भाव से प्रतीति में सत्यता आ जाती है, जो दु:ख का मूल है। —सन्त-समागम 1
24. रोग यही है कि 'मैं रोगी हूँ'। औषधि यही है कि 'मैं सर्वदा आरोग्य हूँ'; क्योंकि आरोग्यता से जातीय एकता है।.......... यदि एक बार भी अपनी पूरी शक्ति से यह आवाज लगा दो कि 'मैं आरोग्य हूँ' तो रोग भाग जाएगा। —सन्त-समागम 1
25. रोग का भय परम रोग है, और यदि हृदय में रोग का भय न रहे तो बेचारा रोग निर्जीव हो जाता है। —सन्त-समागम 2
26. कभी-कभी जब प्राणी प्रमादवश विश्वनाथ की वस्तु को अपनी समझने लगता है, तब उसकी आसक्ति मिटाने के लिए 'रोग भगवान्' आते हैं। शरीर विश्व की वस्तु है और विश्व विश्वनाथ का है, उसको अपना मत समझो। —सन्त-समागम 2

27. मन में स्थिरता, चित्त में प्रसन्नता और हृदय में निर्भयता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों आरोग्यता स्वत: आती जाएगी; क्योंकि मन तथा प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत: मन के स्वस्थ होने से शरीर भी स्वस्थ हो जाता है। —सन्त-समागम 2

28. वास्तव में तो शरीर की आसक्ति ही परम रोग है। विचारशील अपने को शरीर से असंग कर सभी रोगों से मुक्त कर लेते हैं।
—सन्त-समागम 2

29. रोग भोग का त्याग कराने के लिए आता है। इस दृष्टि से रोग भोग की अपेक्षा अधिक महत्त्व की वस्तु है। —सन्त-समागम 2

30. जब प्राणी तप नहीं करता, तब उसको रोग के स्वरूप में तप करना पड़ता है। —सन्त-समागम 2

31. रोग से शरीर की वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है, जिससे भोग-वासनाओं का त्याग करने की शक्ति आ जाती है।
—सन्त:-समागम 2

32. जब तक तुम्हारा मन स्थिर तथा प्रसन्न नहीं होगा, तब तक रोग मिटाने की शक्ति जाग्रत नहीं हो सकती; क्योंकि मन के ठीक होने पर ही प्राणशक्ति सबल होती है और प्राणशक्ति के सबल होने पर ही रोग मिटाने की शक्ति आ सकती है। —सन्त-समागम 2

33. रोग शरीर का अभिमान मिटाने के लिए आता है। जिस दिन शरीर का अभिमान गल जाएगा, उस दिन रोग बुलाने पर भी नहीं आएगा; क्योंकि शरीर तुम्हारा होकर स्वस्थ नहीं हो सकता। अत: रोग मिटाने का सबसे सुगम उपाय यही है कि तुम शरीर को अपना मत समझो और मूक होकर हृदय से प्रेम-पात्र को पुकारते रहो। —सन्त-समागम 2

34. रोग से 'अशुभ कर्म के फल' का अन्त होता है और तप से 'अशुभ कर्म' का अन्त होता है। जिस प्रकार तपस्वी को तप के अन्त में शान्ति मिलती है, उसी प्रकार रोगी को रोग के अन्त में भी मिलती है। —सन्त-समागम 2

35. जो भोगी होता है, वह रोगी अवश्य होता है -यह नियम है।
—संतवाणी 5

लक्ष्य (उद्देश्य)

1. लक्ष्य वह नहीं हो सकता, जिसका वियोग हो और लक्ष्य वह भी नहीं हो सकता, जिसकी प्राप्ति न हो सके। इस दृष्टि से कोई भी परिस्थिति लक्ष्य नहीं हो सकती; परन्तु प्रत्येक परिस्थिति लक्ष्य-प्राप्ति का साधन हो सकती है। —मानव की माँग
2. दर्शन तो अनेक हैं, पर जीवन एक है अर्थात् एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेकों दृष्टिकोण हैं। लक्ष्य की एकता से सभी दार्शनिक एक हैं; किन्तु लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधनरूप दर्शन भिन्न-भिन्न हैं। —मानव-दर्शन
3. अपने लक्ष्य का निर्णय होने पर ही अपने पथ का निर्माण होता है। —मानव-दर्शन
4. अपना लक्ष्य वही हो सकता है, जिसकी उपलब्धि अपने ही द्वारा अपने को हो सके। —साधन-निधि
5. देहादि वस्तुओं के आश्रय से ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी, यही मूल भूल है। —मूक सत्संग
6. अपने लक्ष्य से निराश होने के समान और कोई भारी भूल नहीं है। —मूक सत्संग
7. जीवन की सारी क्रियाएँ एक ही लक्ष्य के लिए होनी चाहिएँ; क्योंकि यही सच्चाई है। —संतपत्रावली 1
8. लक्ष्य एक ही सच्चा होता है। क्रियाओं में अनेकता होती है, लक्ष्य में नहीं। —संतपत्रावली 1
9. जब साधक अपने लक्ष्य को मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा प्राप्त करना चाहता है, जो उसे विश्व-सेवा के लिए मिली हैं, तब लक्ष्य से दूरी, भेद, भिन्नता प्रतीत होती है। —साधन-निधि

10. सतत परिवर्तन से अनन्त नित्य की ओर, उत्पत्ति-विनाश से अमरत्व की ओर तथा दु:ख से आनन्द की ओर गतिशील होना ही हमारा लक्ष्य है। अत: उस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जो कुछ कर सकते हैं, करना है। —मानव की माँग
11. भोग-प्राप्ति विवेकयुक्त जीवन का उद्देश्य नहीं है। विवेकयुक्त जीवन का उद्देश्य तो केवल कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति ही हो सकता है। —जीवन-दर्शन
12. उद्देश्य वही हो सकता है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से हो, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसकी पूर्ति में किसी का अहित न हो, और समस्त प्रवृत्तियाँ उसी के लिए हों अर्थात् समस्त जीवन उस एक लालसा की पूर्ति में ही लग जाए। —जीवन-दर्शन
13. आवश्यकता के ज्ञान में ही उद्देश्य का ज्ञान विद्यमान है। —जीवन-दर्शन
14. उद्देश्य वही हो सकता है, जो अविनाशी हो; क्योंकि जिसको पाकर कुछ और पाना शेष रहता है, वह उद्देश्य नहीं होता। —दर्शन और नीति
15. दर्शन, सम्प्रदाय, मत एवं वाद भिन्न-भिन्न प्रकार के होने पर भी मानव मात्र का उद्देश्य एक है। —दर्शन और नीति
16. कोई-कोई साधक सार्थक चिन्तन तथा निर्विकल्प स्थिति को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठते हैं। यद्यपि 'निर्विकल्प स्थिति' बड़े ही महत्व की वस्तु है; परन्तु उसमें रमण करना 'निर्विकल्प बोध' में बाधक है। —सफलता की कुंजी
17. प्राकृतिक नियम के अनुसार व्यक्ति का लक्ष्य वही हो सकता है, जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है और जिसमें किसी भी प्रकार से परिवर्तन सम्भव नहीं है अर्थात् लक्ष्य सदैव नित्य होता है और परिस्थिति चाहे जैसी क्यों न हो, उसमें सतत परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से कोई भी परिस्थिति किसी का भी लक्ष्य नहीं हो सकती। —चित्तशुद्धि
18. जिसका जो लक्ष्य है, उसे वह सिखाया नहीं जा सकता; क्योंकि जो बात स्वयं जानने की है, उसको सीखना-सिखाना उससे विमुख होना तथा करना है। —चित्तशुद्धि

वस्तु

1. वस्तु संग्रही से बड़ा घबराती है, बड़ी दु:खी होती है.......... उसका दुरुपयोग करने वाले से बड़ा घबराती है, बड़ी भयभीत होती है........... जो वस्तु पर अपनी ममता का पत्थर रख देता है, उससे तो वस्तु परेशान हो जाती है। —संतवाणी 7
2. यदि आप वस्तुओं का सदुपयोग करते हैं, यदि आप वस्तुओं में ममता नहीं रखते, यदि आप वस्तुओं का संग्रह नहीं करते, तो आप सच मानिए, आपके जीवन में से दरिद्रता सदा के लिए मिट जाएगी। —संतवाणी 7
3. यदि आपके जीवन में से वस्तु-विश्वास निकल जाए, वस्तु-सम्बन्ध निकल जाए और वस्तु का दुरुपयोग निकल जाए तो वस्तु तरसेगी आपकी सेवा में आने के लिए। —संतवाणी 7
4. हम वस्तु को अपना मानकर अपने को पराधीन और वस्तु का विनाश, वस्तु के विकास की रुकावट उत्पन्न कर देते हैं। —जीवन-पथ
5. कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है।.......... सारी शक्तियाँ, जो हमारे पास हैं, वे समष्टि शक्तियों का ही एक हिस्सा हुआ; और समष्टि शक्ति किसी व्यक्ति की है नहीं। —साधन-त्रिवेणी
6. समस्त सृष्टि को वस्तु के अर्थ में ही लेना चाहिए; क्योंकि इन्द्रिय-ज्ञान से भले ही वस्तुएँ भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हों, पर बुद्धि के ज्ञान से समस्त वस्तुएँ एक हैं, और बुद्धि से अतीत के ज्ञान में वस्तुओं का अभाव है। —संत-उद्‌बोधन
7. यदि वस्तुओं का अपना स्वतन्त्र सौन्दर्य होता तो उनमें परिवर्तन न होता। सतत परिवर्तन यह सिद्ध करता है कि उत्पन्न हुई वस्तुओं को किसी से सौन्दर्य मिला है। —मानव-दर्शन

8. अपने लिए किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है।
—सफलता की कुंजी

9. वस्तुएँ तो हमारा त्याग कर ही रही हैं, यदि हमने भी उनका त्याग कर दिया तो वे हमारी सराहना करेंगी। वे घबड़ाती हैं, बहुत दुःखी होती हैं संग्रह से, दुरुपयोग करने वाले से और उससे, जो उन पर ममता का पत्थर रख देता है। वे प्रसन्न होती हैं उससे, जो न उनसे ममता करता है, न उनका संग्रह करता है और न दुरुपयोग। उनकी प्रसन्नता की पहचान यह है कि फिर आपके लिए आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप आने लगती हैं, जीवन से दरिद्रता सदा के लिए मिट जाती है।
—सफलता की कुंजी

10. प्राकृतिक नियम तो ऐसा है कि जो वस्तु जितनी ही अधिक उपयोगी होती है, उतनी ही सुगमता से प्राप्त होती है।
—दर्शन और नीति

11. जब जीवन में वस्तु से व्यक्ति का महत्त्व अधिक हो जाता है, तब निर्लोभता की अभिव्यक्ति होती है।
—दर्शन और नीति

12. वस्तु-युक्त होने से व्यक्ति का महत्त्व नहीं है। व्यक्ति का महत्त्व विवेकवित् होने में निहित है।
—दर्शन और नीति

13. उत्पन्न हुई प्रत्येक वस्तु विश्व की ही सम्पत्ति है।
—दर्शन और नीति

14. मिली हुई वस्तुओं को व्यक्तिगत मान लेना अपने को वस्तुओं की दासता अर्थात् लोभ में आबद्ध करना है। लोभ की उत्पत्ति होते ही दरिद्रता अपने-आप आ जाती है।
—दर्शन और नीति

15. अपने से वस्तुओं को अधिक महत्त्व देना दरिद्रता का आवाहन करना है।
—दर्शन और नीति

16. मिली हुई वस्तुओं की ममता का त्याग, अप्राप्त वस्तुओं की कामना का त्याग तथा मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग करने पर प्राकृतिक विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होने लगती हैं।
—दर्शन और नीति

17. शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी 'वस्तुओं' के अर्थ में आ जाते हैं। इतना ही नहीं, जिसे हम सृष्टि कहते हैं, वह भी एक 'वस्तु' ही है; क्योंकि सृष्टि अपने को अपने-आप प्रकाशित नहीं करती।
—चित्तशुद्धि

18. प्रत्येक वस्तु समस्त सृष्टि से अभिन्न है। इस दृष्टि से समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। तो फिर किसे अपना और किसे पराया मानोगे ? या तो सभी अपने हैं, या कोई भी वस्तु अपनी नहीं है।
—चित्तशुद्धि

19. प्राकृतिक विधान में वस्तुओं की न्यूनता नहीं है। कारण कि प्रत्येक वस्तु अनन्त है। ऐसा कोई बीज नहीं, जिसमें अनेक वृक्ष न विद्यमान हों अर्थात् कोई गणना ही नहीं कर सकता कि प्रत्येक दाने में से कितने दाने निकल सकते हैं। इतना ही नहीं, 'कुछ नहीं' से ही 'सब कुछ' उत्पन्न होता है। —चित्तशुद्धि

20. वस्तुओं के महत्त्व ने प्राणी को वस्तुओं से भी वंचित किया और चिन्मय जीवन से भी विमुख कर दिया। —चित्तशुद्धि

21. चिन्तन मात्र से किसी वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, अपितु उनकी आसक्ति ही दृढ़ होती है; क्योंकि वस्तुओं की उत्पत्ति कर्म-सापेक्ष है, चिन्तन-जन्य नहीं। जो कर्म-सापेक्ष है, उसका चिन्तन करना चित्त को अशुद्ध करना है और कुछ नहीं। —चित्तशुद्धि

22. वस्तुओं के सम्बन्ध ने योग को भोग में, ज्ञान को अविवेक में और प्रेम को अनेक आसक्तियों में बदल दिया है। —चित्तशुद्धि

23. वस्तुओं की विमुखता में ही अनन्त की सम्मुखता निहित है।
—चित्तशुद्धि

24. वस्तुओं में अपनी स्थापना वस्तु से 'अभेद-भाव' का और अपने में वस्तु की स्थापना उनसे 'भेद-भाव' का सम्बन्ध स्थापित करती है। अभेद-भाव का सम्बन्ध सत्यता और भेद-भाव का सम्बन्ध प्रियता उत्पन्न करता है।......... वस्तुओं के भेद-अभेद-सम्बन्ध से ही 'अहम्' और 'मम' उत्पन्न हो जाता है, जो चित्त को अशुद्ध कर देता है। —चित्तशुद्धि

25. न तो अनन्त को ही सम्बन्ध अपेक्षित है और न वस्तुएँ ही सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ हैं। तो फिर वह कौन है कि जिसने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है ? इस सम्बन्ध में यही कहना युक्तियुक्त होगा कि जिसमें सत्य की जिज्ञासा है और वस्तुओं की कामना है, उसी ने वस्तुओं से सम्बन्ध स्वीकार किया है।
—चित्तशुद्धि

26. यद्यपि वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति अधिक महत्त्व की वस्तु है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से तो व्यक्ति भी वस्तु ही है। इतना ही नहीं, अपनी देह भी एक वस्तु ही है और समस्त सृष्टि भी एक वस्तु ही है। ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त तथा पर-प्रकाश्य न हो। —चित्तशुद्धि
27. जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है, जिसमें सतत परिवर्तन है और जो पर-प्रकाश्य है, उसे 'वस्तु' कहते हैं। —चित्तशुद्धि
28. वस्तुओं के सम्बन्ध ने ही प्राणी में जड़ता उत्पन्न कर दी और उनके द्वारा सुख की आशा ने ही पराधीन बना दिया। —चित्तशुद्धि
29. यह सभी की अनुभूति है कि गहरी नींद के लिए प्राणी प्रिय-से-प्रिय वस्तु और व्यक्ति का त्याग कर देता है। प्राणी का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति से नहीं, जिसके लिए वह निद्रा का त्याग कर सके। परन्तु निद्रा के लिए सभी वस्तुओं एवं व्यक्तियों का त्याग करता ही है। इस दृष्टि से समस्त वस्तुओं का सम्बन्ध जाग्रत और स्वप्न-अवस्था तक ही सीमित है अर्थात् किसी भी वस्तु और व्यक्ति से नित्य सम्बन्ध नहीं है। —चित्तशुद्धि
30. वस्तुओं की ममता लोभ को और उनका दुरुपयोग मोह को उत्पन्न करता है। —चित्तशुद्धि
31. संसार की सभी वस्तुओं से बुद्धिदेवी श्रेष्ठ हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; किन्तु सत्य तक जाने में असमर्थ हैं, यह परम सत्य है। —सन्त-समागम 1
32. जिसकी उत्पत्ति हो, जिसमें परिवर्तन हो, जिसका विनाश हो, उसको वस्तु कहते हैं। इस दृष्टि से यह सारा संसार एक वस्तु है। —संतवाणी 8
33. प्रत्येक वस्तु प्रभु की है अथवा व्यक्तिगत रूप से किसी की नहीं है। यह एक विज्ञान है। —पाथेय
34. जो वस्तुएँ हमारे बिना रह सकती हैं अथवा हमें अप्राप्त हैं, उनकी अप्राप्ति में ही हमारा विकास निहित है। —जीवन-दर्शन

35. मिला हुआ अपने लिए उपयोगी नहीं होता, अपितु दूसरों के लिए होता है। —मानव-दर्शन

36. जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह किसी की देन है। —मूक सत्संग

37. किसी वस्तु को मिटाने की बात सोचना भी उसके अस्तित्व को स्वीकार करना है और उस वस्तु से द्वेष करना है, जो वास्तव में एक प्रकार का सम्बन्ध है। —मानव की माँग

38. व्यक्तिगत रूप से जिसे जो प्राप्त है, उसकी उपयोगिता दूसरों के प्रति है और दूसरों को जो प्राप्त है, उसकी उपयोगिता अपने प्रति है। —मानव-दर्शन

39. दो वर्गों के बीच, दो व्यक्तियों के बीच, दो देशों के बीच आप पाएँगे कि जो जिसके पास है, वह उसके काम नहीं आता। वह दूसरे के काम आता है। और दूसरे के पास जो कुछ है, वह अपने काम आता है। —संतवाणी 5

बालक, रोगी, वृद्ध और पशु–इनकी सेवा का दायित्व मानव-मात्र पर है। इनकी यथेष्ट सेवा किए बिना न तो दरिद्रता ही नाश होगी और न समाज आवश्यक वस्तु से ही परिपूर्ण होगा। अतः संग्रहित सम्पत्ति रोगी, बालक, वृद्ध तथा पशुओं की ही है।

विवेक

1. बुद्धि तो एक प्राकृतिक यन्त्र के समान है और विवेक प्रकृति से अतीत अर्थात् अलौकिक तत्त्व है। —मानव की माँग
2. बुद्धि प्रकृति का कार्य है और विवेक प्रकृति से परे की अलौकिक विभूति है। —मानव की माँग
3. विवेक का आदर करने में कठिनाई क्या है ? कठिनाई यह है कि हम मन, इन्द्रिय आदि के व्यापार को ही जीवन मान लेते हैं। —मानव की माँग
4. विवेक के प्रकाश को ही जब किसी भाषा-विशेष या लिपि-विशेष में आबद्ध कर देते हैं, तो वह 'ग्रन्थ' कहलाता है और जब उस विवेक के प्रकाश को किसी के जीवन में देखते हैं, तो उसे 'सन्त' कहने लगते हैं। —मानव की माँग
5. विवेक-विरोधी विश्वास त्याज्य है, पर विश्वास के लिए यह आवश्यक नहीं है कि विवेक का समर्थन हो। उत्पन्न हुई वस्तु, अवस्था आदि का विश्वास विवेक-विरोधी है। —मानव-दर्शन
6. किसलिए कर रहे हैं ? किस भाव से कर रहे हैं ? और कैसे कर रहे हैं ? -यदि ये तीनों बातें विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हैं तो समझना चाहिए कि हम करने में सावधान हैं। यह नियम है कि जो करने में सावधान है, उसका कभी ह्रास न होगा, अपितु उसका उत्तरोत्तर विकास ही होगा। —मानव की माँग
7. विवेक मानवकी सजगतापूर्वक अधिकार-त्याग की प्रेरणा देता है। विवेक के जीवन में अधिकार-लोलुपता की गन्ध भी नहीं रहती। दूसरों के अधिकार की रक्षा करना धर्म है और अधिकार-त्याग का नाम विवेक है। —पाथेय
8. विवेक किसी कर्म का फल नहीं है; क्योंकि कर्मानुष्ठान के लिए प्रथम विवेक, सामर्थ्य और प्राकृतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती

है। इस दृष्टि से कर्म विवेक का कार्य है, कारण नहीं। अत: विवेक अलौकिक तत्त्व है,जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से मिला है।
—जीवन-दर्शन

9. हमें सिखाया जाता है कि विवेक-विरोधी कर्म मत करो। पर, यदि विवेक-विरोधी विश्वास या सम्बन्ध रहेगा तो विवेक-विरोधी कर्म अवश्य बनेगा। इसलिए सबसे पहले विवेक-विरोधी सम्बन्ध और विश्वास का नाश आवश्यक है। —सफलता की कुंजी
10. आज हम विवेक-विरोधी सम्बन्ध नहीं त्यागते और गीता चाट जाते हैं, पर क्या उससे मोह का नाश होता है ?....... इससे सिद्धि नहीं मिलेगी। वह तो मिलेगी विवेक-विरोधी सम्बन्ध तोड़ने से, जो उसी क्षण मोह का नाश कर देगा, और जिसके बिना साधन का आरम्भ ही नहीं हो सकता, चाहे गीता पढ़ें, चाहे समाधि लगावें।
—सफलता की कुंजी
11. यह भी नहीं हो सकता कि विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग धीरे-धीरे हो। सम्बन्ध के टुकड़े नहीं होते। सम्बन्ध जब टूटता है तो एक साथ टूटता है। —सफलता की कुंजी
12. रागरूपी भूमि में ही विवेक-विरोधी कर्म का जन्म होता है। यह नियम है कि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु स्वत: होती है; किन्तु जन्म का कारण रहते हुए नाश होने पर भी उत्पत्ति होती रहती है। —दर्शन और नीति
13. जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधान से हो रहा है और जो कुछ करना है, वह विवेकपूर्वक करना है। मंगलमय विधान और विवेक -इन दोनों में जातीय एकता है। निज-विवेक व्यक्तिगत विधान और प्राकृतिक विधान समष्टि विधान है। व्यष्टि और समष्टि में जातीय तथा स्वरूप की एकता है। इस दृष्टि से निज-विवेक के प्रकाश में किया हुआ कर्म अनन्त के मंगलमय विधान के अनुरूप ही होता है। —दर्शन और नीति
14. विवेक वह प्रकाश है, जिसमें बुद्धि-दृष्टि द्वारा मानव इन्द्रिय-दृष्टि पर विजय प्राप्त करता है। —दर्शन और नीति
15. विवेक का महत्त्व सत्य की ओर अग्रसर होने में है, विवाद में नहीं। विवेक साधन है, साध्य नहीं। साधन का अनुसरण सिद्धिदाता है; किन्तु साधन की ममता साधन के रूप में असाधन है।
—दर्शन और नीति

16. विवेक-विरोधी कर्म से ही अकर्तव्य का, विवेक-विरोधी सम्बन्ध से ही देहाभिमान का एवं विवेक-विरोधी विश्वास से ही वस्तु, व्यक्ति आदि के विश्वास का जन्म हुआ है। —दर्शन और नीति
17. निज विवेक का अनादर और इन्द्रियों के ज्ञान का आदर ही साधक को देह से असंग नहीं होने देता। इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग भले ही हो, पर आदर निज-विवेक का होना चाहिए। —चित्तशुद्धि
18. कार्य कर्ता का ही एक चित्र है, और कुछ नहीं। कर्ता में शुद्धि कार्य के आरम्भ से पूर्व होनी चाहिए अर्थात् शुद्ध कर्ता से ही शुद्ध कार्य की सिद्धि हो सकती है। कर्ता में शुद्धता भाव की शुद्धि से आती है और भाव में शुद्धि निज विवेक के आदर में है।
—चित्तशुद्धि
19. अविवेक विवेक का अभाव नहीं, अपितु विवेक का अनादर है।
—चित्तशुद्धि
20. विवेक के अनादर से ही काम, कामना और अकर्तव्य का जन्म होता है। —चित्तशुद्धि
21. विवेक रूपी विधान में कर्तव्यविज्ञान, योगविज्ञान और अध्यात्मविज्ञान विद्यमान है। यदि प्राणी प्राप्त विवेक का अनादर न करे तो अकर्तव्य, भोग और मिथ्या अहंभाव की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।............ विवेक का अनादर ही शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अहंभाव उत्पन्न करता है, जिससे कर्तृत्व और भोक्तृत्व की उत्पत्ति होती है अर्थात् प्राणी अपने को कर्ता और भोक्ता मान लेता है। —चित्तशुद्धि
22. विवेक का सूर्य उदय होते ही यह जो कुछ दिखायी देता है, उससे सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और फिर भोग 'योग' में तथा अविवेक 'बोध' में परिवर्तित हो जाता है। —संतवाणी 8
23. विवेक-विरोधी सम्बन्ध धीरे-धीरे नहीं तोड़ा जाता। सम्बन्ध के टुकड़े नहीं हुआ करते। सम्बन्ध जब टूटता है, तब एक साथ टूटता है। —संतवाणी 7

विश्वशान्ति

1. अपने से सुखी को देखकर प्रसन्न हो जाए एकदम, और दुखियों को देखकर करुणित हो जाए। यह विश्वशान्ति का महामन्त्र है।
—संतवाणी 4

2. सामर्थ्य का सदुपयोग विश्वशान्ति का मूल मन्त्र है।—प्रेरणा पथ

3. विश्वशान्ति कब होगी ? जब प्रत्येक भाई में, प्रत्येक बहन में यह चेतना आ जाए कि मैं मानव पहले हूँ, हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, पारसी, कम्युनिस्ट, सोशलिस्ट और जाने क्या-क्या पीछे हूँ। मैं बल का दुरुपयोग नहीं करूँगा; क्योंकि मैं मानव हूँ, इन्सान हूँ।
—साधन-त्रिवेणी

4. अगर आप यह चाहते हैं कि विश्वशान्ति का प्रश्न हल हो जाए; कल्पना न रहे, स्वप्न न रहे; तो हम सबको इस बात का व्रत लेना होगा कि हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे। —साधन-त्रिवेणी

5. जब तक आप इतनी महानता से नहीं सोचेंगे कि 'यह' एक संसार है और 'वह' एक परमात्मा है, तब तक विश्वशान्ति का प्रश्न हल नहीं हो सकता। —साधन-त्रिवेणी

6. अगर आप समझते हैं कि मजहब बदलने से, इज़्म बदलने से, परिस्थिति बदलने से विश्वशान्ति हो जाएगी तो यह बिल्कुल भ्रम है; क्योंकि परिस्थिति कैसी भी हो, सब अभावयुक्त हैं। कोई परिस्थिति शान्तिदायक नहीं होती। परिस्थिति का सदुपयोग ही शान्तिदायक होता है। —साधन-त्रिवेणी

7. कर्तव्य-परायणता से विश्वशान्ति की समस्या हल हो जाती है।
—सफलता की कुंजी

8. एक शरीर में भी प्रत्येक अवयव की आकृति तथा कर्म अलग-अलग हैं; किन्तु फिर भी शरीर के प्रत्येक अवयव में प्रीति की एकता है। कर्म में भिन्नता होने से प्रीति का भेद नहीं होता।

इसके मूल में कारण यही है कि समस्त शरीर एक है। इस बात में किसी का विरोध नहीं है। उसी प्रकार यदि विश्व की एकता में आस्था कर ली जाए तो भाषा, मत, कर्म, विचारधारा, पद्धति, आकृति, रहन-सहन आदि में भिन्न-भिन्न प्रकार का भेद होने पर भी प्रीति की एकता सुरक्षित रह सकती है। —दर्शन और नीति

9. तत्त्ववेत्ताओं से अथवा परम भक्तों से विश्व कल्याण स्वयं होता है। अन्तर सिर्फ यही होता है कि विश्व उनको नहीं जान पाता कि ये हमारा कल्याण कर रहे हैं अर्थात् वे भौतिक दृष्टि से 'लीडर' के रूप में नहीं दिखायी देते।...... स्थूल शरीर के अभिमान के कारण साधारण प्राणी सूक्ष्म सेवा को देख नहीं पाते, यह उनकी दृष्टि की कमी है। —सन्त-समागम 1

10. शरीर विश्व की वस्तु है; अतः उसे प्रसन्नतापूर्वक विश्व को दे देना चाहिए। हम जब विश्व की वस्तु को किसी काल्पनिक समाज, राष्ट्र एवं सम्प्रदाय को दे देते हैं, तब विश्व में घोर अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस अशान्ति का मूल कारण यही है कि जो विश्व की वस्तु है, उसे हम विश्व को नहीं देते। —सन्त-समागम 2

मिली हुई वस्तुओं की ममता का त्याग, अप्राप्त वस्तुओं की कामना का त्याग तथा मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग करने पर प्राकृतिक विधान के अनुसार आवश्यक वस्तुएँ स्वतः प्राप्त होने लगती हैं। कारण, कि निर्लोभतायुक्त उदारता दरिद्रता को खा लेती है।

विश्वास

1. 'यह' का जो विश्वास है, वह विवेक-विरोधी विश्वास है। लेकिन 'है' का जो विश्वास है, वह विवेक-विरोधी नहीं है।
—संतवाणी 4

2. प्रभु-विश्वास किसी और जरूरत से रखोगे, तो वह साध्य न रहकर साधन बन जाएगा। जब परमात्मा साध्य न रहकर साधन बन जाएगा, तब परमात्मा दूर हो जाएगा। —सन्तवाणी 7

3. विश्वास करने योग्य एकमात्र सर्वसमर्थ प्रभु हैं।—मानव की माँग

4. देखे हुए में विश्वास और बिना देखे हुए पर विचार करना विश्वास और विचार का दुरुपयोग है। —मानव-दर्शन

5. आपको जो व्यक्ति मिला है, वह विश्वास करने के लिए नहीं, सेवा करने के लिए मिला है। आपको जो वस्तुएँ मिली हैं, वे संग्रह करने के लिए अथवा विश्वास करने के लिए नहीं, सदुपयोग करने के लिए मिली हैं। —मानव की माँग

6. आप देखे हुए में विश्वास करेंगे तो धोखा खाएँगे।—संतवाणी 5

7. जानने का जन्म सन्देह से होता है और विश्वास की उत्पत्ति निःसन्देहता से होती है अर्थात् सन्देह जिज्ञासा जाग्रत करता है और निःसन्देहता विश्वास उत्पन्न करती है। —मानव की माँग

8. ज्ञान से विश्व की निवृत्ति और विश्वास से विश्वनाथ की प्राप्ति होती है। —पाथेय

9. विश्वास उसी में हो सकता है, जिसको साधक ने इन्द्रिय-दृष्टि तथा बुद्धि-दृष्टि से देखा नहीं। —सत्संग और साधन

10. देखे हुए में विश्वास करने से तो साधक के जीवन में अनेक विकार उत्पन्न हुए हैं। —सत्संग और साधन

11. जिसकी उपलब्धि कर्म तथा विवेक से सिद्ध है, उसमें विश्वास करना भूल है। साधक को विश्वास एकमात्र उन्हीं में करना है, जिन्हें वह विश्वास के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकता। —सत्संग और साधन
12. मिले हुए को अपना मान लेना विवेक-विरोधी विश्वास है। इस विश्वास से ही विकारों की उत्पत्ति होती है। —दु:ख का प्रभाव
13. देह-विश्वास होने पर ही देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि अनेक प्रकार के विश्वास स्वत: उत्पन्न होने लगते हैं और देह-विश्वास का अन्त होते ही ये सब अपने-आप मिट जाते हैं।

—जीवन-दर्शन
14. यह नियम है कि जिस पर विश्वास हो जाता है, उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता स्वत: होने लगती है। —चित्तशुद्धि
15. वस्तुओं से अतीत जो अनन्त है, उसका विश्वास प्राणी को वस्तुओं की दासता से मुक्त ही नहीं कर देता, अपितु उस अनन्त से सम्बन्ध जोड़ने में भी समर्थ होता है। —चित्तशुद्धि
16. विकल्परहित विश्वास किसी वस्तु आदि पर नहीं हो सकता; क्योंकि जिसके सम्बन्ध में अधूरी जानकारी होती है, उसके सम्बन्ध में सन्देह होता है, विश्वास नहीं। —चित्तशुद्धि
17. विश्वास में सम्बन्ध जोड़ने का सामर्थ्य स्वत:सिद्ध है। जिस पर विश्वास होता है, उसमें ममता हो ही जाती है। यह नियम है कि ममता प्रियता को जाग्रत करती है। —चित्तशुद्धि
18. विश्वास उस पर नहीं करना चाहिए, जिसे इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा जानते हों। विश्वास उस पर होना चाहिए, जिसे कभी किसी इन्द्रिय द्वारा विषय नहीं किया। —चित्तशुद्धि
19. विकल्प-रहित विश्वास यद्यपि ज्ञान नहीं है, परन्तु जीवन में उसका प्रभाव ज्ञान के समान ही होता है। उस विश्वास को ही उसका विश्वास कहते हैं, जिसके सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं जानता; किन्तु उसकी माँग जीवन में है। —साधन-तत्त्व
20. जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं, उससे सम्बन्ध जोड़ने में भी विश्वास ही हेतु है अर्थात् आस्तिकता का मूल विश्वास ही है।

—साधन-तत्त्व

21. धर्म और विवेक भी ईश्वर-विश्वास से ही पुष्ट होते हैं और सुरक्षित रह सकते हैं। हरेक परिस्थिति में ईश्वर-विश्वास ही काम करता है। उसी के बल पर मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है।
—संत-सौरभ

22. सांसारिक व्यक्तियों का विश्वास बड़ा भयानक सिद्ध हुआ है। इन पर विश्वास करके मनुष्य बहुत धोखे में आ जाता है। अधिक क्या, साधक को तो अपने शरीर, मन और बुद्धि पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए। विश्वास के योग्य एकमात्र ईश्वर ही है।
—संत-सौरभ

23. जब तक मनुष्य संसार पर विश्वास करता है, उसको अपना मानता रहता है, तब तक वह खतरे से खाली नहीं है। संसार की सब चीजें धोखा देती हैं।
—संत-सौरभ

लोभ से ही दरिद्रता का जन्म होता है। अव्यक्त से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। 'उसमें' अभाव नहीं है। तो फिर आवश्यक वस्तुओं का अभाव कैसा? इस कारण यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यदि मानव उदारता को अपनाए और आलस्य तथा अकर्मण्यता का त्याग कर डाले, तो आवश्यक वस्तुएँ अपने-आप प्राकृतिक विधान से मिलने लगेंगी। पर यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने अनन्त के मंगलमय विधान का अध्ययन किया है।

विश्राम

1. विश्राम मिलता है तीन प्रकार से -या तो जाने हुए के आदर से, या तो मिले हुए के सदुपयोग से, या अनन्त की शरणागति से।
—संतवाणी 4

2. उस विश्राम में भक्त का भगवान् मौजूद है, जिज्ञासु का तत्त्वज्ञान मौजूद है और योगी का योग मौजूद है।......... जो चीज सभी को मिल सकती है, वह विश्राम में है, श्रम में नहीं। —संतवाणी 6

3. निर्विकल्पता, समता, असंगता और शरणागति -ये चार स्तम्भ हम लोगों को विश्राम के मालूम होते हैं। ये चारों विश्राम के साम्राज्य में प्रवेश करने के दरवाजे हैं। —जीवन-पथ

4. हम अपने लिए यह करेंगे, इससे हमें कुछ मिलेगा, हमें जगत् से कुछ मिलेगा, हमें प्रभु से कुछ मिलेगा। तो जब तक ये बातें जीवन में रहती हैं, तब तक विश्राम नहीं मिलता। —जीवन-पथ

5. आवश्यक कार्य पूरा कर दो और अनावश्यक कार्य छोड़ दो और उसके बदले में कुछ न चाहो तो विश्राम मिलता है।
—साधन-त्रिवेणी

6. विश्राम अकर्मण्यता या आलस्य नहीं है, इसलिए आवश्यक कार्य के सम्पादन तथा अनावश्यक कार्य के त्याग से साध्य है।
—संत-उद्बोधन

7. मनुष्य के जीवन में करना और पाना ही श्रम है। अतएव इसका अन्त होने पर ही सच्चा विश्राम है। —संत-उद्बोधन

8. शरीर से काम न करने का नाम श्रम-रहित होना नहीं है।
• श्रम-रहित होने का अर्थ है -संकल्प-रहित होना।
—संत-उद्बोधन

9. सत् का संग तो एकमात्र अहंकृति-रहित विश्राम में ही निहित है।
—मूक सत्संग

10. विश्राम कोई अभ्यास तथा अनुष्ठान नहीं है। वह किसी के सहयोग से सिद्ध नहीं होता, अपितु अपने ही द्वारा अपने को साध्य है। —मूक सत्संग

11. विश्राम ही श्रम के आदि और अन्त में है। जो आदि और अन्त में है, उसी में जीवन है, वही अविनाशी है। उससे अभिन्न होना ही सत् का संग है। —मूक सत्संग

12. अहंकृति-रहित हुए बिना विश्राम नहीं मिलता। —मूक सत्संग

13. राग-रहित भूमि में ही चिरविश्राम निहित है। —पाथेय

14. श्रम शरीर से तादात्म्य जोड़ता है और विश्राम शरीर से असंग कर देता है। —पाथेय

15. विश्राम उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने को सभी वस्तु, अवस्था आदि से असंग कर लेते हैं। —जीवन-दर्शन

16. शारीरिक विश्राम आवश्यक श्रम से, मानसिक विश्राम अनावश्यक संकल्पों के त्याग से और बौद्धिक विश्राम संकल्पपूर्ति के सुख का त्याग करने से प्राप्त होता है। —जीवन-दर्शन

17. विश्राम उसी को प्राप्त होता है, जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता एवं जो न तो प्राप्त का दुरुपयोग करता है और न अप्राप्त वस्तुओं की इच्छा ही। —जीवन-दर्शन

18. विश्राम के लिए यह महामन्त्र अपनाना अनिवार्य है कि अपने लिए कभी कुछ नहीं करना है और न आज तक किया हुआ अपने काम आया है। कर्म का परिणाम जो कुछ होता है, उसकी पहुँच शरीर तक ही रहती है। —सफलता की कुंजी

19. अपने को जो चाहिए, वह अपने में है। जो अपने में है, वह किसी श्रम से साध्य नहीं है, अपितु विश्राम से ही साध्य है। विश्राम के लिए किसी भी मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं है। —सफलता की कुंजी

20. सभी परिस्थितियाँ स्वभाव से ही परिवर्तनशील हैं और विश्राम अपने ही में मौजूद है। जो अपने में है, उससे विमुख होना और जिन परिस्थितियों में सतत परिवर्तन है, उनको महत्त्व देना और उनके पीछे दौड़ना ही साधक को विश्राम से वंचित रखता है। —चित्तशुद्धि

21. जब जीवन में विश्राम आ जाता है, तब निस्सन्देहता भी आ जाती है, एवं जब निस्सन्देहता आती है, तब प्रेम का भी प्रादुर्भाव स्वत: हो जाता है।
—चित्तशुद्धि

22. यदि कार्य के अन्त में विश्राम नहीं मिलता तो समझना चाहिए कि कार्य करने में कोई असावधानी अवश्य हुई है, नहीं तो विश्राम का प्राप्त होना स्वाभाविक है।
—चित्तशुद्धि

23. ऐसा कोई सामर्थ्य है ही नहीं, जिसका उद्‌गम-स्थान विश्राम न हो।
—चित्तशुद्धि

24. विश्राम तीन प्रकार से उपलब्ध होता है -वर्तमान कार्य को पवित्र भाव से, पूरी शक्ति लगाकर एवं लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करने से, विवेकपूर्वक चाहरहित होने से, और विश्वासपूर्वक अनन्त की अहैतुकी कृपा के आश्रित होने से।
—चित्तशुद्धि

25. आलस्य और विश्राम में एक बड़ा भेद है। आलसी प्राणी सदैव वस्तुओं के चिन्तन में आबद्ध रहता है और जिसे चिर विश्राम प्राप्त है, वह वस्तुओं के चिन्तन से रहित हो जाता है। —चित्तशुद्धि

26. ऐसी कोई 'गति' नहीं, जिसका उद्‌गम विश्राम न हो; ऐसी कोई 'स्थिति' नहीं, जो विश्राम से सिद्ध न हो; और ऐसा कोई 'विचार' नहीं, जिसका उदय विश्राम में निहित न हो।......... योग, ज्ञान तथा प्रेम की प्राप्ति चिर विश्राम में ही निहित है। —चित्तशुद्धि

27. करने की रुचि का नाश हुए बिना किसी को भी विश्राम नहीं मिलता, जिसके बिना आवश्यक विकास नहीं होता। —चित्तशुद्धि

28. कोई व्यक्ति, कोई देश, कोई काल ऐसा नहीं है कि जिससे आदमी ऊबकर अलग होकर विश्राम नहीं चाहता। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में मनुष्य विश्राम चाहता है -न करना चाहता है, न करने की सोचता है।
—संत-समागम 2

29. श्रम है संसार के लिए और विश्राम है अपने लिए। जब कोई काम करने चलो, तो यह मानकर मत चलो कि मुझे क्या लाभ होगा ? बल्कि यह सोचकर चलो कि इससे परिवार को क्या लाभ होगा, संसार को क्या लाभ होगा ?
—संत-उद्‌बोधन

30. 'श्रम ही जीवन है'—यह तभी तक प्रतीत होता है, जब तक वास्तविक विश्राम अप्राप्त है।
—मूक सत्संग

वैराग्य

1. विरक्ति का वास्तविक अर्थ है -इन्द्रियों के विषयों से अरुचि अर्थात् भोग की अपेक्षा भोक्ता का मूल्य बढ़ा लेना।
—मानव की माँग

2. वैराग्य की प्राप्ति का अचूक साधन तो अपने विवेक का आदर करना है। —संत-उद्बोधन

3. वीतराग होने में ही चरित्र-निर्माण की पराकाष्ठा है और वीतराग होने में ही पूर्ण मानवता का विकास है। —मानव की माँग

4. अनित्य जीवन की निराशा के समान न तो कोई विवेक है, न कोई त्याग है, न कोई प्रायश्चित्त है और न कोई तप है। कारण कि अनित्य जीवन से निराश होते ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों से स्वत: सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही जीवन ही में मृत्यु का अनुभव और अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।
—जीवन-दर्शन

5. मनुष्य को जब वैराग्य होता है, तब सत्य की खोज के अलावा मेरा और भी कोई कर्तव्य है -यह बात उसे नहीं सूझती। वह तो सब कुछ त्याग करके तत्परता के साथ सत्य की खोज में लग जाता है।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

6. कर्तव्य-विज्ञान का नाम ही धर्म है और धर्म-आचरण का फल वैराग्य है। —संत-सौरभ

7. जिसको वैराग्य हो गया अथवा आत्मरति की प्राप्ति हो गई, उसके लिए कोई कार्य शेष नहीं रहता। धर्म का पालन तो वैराग्य होने तक ही करना पड़ता है। कारण, धर्म के पालन से वैराग्य जगता है। वैराग्य होने पर तो सब प्रकार के धर्म और कर्तव्य की समाप्ति हो जाती है। —संत-उद्बोधन

शरणागति

1. जैसे कोई कहे 'हमने प्रभु की शरणागति स्वीकार कर ली', अरे भैया, तुमने स्वीकार की तो उससे अहम् को पोषित क्यों करते हो ? शरणागति तो अहम् को गलाने के लिए है। —जीवन-पथ
2. आस्था, श्रद्धा, विश्वास से युक्त शरणागत 'शरणानन्द' से अभिन्न होता है। —संत-उद्बोधन
3. प्रियता का क्रियात्मक रूप सेवा ही है। इस दृष्टि से शरणागति में भी कर्तव्यपरायणता आ जाती है। —मानव-दर्शन
4. शरणागति की साधना से अहंभावरूपी अणु का नाश हो जाता है, जिसके होते ही सभी को सब कुछ मिल जाता है, और फिर किसी प्रकार का अभाव, पराधीनता एवं नीरसता शेष नहीं रहती, जो जीवन का लक्ष्य है। —संत-उद्बोधन
5. शरणागत साधक अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता। —साधन-निधि
6. शरणागति दीनता नहीं है, अपितु नित्य-सम्बन्ध की स्मृति है। —साधन-निधि
7. अहंकृति रहते हुए शरणागति सिद्ध नहीं होती। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक अपने को समर्पण करने ही में शरणागति निहित है। इस दृष्टि से मूक सत्संग से ही शरणागति सजीव होती है। अहम् के समर्पण में ही अहम् का नाश है। अहम् और मम का नाश ही वास्तविक शरणागति है। —मूक सत्संग
8. कृति का आश्रय रखकर शरणागत नहीं हो सकता, यह ध्रुव सत्य है। जिसे अपने लिए कुछ भी करना है, भला वह अपने को कैसे समर्पित कर सकता है ? और जो अपने को समर्पित नहीं कर सकता, वह भला शरणागत कैसे हो सकता है ? —मूक सत्संग

9. जिस प्रकार अनन्त काल का अन्धकार वर्तमान में नाश हो जाता है, उसी प्रकार जन्म-जन्मान्तर के विकार शरणागत होते ही स्वतः मिट जाते हैं। —संतपत्रावली 1
10. विवेकपूर्वक असंगता अथवा विश्वासपूर्वक समर्पण -इन दोनों का फल एक है। —पाथेय
11. शरणागत की दृष्टि में किसी और का अस्तित्व ही नहीं रहता। वह अनेक रूपों में अपने शरण्य को ही पाता है और प्रत्येक घटना में उन्हीं का दर्शन करता है। —संतपत्रावली 2
12. अपने रचयिता के संकल्प में अपने सभी संकल्प विलीन करना वास्तविक शरणागति है। —संतपत्रावली 2
13. शरणागत होने में ही साधक के पुरुषार्थ की परावधि है। —पाथेय
14. किसी भी काल में कोई और है ही नहीं। सर्वरूप में अपने ही प्रेमास्पद हैं। किसी और का भास होना ही अपनी भूल है। इस भूल का अन्त शरणागत होते ही स्वतः हो जाता है। —पाथेय
15. शरणागति सफलता की कुंजी है और साधक के पुरुषार्थ की परावधि है। शरणागत के जीवन में भय, चिन्ता तथा निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। शरणागत शरण्य को अत्यन्त प्रिय है; कारण कि शरणागत का कोई और नहीं है। —पाथेय
16. प्रीति और प्रियतम के नित्य विहार में ही मानव-जीवन की पूर्णता है, जो एकमात्र शरणागति से ही साध्य है। —पाथेय
17. जिन्होंने उनकी अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर शरणागति स्वीकार की, वे सभी उनके प्रेम-धन को पा गए। —पाथेय
18. शरणागत को सदा के लिए बेमन का हो जाना चाहिए। —पाथेय
19. जब साधक अपने में भलीभाँति असमर्थता का अनुभव कर लेता है, तभी शरणागत होने का अधिकारी होता है। —सत्संग और साधन
20. समर्पण और पुरुषार्थ में विरोध नहीं है।....... पुरुषार्थ से शरणागति और शरणागति से पुरुषार्थ स्वतः होने लगता है। —चित्तशुद्धि

21. **विकल्परहित** विश्वास के आधार पर जब साधक 'अहम्' और **'मम'** को उस अनन्त के समर्पण कर देता है, तब भी वही दिव्य **जीवन** प्राप्त होता है, जो पुरुषार्थ-साध्य है। —चित्तशुद्धि

22. **कुछ न** माँगना अथवा कुछ न करना समर्पण है। केवल शान्ति के पुजारी त्यागपूर्वक तत्त्वज्ञान से शान्ति पाते हैं। केवल शक्ति के पुजारी तप, योग, संयम आदि से शक्ति पाते हैं। परन्तु समर्पित होने पर त्याग तथा तप स्वाभाविक हो जाते हैं। अत: समर्पित होने वाला शक्ति और शान्ति दोनों पाता है। —सन्त-समागम 1

23. शरणागत होने पर फिर कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता। यह भक्तियोग का अन्तिम साधन है। शरणागति जीवन में केवल एक बार होती है। जिस प्राणी को अपने व्यक्तित्व का कुछ भी अभिमान नहीं रहता, वही शरणागति के रस को चख सकता है।

—सन्त-समागम 1

24. सच्चा समर्पण जीवन में एक बार होता है और फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। —सन्त-समागम 1

25. शरणागति-भाव भक्तियोग का अन्तिम साधन है, जो सिर्फ जीवन में एक बार आता है। —सन्त-समागम 1

26. कोई भी वस्तु एवं अवस्था ऐसी नहीं है, जो निरन्तर परिवर्तन न कर रही हो, मानो हमें सिखा रही हो कि हमको किसी भी सीमित भाव में आबद्ध नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत् अपने परम स्वतन्त्र केन्द्र की ओर प्रगतिशील होना चाहिए, जो शरणागत होने पर सुगमता पूर्वक हो सकता है। —सन्त-समागम 2

27. जो-जो व्यक्ति उससे न्यायानुसार जो-जो आशा करता है, उसके प्रति शरणागत वही अभिनय करता है। अपने लिए वह शरण्य से भिन्न और किसी की आशा नहीं करता, अथवा यों कहो कि शरणागत सबके लिए सब कुछ होते हुए भी अपने लिए शरण्य से भिन्न किसी अन्य की ओर नहीं देखता। —सन्त-समागम 2

28. पूर्ण साधन तो वही है, जो साधक को साध्य से विभक्त न होने दे। इस दृष्टि से शरणागति-भाव सर्वोत्कृष्ट साधन है।

—सन्त-समागम 2

29. पतित-से-पतित प्राणी भी शरणागत होते ही पवित्र हो जाता है।
—सन्त-समागम 2

30. यह नियम है कि जो जिसके काम आता है, वह उसका प्रेम-पात्र हो जाता है। अत: इसी नियमानुसार शरणागत शरण्य का शरण्य हो जाता है। —सन्त-समागम 2

31. शरणागत हो जाने पर करने के भाव का अन्त हो जाता है और यह ज्ञात होता है कि अब कुछ भी करना शेष नहीं है। करने का भाव अहंकार को मिटने नहीं देता। —सन्त-समागम 2

32. जो सच्चाईपूर्वक प्रभु के शरणागत हो जाते हैं, उनको आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे ही मिल जाती हैं, और अनावश्यक माँगने पर भी नहीं मिलतीं। —सन्त-समागम 2

33. हम अपने शरीर को अपना मानते हैं और बहुत महत्त्व देते हैं, इसलिए संसार इसे महत्त्व नहीं देता। एक सम्पत्ति के दो मालिक नहीं हो सकते। जो वस्तु प्रभु की हो जाती है, उसकी व्यवस्था आप-से-आप हो जाती है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

34. संसार और शरीर से विमुख होकर अपने-आपको प्रभु के समर्पण करके उन पर निर्भर रहने में, उनकी अहैतुकी कृपा के आश्रित हो जाने में किसी प्रकार की भी कठिनाई नहीं है। अत: यह साधन अत्यन्त सुगम और अमोघ है। —संत-सौरभ

35. जब तक साधक की ईश्वर में सर्वोत्कृष्ट बुद्धि नहीं होती, तब तक वह ईश्वर के शरणागत नहीं हो सकता। —संत-सौरभ

36. शरणागति कोई अभ्यास नहीं है। शरणागति भाव है। शरणागति का अर्थ केवल इतना है कि उस सुने हुए प्रभु के समर्पित अपने को कर देना। —सन्तवाणी 4

शरीर

1. परिवार की सेवा करके शरीर के लिए अधिकार मत जमाओ। अपने शरीर की जरूरतों को परिवार की मरजी पर छोड़ दो। तब देखो, तुम्हें कितनी शान्ति मिलती है ! —साधन-त्रिवेणी
2. परमात्मा को पाने के लिए आपको कोई सामग्री नहीं चाहिए। जब कोई सामग्री नहीं चाहिए तो शरीर का क्या अचार डालोगे ? यह परमात्मा की प्राप्ति में तो काम आएगा नहीं। शरीर के द्वारा परमात्मा के संसार की सेवा कर दो। —साधन-त्रिवेणी
3. शारीरिक आवश्यकता सामाजिक सेवा से स्वतः पूरी होती है। —साधन-त्रिवेणी
4. शरीर को बनाए रखने का जो संकल्प है, वह समाज-सेवा के लिए है। शरीर के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति होती नहीं, शरीर के द्वारा जीवन्मुक्ति मिलती नहीं, शरीर के द्वारा चिरशान्ति होती नहीं। —साधन-त्रिवेणी
5. शरीर का मालिक वही है, जो सृष्टि का मालिक है। मैं इस शरीर का मालिक नहीं हूँ। यह बात जिसने स्वीकार की, उसका देहाभिमान नाश होगा। —साधन-त्रिवेणी
6. शरीर के सहयोग के बिना हम क्या कर सकते हैं ? हम अचाह हो सकते हैं, अप्रयत्न हो सकते हैं और श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक शरणागत हो सकते हैं। —संत-उद्‌बोधन
7. बेचारा शरीर और संसार हमारी माँग की पूर्ति में लेशमात्र भी बाधक अथवा सहायक नहीं है। —संत्-उद्‌बोधन
8. साधकों को वास्तव में अपने लिए किसी भी काल में शरीर की आवश्यकता नहीं है। —संत-उद्‌बोधन
9. विवेकपूर्वक शरीर से अपने को अलग स्वीकार करने पर जगत् की आवश्यकता नहीं रहती। —संत-उद्‌बोधन

10. शरीर हमारा अस्तित्व नहीं है। हमारी जो साधना है, हमारा जो आचरण है, वही हमारा अस्तित्व है। —मानव की माँग
11. किसी से कोई पूछे कि तुम खून में, हड्डियों में, मांस में, मज्जा में, मूत्र में रहना चाहते हो ? तो सभी विचारशील यही कहेंगे कि नहीं रहना चाहते। कारण कि मलिनता किसी को प्रिय नहीं। अब हम स्वयं सोचें कि देह में मलिनता के अतिरिक्त क्या है, तो मानना होगा कि कुछ नहीं। —मानव की माँग
12. जहाँ देह है, वहीं मृत्यु है। —मानव की माँग
13. वस्तुओं का सम्बन्ध प्राण तक है, इससे आगे नहीं। प्राण का सम्बन्ध शरीर तक है, इससे आगे नहीं और शरीर का सम्बन्ध मृत्यु से पूर्व तक है, इससे आगे नहीं। —मानव की माँग
14. यदि किसी से कहा जाए कि सुवर्ण के कलश में मल-मूत्रादि भरकर और रेशम से ढककर क्या उसे अपने पास रखना पसन्द करोगे ? तो सभी भाई-बहन कह देंगे, नहीं। फिर हम शरीर को सुन्दर-सुन्दर अलंकारों एवं वस्त्रों से सुशोभित क्यों रखते हैं ? तो कहना होगा -बुद्धिजन्य ज्ञान के निरादर से। —मानव की माँग
15. कोई भी देह से तादात्म्य कर अपनी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं कर सकता, और अपने को देह से अलग मानकर किसी को भी अपने लिए संसार से कुछ प्राप्त नहीं हुआ। तो फिर मानना ही होगा कि प्रतीति में प्रवृत्ति तो होती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। —मानव की माँग
16. आप कोई ऐसी वस्तु बताएँ जो देह से अपने को अलग मानने पर आपको मिलती है। —मानव की माँग
17. देह की ममता का त्याग करना है, उससे घृणा नहीं करना है। —मानव की माँग
18. देहादि वस्तुओं के विश्वास ने ही हमें प्रभु-विश्वास से और देह में अहंबुद्धि ने ही हमें अमर जीवन से विमुख कर दिया है। —मानव की माँग
19. शरीर के न रहने पर भी जीवन है, तो फिर शरीर को बनाए रखने की कामना क्या अर्थ रखती है ? कुछ नहीं। —साधन-निधि

20. देहादि वस्तुओं के सदुपयोग का दायित्व है, पर उनके आश्रय से अपना हित होगा, यह धारणा भ्रममूलक है। —मूक सत्संग
21. स्वधर्मनिष्ठ होने पर शरीरधर्म का पालन प्राकृतिक नियमानुसार स्वतः होने लगता है। —मूक सत्संग
22. जो लोग शरीर के लिए संसार को समझते हैं, वे विषयों के दास हो वासनारूपी जाल में फँसकर दुःख उठाते हैं और जो शरीर को संसार के लिए समझते हैं, वे संसार से पार हो नित्य आनन्द प्राप्त करते हैं। —संतपत्रावली 1
23. जैसे संसार मुझसे अलग है, जितना दूर है, यह शरीर भी मुझसे उतना ही दूर है। जैसे संसार पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, वैसे ही अपने शरीर पर भी मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है।.......... ईमानदारी की बात तो यह है कि शरीर और संसार का आप से कभी मिलन हुआ ही नहीं। —संतवाणी 7
24. शरीर मिलने पर भी दूर ही रहता है। भाव की एकता एवं विचारों की एकता तथा स्वरूप की एकता वास्तव में मिलन है। —संतपत्रावली 1
25. सब प्रकार के दुःख शरीर को अपना आप समझने पर ही होते हैं। —संतपत्रावली 1
26. शरीर विश्व की वस्तु है। उसे जब तक रहना है, उन्हें जो कार्य कराना है, कराएँगे। —पाथेय
27. जिस प्रकार लिखते समय लेखनी को ग्रहण कर लिया और लिखना समाप्त होते ही उसे यथास्थान रख दिया जाता है, उसी प्रकार कार्य करते समय शरीर को ग्रहण कर लिया करो और कार्य का अन्त होते ही जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रख दिया करो। ऐसा करने से प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहजयोग स्वतः हो जाएगा, जो आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करने में समर्थ है। —पाथेय
28. शरीर की यथावत् देखभाल तथा उसका सदुपयोग करती रहो। उससे ममता तो है ही नहीं, पर उसकी सेवा अवश्य करनी है। —पाथेय
29. प्राप्त देह आदि वस्तुओं को विश्व भगवान् की पूजा-सामग्री समझो, उसे अपना मत मानो -यह महामन्त्र है देहाभिमान से मुक्त होने के लिए। —पाथेय

30. शरीर सेवा-निधि है। उसकी रक्षा करना पूजा है, पर उसकी ममता भूल है। —पाथेय
31. जिस कार्य में कर्ता को रस मिलता है, उसका प्रभाव शरीर के लिए उपयोगी होता है। —पाथेय
32. शारीरिक स्वास्थ्य का भी यथाशक्ति ध्यान रखिए। शरीर की सेवा से भी शरीर का राग नाश होता है। —पाथेय
33. शरीर के रहने न रहने से विश्वासी साधक के जीवन में कोई लाभ-हानि की बात ही नहीं है। —पाथेय
34. शरीर विश्व की सेवा-सामग्री है, उससे अपने को कुछ भी नहीं लेना है। यह वास्तविकता जीवन में आ जाने से शरीर को बनाए रखने का भी संकल्प नहीं रहता। —पाथेय
35. वास्तव में तो शरीर-रहित जीवन ही जीवन है। उसमें ही साधक की अविचल आस्था रहनी चाहिए। उस जीवन के बोध में ही मोह का नाश है। —पाथेय
36. शरीर के बिना साधक अचाह हो सकता है; प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध जोड़ सकता है; की हुई तथा जानी हुई बुराई से रहित होने का व्रत ले सकता है; प्रभु-विश्वास के आधार पर अभय हो सकता है। प्रभु-प्रेम से साधक प्रभु के लिए उपयोगी हो सकता है। —पाथेय
37. तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, और न शरीर तुम्हारा है। शरीर तो केवल संसाररूपी वाटिका की खाद है, और कुछ नहीं। —पाथेय
38. शरीर चाहे जहाँ रहे, चाहे जैसा रहे, अथवा न रहे, उससे अपनी कोई क्षति नहीं होती। —पाथेय
39. जब अपने में शरीरभाव नहीं रहता, तब किसी भी शरीर में आसक्ति नहीं रहती अर्थात् निर्मोहता स्वत: सिद्ध हो जाती है। —पाथेय
40. शरीर कैसा है, इस ओर ध्यान जाना ही भारी भूल है। सेवा-परायण होते ही शरीर की सुरक्षा का प्रश्न समर्थ सेव्य पर हो जाता है, सेवक पर नहीं रहता। —पाथेय

41. जो लोग यह सोचते हैं कि शरीर हमारी रुचि-पूर्त्ति का साधन है, वे कभी भी शान्ति नहीं पाते। उनको कहीं भी, कभी भी शान्ति नहीं मिलती। शरीर है सेवा-सामग्री। —संतवाणी 3
42. शरीर के उपयोग की स्वाधीनता मानव को मिली है। उसको बनाए रखने की स्वाधीनता किसी भी मानव को कभी भी प्राप्त नहीं है। —सफलता की कुंजी
43. शरीररहित जीवन में श्रम की गंध भी नहीं है। अब यदि कोई यह कहे कि क्या शरीर-रहित भी कोई जीवन है ? शरीरयुक्त ही यदि जीवन है तो फिर मृत्यु क्या है ? अतः यह निर्विवाद सत्य है कि शरीर से अतीत ही जीवन है। शरीर में जीवन नहीं है, अपितु शरीर मे जीवन का मिथ्याभास है। —चित्तशुद्धि
44. जो प्राणी शरीर को काम-वासनाओं की पूर्त्ति का साधन मानते हैं, वे न तो मनुष्यता पाते हैं, न सच्चा सुख। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
45. हम शरीर में बैठे हैं, यह महापागलपन है। शरीर नहीं रहेगा तो मेरी क्षति हो जाएगी -यह मानना बड़ा भारी पागलपन है। —संतवाणी 7
46. भौतिकवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। ईश्वरवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। अध्यात्मवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं शरीर नहीं हूँ। —सफलता की कुंजी
47. अपने को देह मानकर कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता। —चित्तशुद्धि
48. समस्त कार्यों की उत्पत्ति अपने को देह मान लेने पर ही होती है अर्थात् देह की तद्रूपता ही प्रवृत्ति की जननी है। —चित्तशुद्धि
49. जिस आहार से शरीर का निर्माण होता है, वह आहार विश्व की उन शक्तियों से मिलता है, जो व्यक्तिगत नहीं हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि शरीर और विश्व में स्वरूप की एकता है। —दर्शन और नीति
50. यदि हमारा शरीर आदि वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ तो समझना चाहिए कि जो वस्तुएँ हमें कर्तव्य-पालन के लिए मिली थीं, उनके द्वारा कर्तव्य-पालन नहीं किया। —चित्तशुद्धि

51. अपने को देह मानकर कोई भी संकल्प-अपूर्त्ति के दुःख और पूर्त्ति के सुख से मुक्त नहीं हो सकता, और अपने को देह से अलग जानकर बड़ी ही सुगमतापूर्वक चिरशान्ति में निवास कर सकता है। —चित्तशुद्धि

52. अपने को देह न मानने पर सभी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं, जिनके निवृत्त होते ही सुख-दुःख का बन्धन टूट जाता है और चिरशान्ति स्वतः प्राप्त हो जाती है। —चित्तशुद्धि

53. देह से तादात्म्यभाव न रहने पर अपना अस्तित्व क्या है, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना बनता नहीं; क्योंकि जो कुछ कहा जाएगा, वह देह के द्वारा ही कहा जाएगा। देह के द्वारा जो कुछ कहा जाएगा, उसमें किसी-न-किसी अंश में देह का प्रभाव आ जाएगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता, उसका अस्तित्व नहीं है। वर्णन भले ही न हो, पर उसकी प्राप्ति हो सकती है। —चित्तशुद्धि

54. शरीर का यथार्थ ज्ञान होने पर सारे विश्व का ज्ञान हो जाता है। कारण कि शरीर विश्वरूपी सागर की ही एक लहर है। —चित्तशुद्धि

55. जिस साधक को अपने शरीर में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नहीं होता, उसे किसी भी वस्तु तथा व्यक्ति में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन नहीं होता। —चित्तशुद्धि

56. देह भाव की स्वीकृति है, उससे एकता नहीं है। परन्तु स्वीकृति में ही अहम्-बुद्धि होने से भिन्नता होने पर भी एकता प्रतीत होने लगती है।........ स्वीकृति केवल अस्वीकृति से ही मिट सकती है, वह किसी और प्रकार से नहीं मिटायी जा सकती। अतः 'देह मैं नहीं हूँ' इतने मात्र से ही देह से सम्बन्ध-विच्छेद हो सकता है, जिसके होते ही काम का अन्त हो जाएगा और नित्यप्राप्त का प्रेम स्वतः जाग्रत होगा। —चित्तशुद्धि

57. देह की प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र से ही जो देह से अतीत है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है अथवा यों कहो कि विश्व की प्राप्ति की स्वीकृतिमात्र से ही जो विश्व का आधार है एवं जिससे समस्त विश्व प्रकाशित है, उसकी अप्राप्ति प्रतीत होती है। —चित्तशुद्धि

58. दो आसक्त प्राणी अपने को देह से अलग अनुभव कर क्या एक-दूसरे में आसक्त हो सकते हैं ? कदापि नहीं।......... देह की आसक्ति के आधार पर ही समस्त वस्तुओं में आसक्ति होती है; क्योंकि देह के लिए ही वस्तुओं की अपेक्षा है।........... यदि देह में आसक्ति न रहे तो किसी भी वस्तु, व्यक्ति आदि में आसक्ति नहीं हो सकती। सूक्ष्म देह की आसक्ति ही विचारधाराओं, सम्प्रदायों तथा मतों में आसक्ति उत्पन्न करती है। —चित्तशुद्धि

59. अपने में शरीरभाव धारण करने पर आनन्दघन भगवान् संसार के स्वरूप में प्रतीत होते हैं। —सन्त-समागम 1

60. शुभाशुभ कर्म प्राणी को 'स्थूलशरीर' में, सार्थक-निरर्थक चिन्तन 'सूक्ष्मशरीर' में और सविकल्प-निर्विकल्प स्थिति 'कारणशरीर' में आबद्ध करती है। —चित्तशुद्धि

61. शरीर तो संसार से अभिन्न है, उसमें आपका क्या ? विचार दृष्टि से देखो कि जिस शरीर को आप अपना समझते हैं, वह वास्तव में सारे संसार से एक है; क्योंकि शरीर तथा संसार अंग तथा अंगी के समान हैं। —सन्त-समागम 1

62. धारा-प्रवाह शरीर काल-अग्नि में जल रहा है, किसी आविष्कार से बचाओ। यदि आविष्कार से नहीं बचा सकते तो प्रकृति के समर्पण कर पल्ला छुड़ा लो। —सन्त-समागम 1

63. मनुष्य अपने शरीर से सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता, वह संसार से भी नहीं तोड़ सकता। सम्बन्ध रखते हुए यदि वह हिमालय पर चला जाए तो भी उसका चित्त शान्त और शुद्ध नहीं हो सकता। —संत-सौरभ

64. जो देह से सम्बन्ध रखता है, वह चाहे कितना ही तपस्वी हो, कितना ही दानी हो, उसकी कितनी ही अच्छी परिस्थिति क्यों न हो, उसका संसार से सम्बन्ध नहीं टूट सकता। —संतवाणी 7

65. बुराई-रहित होने से स्थूलशरीर शुद्ध होता है, अचाह होने से सूक्ष्मशरीर शुद्ध हो जाता है, और अप्रयत्न होने से कारणशरीर शुद्ध हो जाता है। —संतवाणी 2

शिक्षा

1. नौकर वास्तविक शिक्षक नहीं हो सकता। —मानव की माँग
2. यदि कोई आज के युग में अर्थ के बल पर शिक्षित हो भी जाए तो वह उस शिक्षा का सदुपयोग नहीं कर सकेगा, केवल अर्थ-सम्पादन में ही लग जाएगा। —मानव की माँग
3. सेवा-भाव से प्राप्त शिक्षा सेवक बनाती है और अर्थ के द्वारा प्राप्त शिक्षा लोभी बनाती है। —मानव की माँग
4. मैं ऐसा मानता हूँ कि प्रत्येक विद्यालय भावी समाज के निर्माण का मन्दिर है। इस कारण अध्यापन-कार्य के समान और कोई श्रेष्ठ कार्य नहीं है, और विद्यार्थी-जीवन ही मानव के विकास की भूमि है। —संतपत्रावली 2
5. जिनके हृदय में सुन्दर मानव के निर्माण की पीड़ा है, जिनका मस्तिष्क स्वस्थ है और जो अपने-अपने विषय में प्रवीण हैं, वे ही महानुभाव अध्यापन-कार्य के अधिकारी हैं। —संतपत्रावली 2
6. विज्ञान और कलाओं की शिक्षा राष्ट्र दे सकता है; किन्तु भारतीय संस्कृति की शिक्षा धर्मात्मा सेवक के द्वारा ही हो सकती है। —संतपत्रावली 2
7. पढ़ा-लिखा भ्रम में तभी पड़ता है, जब अपनी बात नहीं मानता। पढ़ाई-लिखाई तो एक प्रकार की योग्यता है। योग्यता जब ज्ञान के अधीन नहीं रहती, तो बड़े-बड़े अनर्थ कर डालती है। समाज में जितने दोष पढ़े-लिखों ने फैलाए, उतने किसी ने नहीं फैलाए। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
8. शिक्षित होने की कसौटी क्या है ? तो कहना होगा कि ज्ञान-विज्ञान, कला आदि के द्वारा हम अपने को इतना सुन्दर बना लें कि समाज को हमारी आवश्यकता अनुभव होने लगे। —मानव की माँग

9. समाज की उपयोगिता की सिद्धि जिस योग्यता से सफल हो, उस योग्यता का नाम 'शिक्षा' है। किसी उपाधि (डिग्री) विशेष से ही शिक्षा नहीं मान लेना चाहिए। —मानव की माँग
10. उपाधि का महत्त्व यदि अभिमान की वृद्धि में है तो सर्वथा त्याज्य है। —पाथेय
11. यह नियम है कि बालक देखकर बदलते हैं। जब उन्हें सच्चाई, सच्चरित्रता एवं उदारता आदि दिव्य-गुण-सम्पन्न जीवन देखने को मिलेगा तो वे स्वयं वैसे ही बन जाएँगे। —मानव की माँग

यह सभी को विदित होगा कि जो पशु जिस देशकाल में उत्पन्न होते हैं, उनकी रक्षा प्रकृति की गोद में स्वतः होती है। इससे यह स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि रक्षा का दायित्व किसी विधान में निहित है। परन्तु बुद्धिमान मानव प्रकृति के विधान का आदर न करके प्रकृति का भोग करता है। उसी का परिणाम यह हुआ है कि वस्तुओं का अभाव है और वस्तुओं में उत्तरोत्तर शक्ति की कमी होती जाती है। यह वस्तु-विज्ञान से सिद्ध है।

संकल्प

1. हर संकल्प की पूर्त्ति होने पर मनुष्य उसी स्थिति में आता है, जिस स्थिति में संकल्प की उत्पत्ति के पूर्व था। इस सत्य को आप क्यों नहीं पकड़ते बाबा ? उसके पूरे होने से आपकी कोई वृद्धि नहीं हो गयी। उसके पूरे न होने से आपकी कोई क्षति नहीं हो गयी। आप तो उसी स्थिति में थे ही। —संतवाणी 5
2. संकल्प की पूर्त्ति विधान से होती है, न कि संकल्प करने से। —संत-उद्‌बोधन
3. अपना संकल्प ही अपनी दुर्गति का मूल कारण है। —संत-उद्‌बोधन
4. वास्तव में तो कार्यक्रम निश्चित ही है। पर उसका अनुभव उन्हीं साधकों को होता है, जिनका अपना कोई संकल्प नहीं रहता। अत: अपना संकल्प न रखकर जो हो, वही ठीक है। —पाथेय
5. वास्तविक स्वाधीनता का पुजारी तो संकल्प-पूर्त्ति में भी पराधीनता का ही दर्शन करता है। कारण कि संकल्प-पूर्त्ति देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि के अधीन है। —सत्संग और साधन
6. संकल्पों की पूर्त्ति और अपूर्त्ति विधान के अधीन है। उनका सदुपयोग करने में साधक स्वाधीन है। —सत्संग और साधन
7. जब साधक का अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब दूसरों के संकल्प से आवश्यक कार्य स्वत: होते रहते हैं। संकल्प-रहित होने से साधक की किसी प्रकार की क्षति नहीं होती, अपितु सर्वतोमुखी विकास ही होता है। —सफलता की कुंजी
8. जगत् के संकल्पों को पूरा करना कर्तव्य अर्थात् 'सेवा' है और प्रभु के संकल्पों को पूरा करना 'पूजा' है। जब अपना कोई संकल्प नहीं रहता, तब किसी विकार की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है, जो वास्तव में साधन है। —सफलता की कुंजी

9. वस्तुओं की सत्यता, सुन्दरता एवं सुखरूपता का आकर्षण ही संकल्प का स्वरूप है, अथवा यों कहो कि अपने से वस्तुओं का अधिक महत्त्व स्वीकार करना संकल्पों में आबद्ध होना है।
—चित्तशुद्धि

10. विवेकपूर्वक शरीर से तद्रूपता मिट जाने पर संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती। संकल्पों की निवृत्ति होते ही सुख-दु:ख से अतीत 'शान्ति' के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है, जिसके होते ही भोक्ता, भोग की रुचि और भोग्य वस्तुएँ -इन तीनों का भेद मिट जाता है।
—चित्तशुद्धि

11. जिन संकल्पों से किसी अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का आह्वान होने लगता है, वे संकल्प अशुद्ध हैं और त्याज्य हैं; क्योंकि वे जड़ता तथा पराधीनता की ओर ले जाते हैं, और जो संकल्प सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत करते हैं, वे शुद्ध संकल्प हैं। यह नियम है कि अशुद्ध संकल्प मिट जाने पर शुद्ध संकल्प स्वत: पूरे हो जाते हैं।
—चित्तशुद्धि

12. संकल्प-पूर्त्ति से जितना सुख मिलता है, उससे कहीं अधिक शान्ति संकल्प-निवृत्ति से प्राप्त होती है।
—चित्तशुद्धि

13. जब तक वस्तुओं से सम्बन्ध-विच्छेद न होगा, तब तक संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्त्ति और निवृत्ति होती ही रहेगी।
—चित्तशुद्धि

14. समस्त संकल्पों का उद्गम-स्थान भी वस्तु से तादात्म्य है और संकल्प-पूर्त्ति में भी वस्तुओं की ही महत्ता है; अथवा यों कहो कि वस्तु ही जीवन है, यह दृढ़ता ही वास्तव में संकल्प का स्वरूप है। वस्तुओं के अस्तित्व की अस्वीकृति में संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं है। इस दृष्टि से वस्तुओं के सूक्ष्म रूप का नाम 'संकल्प' और संकल्प के स्थूल रूप का नाम 'वस्तु' है।...... संकल्प और वस्तु -ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; उसे वस्तु कहो अथवा संकल्प।
—चित्तशुद्धि

15. जब-जब जीवन में संकल्प-अपूर्त्ति का चित्र सामने आए, तब-तब साधक को यही समझना चाहिए कि मेरे संकल्प की अपूर्त्ति में प्रेमास्पद के संकल्प की पूर्त्ति निहित है।
—चित्तशुद्धि

16. अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों के त्याग की सार्थकता तभी सिद्ध होती है, जब साधक शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख में आबद्ध न हो; क्योंकि संकल्प-पूर्त्ति का सुख नवीन संकल्पों का जन्मदाता है। इतना ही नहीं, सुखभोग की रुचि से ही अशुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं। कारण कि सुख का भोग देहाभिमान को पुष्ट करता है।
—चित्तशुद्धि

17. प्रत्येक संकल्प-पूर्त्ति के सुख की दासता नवीन संकल्प की जननी है।
—चित्तशुद्धि

18. जब तक प्राणी वस्तु, व्यक्ति आदि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं कर लेता, तब तक संकल्प की उत्पत्ति ही नहीं होती । इस दृष्टि से वस्तु, व्यक्ति आदि की सत्यता की स्वीकृति और उनका सम्बन्ध ही संकल्प का स्वरूप है।
—चित्तशुद्धि

19. अशुभ संकल्प की अपेक्षा शुभ संकल्प अधिक आदरणीय है; किन्तु नि:संकल्पता के सामने शुभ संकल्प कुछ भी मूल्य नहीं रखता।
—सन्त-समागम 2

20. मन में उन संकल्पों को मत उठने दो, जो धर्मानुसार न हों, एवं जिनके प्रकाशित करने में संकोच हो।
—सन्त-समागम 2

21. जो वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति व अवस्था से सम्बन्ध जोड़ दे, उसे संकल्प कहते हैं।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

22. नि:संकल्पता आ जाने पर 'है' (सत्) में प्रतिष्ठा और 'नहीं' (असत्) से सम्बन्ध-विच्छेद स्वत: हो जाता है; क्योंकि जो 'नहीं' है, उसका संकल्प करते ही उससे स्वीकृतिजन्य सम्बन्ध होता है और जो 'है' उसका संकल्प करते ही उससे दूरी होती है।
—सन्त-समागम 2

23. जब कभी साधक को ऐसा प्रतीत हो कि मेरे आवश्यक और शुभ संकल्पों की भी पूर्त्ति नहीं हो रही है, तो उस समय मन में किसी प्रकार की खिन्नता या निराशा को स्थान नहीं देना चाहिए; किन्तु ऐसा समझना चाहिए कि 'प्रभु अब मुझे अपनाने के लिए, मुझे अपना प्रेम प्रदान करने के लिए मेरे मन की बात पूरी न करके अपने मन की बात पूरी कर रहे हैं'।
—संत-सौरभ

24. जब किसी-न-किसी प्रकार का राग विद्यमान है, तब उसी से संकल्प होते हैं।
—संत-सौरभ

25. साधक को चाहिए कि संकल्प के निवृत्ति काल में जो उसे रस मिलता है, उसका अनुभव करे। संकल्प उत्पन्न होकर पूरा हो जाए और दूसरा संकल्प उत्पन्न न हो, उसके बीच में ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर संकल्प-निवृत्ति के रस का अनुभव हो सकता है।
—संत-सौरभ

26. देह से जो तादात्म्य भाव स्वीकार कर लेते हैं, यही संकल्पों की उत्पत्ति का मूल कारण है।
—संतवाणी 4

27. सभी विचारकों को यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन संकल्प-पूर्त्ति के अन्त में उसी स्थिति में आता है, जिस स्थिति में संकल्प-उत्पत्ति के पूर्व था। तो मिला क्या भाई ? मिला तो वही जो दाद को खुजलाने वाले को मिलता है -खुजलाने में रस और परिणाम में जख्म। इसके अतिरिक्त किसी भी संकल्प-पूर्त्ति के बदले में किसी भी भाई को कुछ नहीं मिल सकता।
—संतवाणी 4

28. अपने पास अपना संकल्प रखते हुए पराधीनता से रहित नहीं हो सकते, जड़ता से रहित नहीं हो सकते, अभाव से रहित नहीं हो सकते।
—संतवाणी 4

29. संकल्प-पूर्त्ति के सुख का भोग हमें पराधीन बनाता है। संकल्प-अपूर्त्ति के दुःख का भय हमें चैन से नहीं रहने देता।
—संतवाणी 4

30. अपना संकल्प समस्त असाधनों का मूल है। वह असत् है। क्यों असत् है ? भाई, एक तो पूरा नहीं होता, इसलिए असत् है। और क्यों असत् है ? पूरा होने से पराधीनता बढ़ती है, इसलिए असत् है। तो अपना संकल्प रखना अपने जाने हुए असत् का संग है।
—जीवन-पथ

31. यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके मन में अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति ही नहीं होती और उनके बिना अशुद्ध कर्म का जन्म ही नहीं होता।
—चित्तशुद्धि

संघर्ष

1. जो हो रहा है, उसका आदर न करने से अन्तर्संघर्ष और प्राप्त परिस्थिति का विवेकपूर्वक सदुपयोग न करने से बाह्य संघर्ष उत्पन्न होता है। —दर्शन और नीति
2. मानव जब अनेक भेद होने पर भी एक प्रकार से सभी को उद्देश्य-पूर्ति का आग्रहपूर्वक पाठ पढ़ाता है और अपनी प्रणाली से भिन्न का विरोध करता है, तब मानव विकास के नाम पर एक नवीन संघर्ष को जन्म देता है। —दर्शन और नीति
3. बाह्य दृष्टि से संघर्षों का कारण आर्थिक अभाव तथा राजनीतिक पराधीनता प्रतीत होती है, पर अन्तर्दृष्टि से संघर्ष का मूल नीरसता अर्थात् प्रीति का अभाव ही है। —दर्शन और नीति
4. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक और विवेक से साध्य को अधिक महत्त्व देना है। उद्देश्य-पूर्त्ति तथा संघर्ष का अन्त एवं शान्ति की स्थापना करने के लिए उपर्युक्त क्रम स्वीकार करना प्रत्येक मत, सम्प्रदाय, वर्ग, समाज तथा देश के व्यक्तियों के लिए अनिवार्य है। —दर्शन और नीति
5. हिंसात्मक युद्ध किसी प्रकार विजय प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि शरीररूपी क्षेत्र के तोड़ देने से विचारों का समुदाय मिटाया नहीं जा सकता। अत: हिंसात्मक युद्ध से जो राष्ट्र आज छिन्न-भिन्न दिखायी देता है, वही कालान्तर में घोर प्रबलतापूर्वक पुन: युद्ध करने के लिए समर्थ होता है; क्योंकि उसकी युद्ध की भावना नष्ट नहीं हुई थी। मरने वाला प्राणी पुन: मारने के लिए प्रकृति माता से शक्ति लेकर उत्पन्न होता है। —सन्त-समागम 1
6. दुखियों के शरीर आदि वस्तुओं को छिन्न-भिन्न कर देने से उनका अन्त नहीं हो जाता; क्योंकि सूक्ष्म तथा कारणशरीर शेष रहते हैं।

यदि हम किसी के स्थूलशरीर को नष्ट भी कर दें तो भी वह प्राणी जिस भाव को लेकर स्थूलशरीर का त्याग करता है, उसी भावना के अनुरूप प्रकृति माता से अथवा यों कहो कि जगत्-कारण-से शक्ति संचय कर, हम से अधिक शक्तिशाली हो, हमारा विरोध करने के लिए हमारे सामने आ जाता है।

—सन्त-समागम 2

7. जीवन में, परिवार में, समाज में यह जो संघर्ष होता है, वह एकदम नहीं हो जाता। हमारे-आपके मन में ही वह लड़ाई पैदा होती है।

—संतवाणी 7

8. लड़ाई क्यों होती है ? इस पर गौर किया जाए तो साफ मालूम होता है कि जब समाज में सुखियों की संख्या कम हो जाती है और दुखियों की संख्या बढ़ जाती है; सुखियों में उदारता नहीं रहती और दुखियों में त्याग नहीं रहता, तब लड़ाई होती है।

—संतवाणी 7

9. सामाजिक संघर्ष मिटाने का सबसे सुन्दर उपाय क्या है ? यह उपाय नहीं है कि हम जो मानते हैं, वह सब मानने लग जाएँ; हम जो करते हैं, वह सब करने लग जाएँ। उपाय यह है कि हम अपने और दूसरों के बीच में अनेकों प्रकार के भेद क्यों न पाएँ, पर सभी के साथ प्रीति की एकता रखेंगे। —संतवाणी 7

10. जहाँ ममता और संग्रह नहीं है, वहाँ संघर्ष हो ही नहीं सकता। जितने संघर्ष होते हैं सरकार ! वे होते हैं संग्रह में, ममता में।

—संतवाणी 5

11. समस्त संघर्षों का मूल एकमात्र यह है कि व्यक्ति, वर्ग, समाज, देश अपने दोष को भूलकर दूसरे के दोष पर दृष्टि रखते हैं।

—दर्शन और नीति

संसार (सृष्टि, विश्व)

1. संसार की जरूरत आपको न रहे और संसार आपकी जरूरत अनुभव करे -यह है जीवन का शुद्ध भौतिकवाद। इसको कहते हैं दुनिया में रहने का सही ढंग। —साधन-त्रिवेणी
2. बाह्य भिन्नता और आन्तरिक एकता के अतिरिक्त समस्त विश्व कुछ नहीं है। —मानव-दर्शन
3. यह नियम है कि जो जगत् की आवश्यकता अनुभव नहीं करता, वही जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। —मानव-दर्शन
4. सृष्टि स्वयं अपने को आप प्रकाशित नहीं करती । अत: यह स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है कि सृष्टि किसी का प्रकाश है। —मूक सत्संग
5. ब्रह्म जगत् के बिना रह सकता है और जगत् ब्रह्म के बिना नहीं रह सकता; क्योंकि जगत् और ब्रह्म में केवल काल्पनिक भेद है, स्वरूप से नहीं। इसलिए ब्रह्म सत्य और जगत् मिथ्या है। —संतपत्रावली 1
6. 'यह' (संसार) और 'वह' (परमात्मा) और 'मैं' -इन तीनों को एक समझो; क्योंकि जो जिसमें उत्पन्न होकर जिसमें स्थित रहता है और अन्त में उसमें ही लय हो जाता है, वह वास्तव में वही होता है। —संतपत्रावली 1
7. किसी की भूल देखने के लिए भी देखने वाले को स्वयं को भूलना पड़ता है; क्योंकि जब तक वह अपने में शरीरभाव नहीं धारण करता, तब तक संसार नहीं दिखाई देता, ऐसा मेरा अनुभव है। —संतपत्रावली 1
8. सृष्टि किसी व्यक्ति की बनाई हुई नहीं है। सृष्टिकर्त्ता ने अपने ही में से सृष्टि का निर्माण किया है। —पाथेय

9. वास्तव में तो समस्त विश्व एक है, और विश्व तथा विश्वनाथ से मानव का अविभाज्य सम्बन्ध है। —पाथेय
10. विश्व की सेवा अपेक्षित है, विश्वास नहीं।
—सत्संग और साधन
11. जगत् को मिथ्या कहना मात्र ही अध्यात्मवाद नहीं है प्रत्युत् भेद और भिन्नता का अत्यन्त अभाव ही अध्यात्मवाद है।
—दु:ख का प्रभाव
12. द्रष्टा की दृष्टि में सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि समस्त सृष्टि तो बुद्धि के सम होते ही विलीन हो जाती है।
—जीवन-दर्शन
13. प्रत्येक व्यक्ति समस्त संसार का ऋणी है। —मानव की माँग
14. समस्त विश्व एक वस्तु है। उसमें जो हमें अपने व्यक्तित्व का भास होता है, वह 'अहं' और 'मम' का परिणाम है, और कुछ नहीं। उस व्यक्तित्व को मिटाने के लिए ही जो कुछ भी योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुरूप में प्राप्त है, उसे विश्व की भेंट कर देना है; क्योंकि वास्तव में वह उसी का है। —जीवन-दर्शन
15. भौतिक दृष्टि से समस्त विश्व एक जीवन है। अध्यात्म दृष्टि से सब अपना ही स्वरूप है। आस्तिक दृष्टि से प्रेमास्पद से भिन्न कुछ है ही नहीं। —दर्शन और नीति
16. समस्त विश्व दर्पण के तुल्य है। उसमें मानव अपने ही चित्र को देखता है। यदि ऐसा न होता तो एक ही विश्व के सम्बन्ध में अनेक मत न होते। —दर्शन और नीति
17. जो किसी से भी घृणा करता है, वह उस अनन्त से घृणा करता है; क्योंकि समस्त विश्व उसी की अभिव्यक्ति है। —चित्तशुद्धि
18. सृष्टि तो केवल अपने में विषयादिक भाव को धारण करने से प्रतीत होती है। विषयासक्त बेचारा मानी हुई सत्ता को स्वीकार करता है। अत: यही सृष्टि के प्रतीत होने का कारण है। कारण का नाश होने पर कार्य का नाश अपने-आप हो जाता है। अत: विषयजन्य स्वभाव का अन्त होने पर सृष्टि का अन्त हो जाता है।
—सन्त-समागम 1
19. यदि संसार पर शासन करना चाहते हो तो संसार की ओर मत देखो। —सन्त-समागम 1

20. भोग की चाह ही वास्तव में संसार है; क्योंकि भोग की चाह न रहने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि तथा संसार सभी बेकार हो जाते हैं। —सन्त-समागम 1

21. जगत् क्या है ? यह तो तब कहा जा सकता है, जब हम जगत् से अलग हों। जगत् से अलग होकर जगत् एक वस्तु है, अनेक नहीं; क्योंकि जगत् का नानात्व जगत् होकर प्रतीत करते हो। जगत् होकर जगत् को जान नहीं पाते। अत: जगत् में नानात्व है, यह बात किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। —सन्त-समागम 1

22. जिस प्रकार जल का ज्ञान होने पर लहर जल से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जगत् का यथार्थ ज्ञान होने पर जगत् निज-स्वरूप से भिन्न नहीं है। जल-दृष्टि होने पर लहर-दृष्टि शेष नहीं रहती, फिर लहर में नानात्व है, यह कैसे कहा जा सकता है ? —सन्त-समागम 1

23. एक जीवन से भिन्न और कुछ विचार-दृष्टि से देखने में नहीं आता। आपको जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल आपका राग है। —सन्त-समागम 1

24. अनन्त संख्याएँ एक ही इकाई से उत्पन्न होती हैं; क्योंकि इकाई की सत्ता निकलने पर संख्या कुछ नहीं रहती। अत: एक इकाई की संख्या ही संख्या रूप से प्रतीत होती है, और संख्या का ज्ञान होने पर इकाई ही शेष रहती है अर्थात् जगत् का नानात्व एकत्व में विलीन होता है। गहराई से देखो, 'एक' से 'नौ' तक गणना होने पर अन्त में फिर एक ही शेष रहता है। —सन्त-समागम 1

25. विश्व केवल हमारी एक अवस्था के सिवाय और कुछ अर्थ नहीं रखता। —सन्त-समागम 2

26. सृष्टि केवल विषयी प्राणियों के लिए है। विषयी प्राणी जिज्ञासु और भक्त नहीं हो सकता। वह तप कर सकता है, पुण्य कर सकता है। अनीश्वरवादी दान भी कर सकता है, पर वह प्रेम नहीं कर सकता, संसार से विमुख नहीं हो सकता। —सन्त-समागम 2

27. केवल असत्य को असत्य समझने मात्र से आसक्ति नहीं छूटती। सत्य की आवश्यकता होने पर असत्य अपने-आप छूट जाता है। —सन्त-समागम 2

28. प्यारे! मन, इन्द्रिय आदि के द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल दृश्य है। उसी को साधारण प्राणी 'संसार' के नाम से कथन करते हैं।
—सन्त-समागम 2

29. कर्म, शरीर व संसार -इन तीनों का स्वरूप एक ही है।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

30. संसार मोह का क्षेत्र नहीं, सेवा का क्षेत्र है।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

31. प्रत्येक व्यक्ति विश्वरूपी सागर की एक बूँद है। सिन्धु और बिन्दु में गुणों की भिन्नता होने पर भी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। गुणों की भिन्नता होने से 'कर्म' की भिन्नता और जातीय तथा स्वरूप की एकता होने से 'लक्ष्य' की एकता स्वाभाविक है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

32. माँग की पूर्त्ति संसार की सहायता से नहीं हो सकती।
—संतवाणी 8

33. हमारा और संसार का सम्बन्ध 'सेवा' का सम्बन्ध है...... और कोई सम्बन्ध नहीं है।
—संतवाणी 8

34. संसार में कोई चीज हमें मिली है, यह बहुत बड़ा भ्रम है।
—संतवाणी 8

35. संसार में सम्बन्ध दो ही तरह से रहता है -देना है, तब भी सम्बन्ध रहेगा; लेना है, तब भी सम्बन्ध रहेगा। देना दे दिया और लेना छोड़ दिया तो संसार से सम्बन्ध टूट जाता है।
—संतवाणी 8

36. संसार केवल प्रेम से प्रसन्न नहीं होता, उसको सेवा भी चाहिए।
—संतवाणी 8

37. संसार जो कुछ दे सकता है, वह शरीर के आगे पहुँचता है क्या ? नहीं पहुँचता।
—संतवाणी 8

38. संसार दुःखद नहीं है, संसार का सम्बन्ध दुःखद है।
—संतवाणी 8

39. संसार जब यह देखता है कि जो कोई आदमी संसार में अपनी ममता करता है, संसार की कामना करता है, उससे संसार अप्रसन्न हो जाता है, उससे खुश नहीं होता, उसके पीछे नहीं दौड़ता।........... जो अकिंचन और अचाह है, उसे संसार पसन्द करता है।
—संतवाणी 8

40. दृश्य की प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान से तद्रूप होने पर होती है। ये दोनों भी दृश्य ही हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि दृश्य से तद्रूप होने पर ही दृश्य की प्रतीति होती है।—जीवन-दर्शन
41. जब आप कोई कामना पूरी करना चाहते हैं, तब आपको संसार का भास होता है। आप कुछ न चाहें, संसार आपको मुँह नहीं दिखाएगा। —संतवाणी 5
42. यदि आप विचार करके देखें तो सबल और निर्बल दोनों के सहयोग से ही संसार का काम चलता है। केवल सबलों से ही नहीं चलता। जहाँ एक योग्य चिकित्सक चाहिए, वहाँ रोगी भी तो चाहिए। मान लीजिये, योग्य चिकित्सक हो और रोगी कोई न हो तो चिकित्सक का काम चलेगा ? —संतवाणी 3
43. कर्म का सम्बन्ध 'पर' के प्रति है, 'स्व' के प्रति नहीं। अपने से भिन्न जो कुछ है, वही 'पर' है। जिसे 'यह' करके सम्बोधन करते हैं, वह अपने से भिन्न है। इस कारण शरीर तथा समस्त सृष्टि 'पर' के अर्थ में ही आती है। —मूक सत्संग

उत्पत्ति, रक्षा और विनाश के अधीन हैं। कोई भी वस्तु किसी भी व्यक्ति को अमर नहीं बनाती। यदि ऐसा होता, तो कुछ प्राणी अवश्य अविनाशी हो जाते। यदि विनाश को नवीन उत्पत्ति का साधन मानकर विनाश का भय नष्ट कर दिया जाए और वस्तुओं का उपयोग रक्षा में हो, विलास में नहीं, जीवन का उपयोग कर्त्तव्य में हो, अकर्त्तव्य में नहीं, तो प्रकृति का मंगलमय विधान रक्षार्थ आवश्यक वस्तु शक्ति एवं योग्यता स्वतः प्रदान करता है। अतः कर्त्तव्य-परायणता आवश्यक वस्तुओं की जननी है।

सत्संग (दे. मूक सत्संग)

1. हम सत्संग के नाम पर तो सत् की चर्चा करते हैं और संग करते हैं असत् का। —संतवाणी 4
2. असत् के बनाये रखने से हमारी निन्दा नहीं होती, लेकिन असत् के प्रकट करने में हमारी निन्दा होती है ! यह दुर्बलता जब तक रहेगी, हम सत्संग नहीं कर सकते। —संतवाणी 4
3. शरीर द्वारा परमात्मा की सृष्टि का कार्य कर सकते हैं। लेकिन आप अपना कार्य करते हैं, जबकि आपका कोई कार्य है नहीं। जो आपका कार्य है आपका निजी, आपका जो पर्सनल कार्य है, वह है सत्संग। —संतवाणी 7
4. जाग्रत्-सुषुप्ति का नाम ही 'मूक सत्संग' है और यदि मैं यह कह दूँ कि इसी का नाम 'सत्संग' है तो कोई अत्युक्ति की बात नहीं होगी। —प्रेरणा पथ
5. सत्संग का अर्थ ही है कि 'है' का संग। —प्रेरणा पथ
6. सत्संग श्रम-रहित जीवन में स्वत: सिद्ध है। —प्रेरणा पथ
7. सत्संग की परिभाषा क्या है ? बल का दुरुपयोग नहीं करूँगा -यह सत्संग है, ज्ञान का अनादर नहीं करूँगा -यह सत्संग है, विश्वास में विकल्प नहीं करूँगा -यह सत्संग है। —साधन-त्रिवेणी
8. मानव-सेवा-संघ की नीति में प्रवचन को भी सत्चर्चा कहा है, सत्संग नहीं।...... मानव-सेवा-संघ में मूक सत्संग को मुख्य सत्संग माना है। —संत-उद्‌बोधन
9. सत्य को स्वीकार करना ही सत्संग है। —संत-उद्‌बोधन
10. सत्संग स्वधर्म है, शरीरधर्म नहीं। —संत-उद्‌बोधन
11. सत्संग का अर्थ अभ्यास नहीं है, असत् का त्याग ही सत्संग है। —संत-उद्‌बोधन

12. सत्संग कोई अभ्यास अथवा तप नहीं है, अपितु साधक का स्वधर्म है, अर्थात् पराश्रय के बिना अपने ही द्वारा जिसकी सिद्धि होती है, वही सत्संग है। —साधन-निधि
13. 'मूक सत्संग से भिन्न भी सत्संग है', यह स्वीकार करना सत् की चर्चा को ही सत् का संग मानना है। यद्यपि सत् की चर्चा सत् के संग का सहयोगी प्रयास है, परन्तु सत् का संग नहीं है। —मूक सत्संग
14. यद्यपि सत्संग के सहयोगी उपायों को भी सत्संग कहते हैं; परन्तु वास्तविक सत्संग तो अहंकृति-रहित होने से ही सिद्ध होता है अर्थात् मूक सत्संग ही 'सत्संग' है, जो प्रत्येक मानव को प्राप्त हो सकता है। —मूक सत्संग
15. सत्संग कोई अभ्यास नहीं है, अपितु स्वधर्म है। अभ्यास के लिए शरीर आदि की अपेक्षा होती है। किन्तु सत्संग अपने ही द्वारा उपलब्ध होता है। —मूक सत्संग
16. सत्संग ही मानव मात्र का परम पुरुषार्थ है। —मूक सत्संग
17. सत्-चर्चा, सत्-चिन्तन तथा सत्-कर्म के लिए किसी-न-किसी परिस्थिति की अपेक्षा होती है। प्रत्येक परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथा परप्रकाश्य है। अतएव परिस्थिति का आश्रय मानव को सत्संग से विमुख कर देता है। —मूक सत्संग
18. अपना कुछ नहीं है, अपने को कुछ नहीं चाहिए, अपने लिए कुछ नहीं करना है -यह सत्संग है। —मूक सत्संग
19. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा सत्संग नहीं होता। अपने ही द्वारा सत्संग करना है; कारण कि अपने ही में सत्संग की माँग है। शरीर के सम्बन्ध से तो ममता, कामना आदि विकारों की उत्पत्ति होती है। —मूक सत्संग
20. सत्संग का अर्थ है -'है' का सत्संग अर्थात् जो मौजूद है, विद्यमान है, प्राप्त है, उसका संग। —संतवाणी 5
21. सत्संग से जिसकी प्राप्ति होती है, उसकी प्राप्ति किसी अन्य प्रकार से नहीं होती। —मूक सत्संग
22. अध्यात्मवाद की दृष्टि से समस्त सृष्टि से असंग होना सत्संग है और आस्तिकवाद की दृष्टि से श्रद्धा-विश्वासपूर्वक प्रभु में आत्मीयता स्वीकार करना सत्संग है। —मूक सत्संग

23. सत् का संग श्रमसाध्य नहीं है। इस कारण मूक सत्संग ही वास्तविक सत्संग है। —मूक सत्संग
24. सत्संग के बिना कोई ऐसा उपाय है ही नहीं कि मानव सर्वांश में असाधनरहित होकर साधननिष्ठ हो जाय। —मूक सत्संग
25. सब ओर से विमुख होना ही वास्तविक सत्संग है और सत्संग से ही प्रेमी प्रेमास्पद से, जिज्ञासु तत्त्वज्ञान से, अशान्त परमशान्ति से और असमर्थ सामर्थ्य से अभिन्न होता है। —मूक सत्संग
26. जिसका सम्पादन 'स्व' के द्वारा होता है, वही सत्संग है। —संतपत्रावली 2
27. सत्-कार्य, सत्-चर्चा एवं सत्-चिन्तन आदि सत्संग नहीं है। सत्संग मानव का स्वधर्म है और चर्चा, चिन्तन आदि पराश्रय और परिश्रम से साध्य हैं। जो पराश्रय एवं परिश्रम से साध्य है, उसका विनाश अनिवार्य है। —संतपत्रावली 2
28. सत्संग के द्वारा सभी साधकों को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। —संतपत्रावली 2
29. वास्तव में तो सत्संग जीवन में एक ही बार होता है, सत् की चर्चा अनेक बार होती है। —पाथेय
30. सोई हुई मानवता जगाने के लिए एकमात्र सत्संग ही अचूक उपाय है। —पाथेय
31. असत् का त्याग और सत् का संग एक ही तत्त्व के दो रूप हैं। अन्तर केवल इतना है कि असत् का त्याग पुरुषार्थ है और सत् का संग स्वत: सिद्ध है। असत् के त्याग के अतिरिक्त सत्संग के लिए कोई अन्य प्रयास अपेक्षित नहीं है। केवल असत् के त्यागमात्र से ही सत्संग हो जाता है। —सत्संग और साधन
32. सत्संग कहने में नहीं आता, किया जाता है। असत् का त्याग होने पर सत् का संग अपने-आप होता है। —सन्त-समागम 1
33. सत्संग के बिना कोई भी मानव नहीं हो सकता। कारण कि विवेक-युक्त प्राण जिसमें है, वही मानव है। विवेक-रहित प्राण तो पशु, पक्षी तथा वृक्षों में भी है। मानव-जीवन की महत्त्वपूर्ण वस्तु तो विवेक ही है। उसी के विकास के लिए सत्संग की परम आवश्यकता है। उस सत्संग को प्राप्त करने के तीन उपाय हैं—1.

सद्ग्रन्थ 2. सत्पुरुष और 3. सर्वान्तर्यामी रूप से जो सत्स्वरूप परमात्मा प्राप्त है, उसका संग। उसका संग असत् के त्याग से प्राप्त हो सकता है। जिसे यह तीसरे प्रकार का सत्संग प्राप्त है, उसे सद्ग्रन्थ तथा सत्पुरुषों की आवश्यकता नहीं होती।........... इस सत्संग के लिए किसी उत्सव तथा संगठन की आवश्यकता नहीं है। एकान्त में मौन होकर इस सत्संग को प्राप्त किया जा सकता है।

—सन्त-समागम 2

34. सच्चा सत्संगी वह होता है, जो सत्य को स्वीकार करता है, जो सत्य का प्रेमी होता है। वह न तो संसार से कुछ चाहता है, न भगवान से कुछ चाहता है। —संतवाणी 8

35. सत्संग का अर्थ यह व्याख्यान सुनना नहीं है। यह तो सच्चर्चा है। सोचना-समझना -यह सच्चिन्तन है। सत्संग है -सत्य को स्वीकार कर लेना। 'मेरा कुछ नहीं है' -यह सत्य है। 'मुझे कुछ नहीं चाहिए' -यह सत्य है। —संतवाणी 8

36. सत्संग का अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति-विशेष आ गया, उसने एक व्याख्यान दे दिया और हम सब लोगों ने श्रवण कर लिया। यह तो सत्संग का सहयोगी साधन है। वास्तव में यह सत्संग नहीं है। सत्संग का वास्तविक स्वरूप है -अपने जाने हुए असत् का त्याग। —संतवाणी 6

प्रकृति साधक को जो कुछ देती है, उससे अतीत के जीवन की ओर अग्रसर करने के लिए वह दिए हुए को अपने में विलीन कर लेती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है। किन्तु मानव मिले हुए की आसक्तियों के कारण उन्हें सुरक्षित रखने की सोचता है, ममता-रहित होकर उसका सदुपयोग नहीं करता। उसका परिणाम यह होता है कि लोभ, मोह आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके होने से प्राणी न तो मिले हुए का सदुपयोग ही कर पाता है और न वस्तुओं से अतीत के जीवन में प्रवेश ही। अतः वस्तुओं के विनाश से भयभीत होना वस्तुओं की दासता को सुरक्षित रखना है और कुछ नहीं। वस्तुओं की दासता दरिद्रता की जननती है।

सदुपयोग

1. जिस क्षण से आप मिले हुए का सदुपयोग आरम्भ करेंगे, आप सच मानिए, आवश्यक वस्तुएँ आप के पास आने के लिए लालायित हो जाएँगी। —संतवाणी 4
2. व्यक्तियों की सेवा में ही वस्तुओं का सदुपयोग निहित है। —साधन-तत्त्व
3. वर्तमान का सदुपयोग ही भविष्य को उज्ज्वल बनाता है। —संत-उद्‌बोधन
4. केवल प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। इस सदुपयोग का नाम ही किसी ने पुरुषार्थ रख दिया, किसी ने कर्तव्य रख दिया और किसी ने साधना रख दिया। —मानव की माँग
5. यदि मन में शुद्ध संकल्प उत्पन्न होते हैं तो मिले हुए 'मन' का सदुपयोग हो गया।............. यदि हमारी बुद्धि हमारे कर्तव्य तथा दूसरों के अधिकार को जानती है, और प्रत्येक वस्तु में सतत परिवर्तन का दर्शन कराती है तो समझना चाहिए कि 'बुद्धि' का सदुपयोग हो गया।............... यदि प्राप्त वाणी सत्य, हितकारी, मधुर तथा प्रिय वचन बोलती है एवं आवश्यकता से अधिक नहीं बोलती तो समझना चहिये कि 'वाणी' का सदुपयोग हो गया।............. यदि शरीर आवश्यक कार्य करने में आलस्य नहीं करता और अनावश्यक कार्य में प्रवृत्त नहीं होता तो समझना चाहिए कि 'शरीर' का सदुपयोग हो गया।............ यदि प्राप्त वस्तुएँ व्यक्तियों की रक्षा में व्यय होती हैं तो समझना चाहिए कि 'वस्तुओं' का सदुपयोग हो गया। —मानव की माँग
6. सुख-दुःख का सदुपयोग साधन का मूल है। —मानव की माँग
7. जो आता-जाता है, उसका सदुपयोग करना है और जो रहता है, उसमें प्रियता। —मानव-दर्शन

8. मिले हुए का दुरुपयोग मानव की अपनी भूल है और उसका सदुपयोग वैधानिक है। इस दृष्टि से अकर्तव्य अपना दोष है और कर्तव्य-परायणता स्वभावसिद्ध है। —मूक सत्संग
9. मिले हुए के सदुपयोग से आवश्यक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है। —मूक सत्संग
10. सुख का सदुपयोग 'सेवा' और दुःख का सदुपयोग 'त्याग' है। —संतपत्रावली 1
11. यह प्राकृतिक नियम है कि बल के दुरुपयोग से कालान्तर में सबल स्वयं निर्बल हो जाता है। इतना ही नहीं, उसकी विरोधी सत्ता की उत्पत्ति भी हो जाती है और वही दुर्दिन उसे स्वयं देखने पड़ते हैं, जो उसने बल के दुरुपयोग के द्वारा निर्बलों को दिखाए थे। बल के सदुपयोग से परस्पर एकता होती है और फिर सबल तथा निर्बल का भेद शेष नहीं रहता। —दुःख का प्रभाव
12. प्राप्त व्यक्तियों की सेवा से मोह का और प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग से लोभ का अन्त हो जाता है। —जीवन-दर्शन
13. यह नियम है कि शरीर आदि वस्तुओं का सदुपयोग कर डालने पर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है; क्योंकि जिसका सही उपयोग कर लेते हैं, उसकी आवश्यकता शेष नहीं रहती। —जीवन-दर्शन
14. वस्तुओं के सदुपयोग से आवश्यक वस्तुएँ और अनित्य जीवन के सदुपयोग से नित्य जीवन प्राप्त हो जाता है। —जीवन-दर्शन
15. सभी वस्तुओं में अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु वर्तमान समय है। समय के सदुपयोग में ही समस्त जीवन का सदुपयोग निहित है। —जीवन-दर्शन
16. जो व्यक्ति दूसरों से सुख की आशा करता हो और पराए दुःख से अपने को बचाता हो और प्राप्त सुख को दुखियों की धरोहर न मानता हो, वह कितना ही सामर्थ्यशाली क्यों न हो, परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर सकता। —चित्तशुद्धि
17. वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग करने पर छुट्टी अपने-आप मिल जाती है। बाह्य छुट्टी छुट्टी नहीं होती, अपितु कार्य का परिवर्तन होता है। साधारण प्राणी कार्य के परिवर्तन को छुट्टी मानते हैं; परन्तु

विचारशील काम का अन्त करने पर छुट्टी जानते हैं।......... प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग छुट्टी का सर्वोत्कृष्ट साधन है।

—सन्त-समागम 2

18. हमको जो कुछ मिला है, वही हमारे लिए हित का साधन है; क्योंकि प्राकृतिक विधान न्यायपूर्ण है। हमको जो मिला है, उसका सदुपयोग करने पर ही हमारा प्रेमपात्र हमें अवश्य अपना लेगा।

—सन्त-समागम 2

19. परिस्थिति-भेद से कर्तव्य में भेद होने पर भी फल में एकता ही है अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति के सदुपयोग का परिणाम एक ही है।

—साधन-तत्त्व

20. जिस वस्तु और बल का मनुष्य सदुपयोग नहीं करता, वह वस्तु और शक्ति उससे छिन जाती है, यह प्राकृतिक नियम है।

—संत-सौरभ

प्राप्त की ममता और अप्राप्त की कामना ने लोभ को जन्म दिया। लोभ ने अर्थ का मूल्य बढ़ा दिया और उसने सच्चरित्रता का अपहरण कर लिया, जिसके होते ही परिस्थिति-परिवर्तन में अभिरुचि जाग्रत हो गई। प्रकृति से मिली हुई परिस्थिति के सदुपयोग पर दृष्टि न रही। उसका परिणाम यह हुआ कि वस्तुओं में ही जीवन-बुद्धि हो गई जिसने मानव को 'मानव- नहीं रहने दिया। कारण, कि वस्तुओं के आधार पर ही समाज में व्यक्ति का मूल्यांकन होने लगा। इस कारण बौद्धिक तथा शारीरिक श्रम अर्थ के अधीन हो गये, जिसके होते ही परस्पर में अनेक प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न हो गए। आवश्यक वस्तु-प्राप्ति के विधान को भूलकर व्यक्ति विधान-विरोधी उपायों द्वारा अर्थ का संग्रह करने लगे। संग्रह नाश का हेतु है, अर्थात् संग्रही प्राणी अपनी मृत्यु का आप आह्वान करता है। अतः मानव-जीवन में अर्थ की दासता का कोई स्थान ही नहीं है। अर्थ समाज की धरोहर है और कुछ नहीं।

समाज

1. आश्रम बनता है समाज की उदारता से और समाज की उदारता कैसे प्राप्त होती है कि भाई तुम समाज के लिए उपयोगी हो जाओ।
—संतवाणी 3

2. बुद्ध, ईसा, जिन्, महावीर आदि-आदि अनेक महापुरुष आए। फिर भी समाज की दशा उत्तरोत्तर बिगड़ती ही चली गयी। इसके मूल में कारण क्या है ? इस पर विचार करने से ऐसा लगता है कि मानव जब तक अपने करने वाली बात को नहीं मानेगा, तब तक उसकी जो माँग है, उसकी पूर्ति नहीं होगी। —प्रेरणा पथ

3. जो सत्य हमारे अपने जीवन में आ जाएगा, वह समाज में विभु हो जाएगा। —साधन-त्रिवेणी

4. समाज में विद्रोह की उत्पत्ति तभी होती है, जब व्यक्ति कर्तव्यपरायण नहीं रहता। —संत-उद्‌बोधन

5. सुन्दर समाज के निर्माण का अर्थ क्या है ? जिस समाज में सभी प्राणियों के अधिकार सुरक्षित हों। कोई किसी के अधिकार का अपहरण न करता हो। गुण, परिस्थिति, कर्म आदि की भिन्नता होने पर भी आपस में प्रीति की एकता हो। जहाँ बल द्वारा बात मनवाने की आवश्यकता न हो। —संत-उद्‌बोधन

6. बल का सदुपयोग और विवेक का आदर करना ही हर मानव का पुरुषार्थ है। इसी पुरुषार्थ से अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण होता है। —संत-उद्‌बोधन

7. सुन्दर समाज उसे कहेंगे, जिसका प्रत्येक वर्ग अपने-अपने स्थान पर सही हो, ठीक हो। —मानव की माँग

8. व्यक्ति की कर्तव्यनिष्ठा ही समाज में प्रीति का प्रसार करती है।
—मानव की माँग

9. हमारा समाज तभी सुन्दर होगा, जब हम कर्त्तव्य-परायण होंगे।
—मानव की माँग

10. जब तक हम अपना सुधार न करेंगे, तब तक सुन्दर समाज का निर्माण न हो सकेगा। —मानव की माँग

11. व्यक्ति के निर्दोष होने से समाज में निर्दोषता आ जाती है और व्यक्ति के दोषी होने से समाज में दोष आ जाता है। —मानव की माँग

12. समाज में कोई भी व्यक्ति सर्वांश में समाज से सम्बन्ध-विच्छेद करके जीवित नहीं रह सकता। —मानव की माँग

13. ज्यों-ज्यों समाज में सेवा-भाव की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों सुन्दर समाज का निर्माण होता है और ज्यों-ज्यों समाज में लोभ की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों समाज में दरिद्रता तथा संघर्ष उत्पन्न होता है। —मानव की माँग

14. समाज का निर्माण एक-दूसरे की आवश्यकता-पूर्ति में सहयोग देने के लिए है। —मानव-दर्शन

15. अनेक प्रकार की भिन्नता में एकता स्थापित करने का जो परिणाम है, वही समाज है। —मानव-दर्शन

16. सामाजिक भावना को किसी वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब, इज्म की सीमा में बाँध देना दलबन्दी है, समाज नहीं। दलबन्दियाँ संघर्ष की जननी हैं। सामाजिक भावना एकता तथा शान्ति की जननी है। —मानव-दर्शन

17. व्यक्ति माली है और समाज वाटिका। वाटिका का माली वाटिका की सेवा में रत भी रहता है और उसी पर निर्भर भी। इस दृष्टि से व्यक्ति और समाज दोनों ही पारस्परिक विकास में हेतु हैं। —मानव-दर्शन

18. समाज सेवा का क्षेत्र है और व्यक्ति सेवक है। सेवा जिसकी की जाती है, उसकी अपेक्षा उसका अधिक विकास होता है, जो सेवा करता है। —मानव-दर्शन

19. प्रान्तवाद का अन्त बिना किये हुए कभी भी परस्पर में स्नेह की एकता सम्भव नहीं है। स्नेह की एकता के बिना समाज में शान्ति की स्थापना सम्भव न होगी। —पाथेय

20. जितेन्द्रियता तथा सत्य की खोज एवं सार्थक चिन्तन से युक्त सेवा में रत मानव की गोद में ही बालक-बालिकाओं का पोषण तथा शिक्षण हो, तभी भावी समाज सुन्दर हो सकता है।
—मानव-दर्शन

21. स्वाधीन व्यक्तियों के प्रादुर्भाव से ही समाज में स्वाधीनता सुरक्षित रहती है। स्वाधीन समाज न तो किसी से भयभीत होता है और न किसी को भय देता है। भयभीत समाज ही युद्ध-सामग्री का संग्रह करता है। —दर्शन और नीति

22. अध्यात्मवाद व्यक्ति को समाज से असंग नहीं करता, अपितु व्यक्तिगत सुखासक्ति से असंग करता है। —मानव-दर्शन

23. संग्रह ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों संग्रही की चेतना जड़ता से आच्छादित होती जाती है। संग्रही की अपेक्षा श्रमी में चेतना अधिक रहती है। प्राकृतिक नियमानुसार सुधार का आरम्भ उसी से होता है, जिसमें चेतना अधिक है। अत: श्रमी-वर्ग के सुधार में ही समाज का सुधार निहित है। आज तक किसी भी संग्रही के द्वारा समाज का उत्थान नहीं हुआ। —दर्शन और नीति

24. जिस व्यक्ति के द्वारा समाज के अधिकार अपहृत नहीं होते और जो स्वयं अधिकार-लालसा से रहित है, वही सुन्दर है।
—दर्शन और नीति

25. सुन्दर व्यक्तियों के निर्माण में ही सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। —दर्शन और नीति

26. जब व्यक्ति कर्तव्य से च्युत हो जाता है, तभी समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के विप्लव मचते हैं। —दर्शन और नीति

27. जिस व्यक्ति के द्वारा किसी का अनादर तथा तिरस्कार नहीं होता एवं जो दुखियों को देख करुणित तथा सुखियों को देख प्रसन्न होता है, उसकी माँग समाज को सदैव रहती है।
—दर्शन और नीति

28. समाज के सभी बड़े-बड़े सुधारक वे ही हुए हैं, जिनके जीवन में निवृत्ति प्रधान थी। —सन्त-समागम 1

29. विवेक के अनादर से ही प्राणी के मन में संघर्ष उत्पन्न हुआ है। अतएव जब तक विवेकपूर्वक मन का संघर्ष न मिटेगा, तब तक

समाज में होने वाले संघर्ष कभी मिट नहीं सकते, चाहे वे वैयक्तिक हों या कौटुम्बिक अथवा सामाजिक। —मानवता के मूल सिद्धान्त

30. सुन्दर समाज का निर्माण एकमात्र सेवा में ही निहित है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

31. प्राकृतिक नियमानुसार जो जीवन में है वही विभु होता है। अतः कर्तव्य-परायणता से ही समाज में पारस्परिक कर्तव्य-परायणता आती है और अधिकार-लालसा से ही दूसरों में अधिकार की माँग उत्पन्न होती है। इस कारण अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करना ही विकास का मूल है।
—मानवता के मूल सिद्धान्त

32. सुन्दर समाज का अर्थ है –जहाँ दो व्यक्तियों में, दो वर्गों में, दो देशों में परस्पर एकता हो, स्नेह हो, विश्वास हो। अनेकों भेद होने पर भी, जैसे; कर्म का भेद हो, भाषा का भेद हो, रहन-सहन का भेद हो; पर प्रीति की एकता हो, विश्वास की एकता हो, लक्ष्य की एकता हो। —संतवाणी 6

33. अगर समाज में कर्तव्यपरायणता फैलती है तो कर्तव्य-पालन से फैलती है, उपदेश, आदेश और सन्देश से नहीं फैलती।
—संतवाणी 5

34. सत्य को स्वीकार करने से समाज में क्रान्ति आती है, आन्दोलन से नहीं। —संतवाणी 7

जब मानव-समाज बालकों और रोगियों की यथेष्ट सेवा नहीं करता, तब भावी समाज के मन में एक विद्रोह उत्पन्न होता है, जो उस प्रवृत्ति को जन्म देता है, जिससे सुखी और दुःखी में संघर्ष होने लगता है। सुखी उदारता एवं दुःखी त्याग के बल को अपना नहीं पाता। दुःखी में तृष्णा और सुखी में लोभ की वृद्धि होती रहती है, जो अनर्थ का मूल है। यदि मानव-समाज प्रत्येक बालक को अपना बालक मान ले और रोगियों की सेवा का दायित्व व्यक्ति पर न रहकर सामूहिक हो जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक विद्रोह की भावना मिट सकती है।

साधक

1. प्रत्येक साधक साधन सुनने में ज्यादा समय न लगाए, साधन करने में ज्यादा समय लगाए। —संतवाणी 4
2. प्रभु–विश्वासी का प्रत्येक कार्य 'पूजा' है, और अध्यात्मवादी का प्रत्येक कार्य 'साधना' है, तथा भौतिकवादी का प्रत्येक कार्य 'कर्तव्य' है। —संत-उद्बोधन
3. साधक न शरीर है, न आत्मा, न ब्रह्म। तो फिर कौन है ? जिसने शरीर में ममता स्वीकार कर ली है; किन्तु फिर भी जिसमें तत्त्व की जिज्ञासा है और अनन्त की प्रियता है। —जीवन-पथ
4. साधक को अपने साध्य से भिन्न जो भी दिखाई दे, उसे न तो अपना माने, न अपने लिए माने और न ही उसके पाने तथा बने रहने की कामना ही करे। —संत-उद्बोधन
5. जो सत्य को स्वीकार करता है, वही साधक कहलाता है, वही मानव कहलाता है। —साधन-त्रिवेणी
6. जो देता है और लेता नहीं –यह प्रभु का स्वभाव। जो देता है और लेता है –यह असाधक का स्वभाव। जो देने के लये तत्पर है और लेना छोड़ता है –यह साधक का स्वभाव। और जो केवल लेता है –यह जड़ता। —संतवाणी 5
7. साधक की जो पहली माँग है, वह शान्ति की है और जो अन्तिम माँग है, वह अनन्त–रस की अभिव्यक्ति की है।—संत-उद्बोधन
8. साधक को साधन से अभिन्न होना है, न कि उसके साथ मोह करना है। साधन के प्रति मोह करना तो असाधन है। —मानव की माँग
9. अपने साधन का अनुसरण और दूसरे के साधनों का आदर मानवता है। अपने साधन के प्रति मोह और दूसरों के साधन की निन्दा अमानवता है। —मानव की माँग

10. समस्त विश्व मिलकर भी साधक की वास्तविक माँग को पूरा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से साधक का मूल्य सृष्टि से अधिक है।
—साधन-निधि

11. जो किसी के लिए भी अनुपयोगी होता है, वह साधक नहीं है।
—साधन-निधि

12. साधक वही है, जिसके जीवन में सिद्धि के लिए नित नव आशा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। —संतपत्रावली 2

13. व्यर्थ चेष्टाओं का निरोध साधकों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि सेवा कार्य नहीं है तो दीवार को मत ताकते रहो। सेवा के अन्त में इन्द्रियों का दरवाजा स्वत: बन्द हो जाना चाहिए।
—संतपत्रावली 2

14. सभी साधकों को साधन-तत्त्व से अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक केवल सत्संग को ही अपना परम पुरुषार्थ स्वीकार करें। साधन को ऊपर से न भरा जाए, साधक में ही उसकी अभिव्यक्ति हो। —संतपत्रावली 2

15. साधक महानुभाव व्यक्तिगत साधना को सामूहिक साधना बनाने का प्रयास न करें, न उसका प्रदर्शन करें। —संतपत्रावली 2

16. पराश्रय और परिश्रम का सदुपयोग एकमात्र पर-सेवा में ही है। कभी भी किसी भी साधक को अपने लिए पराश्रय और परिश्रम अपेक्षित नहीं है। —संतपत्रावली 2

17. अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता के भय का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है। —पाथेय

18. जाने हुए असत् के त्याग के अतिरिक्त किसी भी साधक को कुछ भी करना शेष नहीं है। —पाथेय

19. जब साधक अनेक रूपों में अपने ही साध्य को पाता है, तब उसके लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति अर्थात् प्रकट और गोपनीय, दोनों का रूप समान हो जाता है। —पाथेय

20. साधक को शुद्ध संकल्प बदलना नहीं चाहिए। हाँ, निर्विकल्प होने के लिए सभी संकल्पों का त्याग किया जा सकता है। किसी संकल्प के लिए संकल्प को बदलना साधक की दृढ़ता में बाधक होता है। —पाथेय

21. शरीर की असंगता में ही प्रेमास्पद की आत्मीयतापूर्वक अभिन्नता निहित है। इस दृष्टि से असंग होना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। —पाथेय
22. प्रत्येक मानव साधक है, पर आत्मा और शरीर साधक नहीं है। —संत-उद्‌बोधन
23. सजग साधक को शरीर के रहते हुए ही शरीर की आवश्यकता से मुक्त होना अनिवार्य है, जो एकमात्र अकिंचन, अचाह एवं अप्रयत्न से ही साध्य है। —पाथेय
24. जो किसी से कुछ भी पाने की आशा करता है, वह साधक नहीं है, अपितु भोगी है। —चित्तशुद्धि
25. साधकों की सेवा से साध्य को प्रसन्नता होती है, ऐसा मेरा विश्वास है। परन्तु सेवा कराने वाले साधक को इस बात का ध्यान रहे कि वह सेवा करने से, अन्य साधकों की अपेक्षा अपने को विशेष न मान ले और साध्य के स्थान पर स्वयं अपने व्यक्तित्व की पूजा न कराने लगे। —पाथेय
26. सत्संग के द्वारा साधननिष्ठ साधक को कभी किसी से किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती -यह जीवन का सुन्दर चित्र है। इतना ही नहीं, उससे भी किसी को किसी प्रकार की शिकायत नहीं रहती है। कारण कि वह सभी का अपना होने से सर्वप्रिय हो ही जाता है। प्रेमियों को प्रेमास्पद से, उदार को जगत् से और स्वाधीन को अपने से कोई शिकायत नहीं रहती। इस दृष्टि से साधननिष्ठ साधक को किसी से शिकायत नहीं रहती। —पाथेय
27. शरीर विश्व के काम आ जाए, हृदय प्रेम से भर जाए और अहं अभिमानशून्य हो जाए—इस वास्तविक माँग का अनुभव करना ही साधक का परम पुरुषार्थ है। माँग ही माँग की पूर्त्ति में समर्थ है, यह अनन्त का अनुपम विधान है। —पाथेय
28. शरीर आदि की स्मृतिमात्र भी साधक के लिए असह्य है, तो फिर उनमें विशेषता की अभिरुचि रखना आसक्ति के अतिरिक्त और क्या है ? —सत्संग और साधन
29. साधक को उसी साधन से सिद्धि हो सकती है, जो उसे रुचिकर हो, जिसके प्रति अविचल विश्वास हो एवं जिसके करने की योग्यता हो। —जीवन-दर्शन

30. सभी साधकों का उद्देश्य एक हो सकता है, पर साधन एक नहीं हो सकता। सभी साधकों में प्रीति की एकता हो सकती है, पर कर्म की नहीं। —जीवन-दर्शन

31. कोई भी साधक किसी भी परिस्थिति में यह नहीं कह सकता कि हम साधन नहीं कर सकते; क्योंकि परिस्थिति के अनुरूप ही साधन का निर्माण होता है। —जीवन-दर्शन

32. जिस किसी में जो कुछ है, वह जगत् और जगत्पति का ही है। यदि साधक के शरीर का सम्बन्ध जगत् से है, तो उसका सम्बन्ध जगत्पति से है। —साधन-निधि

*33. प्रत्येक साधक को शरीर, हृदय और मस्तिष्क प्राप्त है। शरीर द्वारा श्रमपूर्वक परिस्थिति का सदुपयोग, हृदय द्वारा सरल विश्वासपूर्वक समर्पण और मस्तिष्क द्वारा विवेकपूर्वक निर्मोहता प्राप्त करना परम आवश्यक है। —जीवन-दर्शन

34. *क्रियाशीलता, चिन्तन* और स्थिति से असहयोग करने पर साधक अपने में सन्तुष्ट होता है। —सफलता की कुंजी

35. साधक की अपनी बनावट के अनुसार स्वयं को कुछ-न-कुछ मान अवश्य लेना चाहिए। चाहे अपने को भक्त मान लो, चाहे सेवक मान लो, चाहे जिज्ञासु मान लो। मान्यता के अनुरूप साधना फलित होने लगेगी। —सन्त-जीवन-दर्पण

36. सरल विश्वास के ऊपर, बिना किसी शर्त के अगर आप अपने को भगवान् को दे सकते हैं, प्रतिकूलताओं में उनकी कृपा का अनुभव कर सकते हैं, तो आप 'आस्तिक' हो जाइए। अगर आप दृश्यमात्र से असंग हो सकते हैं, तो 'अध्यात्मवादी' हो जाइए और यदि अपना सुख बाँट सकते हैं, तो 'भौतिकवादी' हो जाइए। जिसमें आपकी मरजी हो, उसी में प्रविष्ट हो जाइए।
—सन्त-समागम 2

37. निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करने वाले साधकों को शुद्ध अर्थात् पवित्र संकल्पों की भी पूर्ति नहीं करनी चाहिए; क्योंकि संकल्पों की पूर्ति के लिए किसी-न-किसी प्रकार के संग्रह की आवश्यकता होती है, जो वास्तव में अनर्थ का मूल है। इतना ही नहीं, संकल्प-पूर्ति का रस साधक को साध्य से अभिन्न नहीं होने देता,

प्रत्युत् ज्यों-ज्यों संकल्पों की पूर्त्ति होती जाती है, त्यों-त्यों नवीन संकल्पों की उत्पत्ति भी होती जाती है। यह नियम है कि संकल्प उत्पन्न होते ही सीमित अहंभाव दृढ़ होता है। —सन्त-समागम 2

38. निःसन्देह सभी साधकों का साध्य एक ही है; क्योंकि सभी की वास्तविक माँग एक है। —साधन-तत्त्व

39. प्रत्येक साधक का अपना जाना हुआ असाधन अलग-अलग है। इसी कारण सर्वांश में दो साधकों की साधना भी एक नहीं हो सकती; क्योंकि साधन का आरम्भ साधक में से ही होता है। —साधन-तत्त्व

40. किसी भी साधक को वह नहीं करना है, जिसे वह नहीं कर सकता और किसी भी साधक का साध्य वह नहीं हो सकता, जिसकी उसे प्राप्ति नहीं हो सकती। —साधन-तत्त्व

41. यह नियम है कि जब साधक अपने जाने हुए असाधन का त्याग कर देता है, तब उसमें जो विद्यमान साधन है, उसका प्रादुर्भाव अपने-आप हो जाता है। —साधन-तत्त्व

42. जो साधक भगवान् का भजन-स्मरण किसी कामना की पूर्त्ति के लिए करता है, वह कामना यदि उसके पतन में हेतु नहीं हो तो भगवान् अवश्य पूरी करते हैं; परन्तु उससे साधक को भगवान् का प्रेम नहीं मिलता। —संत-सौरभ

43. जो अपने सुख के लिए तप करता है, जो अपने सुख के लिए जप करता है, उसकी गणना, माफ कीजियेगा, हिरण्यकश्यप की सूची में की जाती है।......... अपने सुख के लिए किया गया भजन, अपने सुख के लिए किया गया तप, अपने सुख के लिए किया हुआ दान, यह राक्षसी स्वभाव है। यह मानवी स्वभाव नहीं है। —संतवाणी 7

44. यह हो नहीं सकता कि आप सच्चाई की तरफ आगे बढ़ना चाहें और जगत् आपकी सहायता न करे और प्रभु की कृपालुता आपके साथ न रहे। —संतवाणी 7

45. आजकल लोग साधन तो करते नहीं और साधन का फल लेना चाहते हैं, तब उनको सफलता कैसे मिले ? हरेक मनुष्य सोचता है कि साधन करके योग्यता तो दूसरा प्राप्त कर ले और हमें

आशीर्वाद दे दे, ताकि हमें उसका सुख मिल जाए।....... साधन की सफलता के लिए साधक को स्वयं करना पड़ेगा। —संत-सौरभ

46. कारण का नाश होने पर भी कार्य की प्रतीति होती है। जिस प्रकार वृक्ष का मूल कट जाने पर भी उसकी हरियाली कुछ काल प्रतीत होती है, उसी प्रकार असत् का त्याग करने पर भी असत् के संग के प्रभाव को कुछ काल साधक अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में देखता है और भयभीत हो जाता है। इतना ही नहीं, अपने किए हुए असत् के त्याग में भी विकल्प कर बैठता है। असत् का त्याग वर्तमान की वस्तु है; परन्तु उसके प्रभाव के नाश में काल अपेक्षित है। अपने निर्णय में विकल्प करना भी तो असत् का ही संग है। जब साधक सावधानीपूर्वक अपने निर्णय में विकल्प नहीं करता, तब अपने-आप असत् के संग का प्रभाव नष्ट हो जाता है।
—सत्संग और साधन

47. जिस प्रकार वृक्ष कट जाने पर भी कुछ काल तक हरा-हरा दीखता है, उसी प्रकार कर्तापन शेष न रहने पर भी क्रियाएँ प्रतीत होती रहती हैं। —सन्त-समागम 1

48. यह स्वीकार करना कि 'कोई और नहीं है, कोई गैर नहीं है' -यही साधक का जीवन है। —संतवाणी 6

49. अगर आज का साधक हरि-आश्रय और विश्राम अपना ले तो बड़ी सुगमतापूर्वक जीवन की समस्याओं को हल कर सकता है।
—संतवाणी 3

50. रोना उसी प्राणी को आता है, जो अपना मूल्य संसार से अधिक कर लेता है; क्योंकि बिना असहाय हुए रोना नहीं आता।
—सन्त-समागम 1

51. जिस काल में साधक स्वाधीन होना पसन्द करता है, उसी काल में दैवी शक्तियाँ उसकी सेवा करने के लिए लालायित होने लगती हैं।
—संत-उद्बोधन

52. साधक की पहचान यह है कि जिसके रोम-रोम में अपने साध्य की ही सत्ता हो, भिन्न का अस्तित्व ही न हो। क्या वह भी साधक है, जिसके पास अपना मन हो, जिसके पास अपनी बुद्धि हो ? कदापि नहीं। —संत-उद्बोधन

साधन

1. असाधन के त्याग के बिना साधन की अभिव्यक्ति भी नहीं होती।
—संतवाणी 4

2. जब तक आप जगत् की सत्ता स्वीकार करते हैं तब तक आप साधन आरम्भ कर सकते हैं -भौतिक दर्शन के दृष्टिकोण से। और जब आप जगत् की सत्ता अस्वीकार करते हैं, तब आप साधन कर सकते हैं -अध्यात्म दर्शन के दृष्टिकोण से। जब आप प्रभु की सत्ता स्वीकार करते हैं, तब आप साधन कर सकते हैं -आस्तिक दर्शन के दृष्टिकोण से। आज दशा क्या है ? कि सत्ता स्वीकार करते हैं जगत् की और प्राप्त करना चाहते हैं भगवान् को।
—संतवाणी 4

3. साधन में सिद्धि पाने के लिए उस श्रम की अपेक्षा ही नहीं है, जिसे आप नहीं कर सकते। उस वस्तु की अपेक्षा ही नहीं है, जो आपको प्राप्त नहीं है। उस व्यक्ति की अपेक्षा ही नहीं है, जो आपके पास नहीं है। —संतवाणी 4

4. साधन में कठिनाई है कहाँ ? कठिनाई जहाँ आपको मालूम हो तो समझ लें कि हम अपने मन की कोई बात पूरी करना चाहते हैं, इसलिए कठिनाई है। —संतवाणी 4

5. साधन का आरम्भ होने के बाद असाधन के लिए तो अवसर ही नहीं मिलता। जब असाधन के लिए अवसर ही नहीं मिलता, तब समस्त जीवन साधन हो जाता है। —संतवाणी 4

6. सीमित शक्ति को साधन की चर्चा में ही व्यय कर दिया, तो फिर साधन करने के लिए सामर्थ्य कहाँ से लाएँगे ? —संतवाणी 4

7. समस्त साधनों का आरम्भ होता है -सुख की आशा से रहित की हुई सेवा से; क्योंकि यह कर्तव्य-विज्ञान है। और समस्त साधनों का अन्त होता है -प्रीति की अभिव्यक्ति से। —संत-उद्बोधन

8. रोटी खाने में आप पूरी शक्ति लगा सकते हैं और सच्चाई की खोज में आप सोचते हैं -कोई सहज साधन बताइए, कोई सुलभ साधन बताइए। मैं आपसे पूछता हूँ -रोटी खाने के लिए जितना श्रम कर सकते हैं, सत्य की खोज के लिए उतना क्यों नहीं कर सकते ? —संतवाणी 5

9. आजकल हम लोग साधन करते समय इस बात को भूल जाते हैं कि हम मानव हैं। और करते क्या हैं ? कि साधन सीखने को साधन मानते हैं, साधन सिखाने को साधन मानते हैं, पर असाधन का त्याग करके साधन की अभिव्यक्ति नहीं होने देते। —संतवाणी 5

10. कुछ न करना भी साधन है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति का शरीर बहुत दुर्बल हो गया है। वह गंगा-स्नान नहीं कर सकता, तो उसके लिए गंगा-स्नान न करना साधन है। —संतवाणी 6

11. कोई भी एक साधन ऐसा हो नहीं सकता, जो सभी के लिए समान रूप से हितकर हो। —प्रेरणा पथ

12. जो सत्य किसी आचार्य, पीर, पैगम्बर को मिला, वह सत्य तो आपको मिल सकता है; लेकिन जिस प्रकार से उनको मिला, उसी प्रकार से आपको भी मिल जाएगा -यह बात गलत है। —प्रेरणा पथ

13. जो नहीं करना चाहिए, उसका त्याग पहले ही करना पड़ेगा। उसके पश्चात् जो करना चाहिए, उसकी अभिव्यक्ति आपके जीवन में स्वतः होगी और वही साधन आपका साधन होगा और उसी से आपको सिद्धि मिलेगी। —प्रेरणा पथ

14. अगर रोटी खाना भगवान् की पूजा का अर्थ नहीं है तो माफ कीजिये, माला जपना भी पूजा नहीं है और यदि माला फेरना पूजा है तो शौच जाना भी पूजा है। —जीवन पथ

15. यदि साधन है तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधन है; नहीं तो भैया, जब तक किसी प्रवृत्ति-विशेष का नाम साधन है और किसी प्रवृत्ति-विशेष का नाम असाधन है, तब तक सब असाधन है। —जीवन-पथ

16. जिसके हृदय में भगवान् को पाने की सच्ची लालसा उत्पन्न हो गयी, समझो उसके सब साधन हो गए। —संत-उद्बोधन

17. दुःख की बात तो यह है कि जो हम अपने द्वारा कर सकते हैं, उसको नहीं करते और जो शरीर के द्वारा कर सकते हैं, उसी को करने की कोशिश करते हैं। —संत-उद्बोधन

18. आप स्वीकार कीजिए कि 'प्रभु मेरे हैं', इससे जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाएगा। सेवा का व्रत ले लीजिए, तो जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाएगा। अकिंचन और अचाह होने से जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाएगा। यदि आप इन तीनों में से किसी को भी स्वीकार नहीं करते, तो अनन्त जन्मों तक आपसे कोई साधन नहीं करा सकता। —संत-उद्बोधन

19. साधना एक अलौकिक तत्त्व है। मानव ने उसकी खोज की है। साधना मानव की उपज नहीं है, अपितु ईश्वरीय शक्ति है। —संत-उद्बोधन 25

20. यदि भजन करके भगवान् से हम धन, सन्तान आदि कुछ माँगते हैं, तो हमारा साध्य तो वह इच्छित पदार्थ ही हुआ, भगवान् तो उसकी प्राप्ति के साधन हुए। —संत-उद्बोधन

21. साधन सभी अवस्थाओं में किया जा सकता है। जो परिस्थिति-विशेष की अपेक्षा रखता है, उसको तो साधन ही नहीं कह सकते। —संत-उद्बोधन

22. प्राकृतिक नियम के अनुसार सभी परिस्थितियों में साधन का निर्माण हो सकता है। —मानव की माँग

23. साधक भयंकर-से-भयंकर परिस्थिति में भी साधन का निर्माण कर सकता है और साध्य से अभिन्न हो सकता है। —मानव की माँग

24. साध्य की एकता होने पर भी साधन में भिन्नता होना अनिवार्य है; परन्तु साधन को ही साध्य मान लेना प्रमाद अर्थात् अमानवता है। —मानव की माँग

25. साधन की ममता भी साधन में आसक्ति उत्पन्न करती है। व्यक्तिगत साधन की आसक्ति अन्य साधन की विरोधी है। इस दृष्टि से साधन जीवन हो, किन्तु साधन की आसक्ति न हो। —मानव-दर्शन

26. बलपूर्वक किया हुआ साधन साधक में मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है। —साधन-निधि

27. समस्त साधनों की परावधि योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति में है। —मूक सत्संग

28. रोना सर्वोत्तम साधन है; परन्तु विचारपूर्वक होना चाहिए। रोने से जो अवस्था प्राप्त होती है, यदि उस अवस्था में सन्तोष कर लिया जाए तो साधन खुराक बन जाता है। इसलिए जो सबसे अन्तिम अवस्था होती है अर्थात् जो रस मालूम होता है, उसको भी सत्य मत समझो अर्थात् उससे भी ऊपर उठ जाओ। —संतपत्रावली 1

29. जब तक किसी भी क्रिया से, भाव से तथा अवस्था से रसास्वादन होता रहता है, तब तक पथिक चलता ही रहता है। यदि चलने का अन्त करना है तो किसी भी क्रिया, भाव तथा अवस्था से रस न लो। अवस्थाओं से परे मार्ग भी शेष नहीं रहता अर्थात् ठहरने का स्थान आ जाता है, वही आपका निज स्वरूप है। —संतपत्रावली 1

30. साधन उसे नहीं कहते, जिसे साधक कर न सके और साधन उसे भी नहीं कहते, जिसमें साधक को किसी प्रकार का सन्देह हो और साधन उसे भी नहीं कहते, जो साधक को रुचिकर न हो। —पाथेय

31. मानसिक जप बिना स्नान किये प्रत्येक अवस्था में किया जा सकता है। वाणी से जप उसी अवस्था में करना अधिक हितकर होता है, जब बाह्य पवित्रता हो। —पाथेय

32. आनन्द व्याकुलता से ही मिल सकता है और किसी प्रकार नहीं। जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मीठापन चीनी का होता है, उसी प्रकार सभी अच्छाइयों में अच्छापन व्याकुलता का होता है। त्याग, प्रेम, ज्ञान -ये सभी व्याकुलता के बच्चे हैं। —सन्त-समागम 1

33. वास्तव में देना ही मानवता और लेना पशुता है। दी हुई वस्तु बढ़ जाया करती है, इसे सभी विचारशील जानते हैं। अतः लेने के लिए भी देना आवश्यक है और ऋण से मुक्त होने के लिए भी देना अनिवार्य है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि देना ही सच्ची साधना है। —संतपत्रावली 2

34. प्रभु का नाम, प्रभु का काम, प्रभु का ध्यान समान अर्थ रखते हैं।
—पाथेय

35. समस्त साधन विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम में ही विलीन होते हैं।
—सत्संग और साधन

36. सभी साधनों की परावधि 'त्याग' में और त्याग की परावधि 'प्रेम' में निहित है।
—जीवन-दर्शन

37. सभी के हित में ही अपना हित है, इस वास्तविकता को अपना कर ही प्रत्येक कर्तव्य-कर्म तथा जप, तप आदि करना चाहिए। अपने हित के लिए किया हुआ ध्यान भी बन्धन ही है। —पाथेय

38. साधन का सम्बन्ध साधक की रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य से है। जिस साधन में इन सबका समर्थन हो, वही साधन सिद्धिदायक है।
—सत्संग और साधन

39. व्यक्तिगत सत्य वास्तविक सत्य की प्राप्ति में साधनरूप है। इस कारण व्यक्तिगत रूप से आदरणीय तथा अनुसरणीय है, पर सबको व्यक्तिगत पथ पर ही चलाने का प्रयास आग्रही बना देता है। आग्रह से सत्य असत्य से ढक जाता है, और फिर व्यक्तिगत सत्य, जो अपने लिए साधनरूप था, साधनरूप नहीं रहता, अपितु उससे अहंभाव ही पोषित होने लगता है। अहंभाव परस्पर एकता सुरक्षित नहीं रहने देता, अपितु भेद को जन्म देता है, जो संघर्ष का मूल है। —दुःख का प्रभाव

40. व्यक्तिगत साधन को बल तथा आग्रहपूर्वक व्यापक बनाने का प्रयास अपने व्यक्तिगत सत्य से विमुख होना है और परस्पर भिन्नता को पोषित करना है। —दुःख का प्रभाव

41. अपने व्यक्तिगत साधन को सिखाने का आग्रह साधन का भोग है, सेवा नहीं। सेवा दुखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होने का पाठ पढ़ाती है, शासक नहीं बनाती।
—दुःख का प्रभाव

42. साधन के आरम्भ में जो सेवक है, वही त्यागी है और अन्त में प्रेमी है।
—जीवन-दर्शन

43. जो 'जिज्ञासु' अपने जाने हुए दोष का त्याग नहीं कर सकता और जो 'भक्त' अपने को समर्पित नहीं कर सकता, वे दोनों ही साधन में सफल नहीं हो पाते। —जीवन-दर्शन

44. साधन करने के लिए किसी अप्राप्त बल, वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है और न उस ज्ञान की आवश्यकता है, जो अपने में नहीं है, अपितु जो है उसी से साधन करना है। यह नियम है कि सामर्थ्य की न्यूनता तथा अधिकता साधन में कोई अर्थ नहीं रखती।

—जीवन-दर्शन

45. साधन करने में असमर्थता नहीं है, अपितु असावधानी है, जो साधन की रुचि जाग्रत होने पर मिट सकती है। —जीवन-दर्शन

46. सभी साधकों का साध्य एक है और प्रत्येक साधन में सभी साधनों का समावेश है। —जीवन-दर्शन

47. बहुत-से लोग विनोद में कह देते हैं कि अभी कौन-सी जरूरत है साधन करने की, कुछ वर्षों के बाद देखा जाएगा, अभी तो भाई आनन्द करने दो। सोचने की बात है कि बिना साधन के आपको आनन्द कैसे मिलेगा ? भाई, जीवन का कोई कार्य असाधन-रूप से किया हुआ सुखद भी नहीं होता, शान्ति देने वाला भी नहीं होता और सद्गति देने वाला भी नहीं होता। —सफलता की कुंजी

48. साधन बोझा नहीं है। आज साधक को यह मालूम होता है कि जैसे कोई आदमी रोटी खाकर निश्चिन्त होकर उठता है, वैसे ही जब वह ध्यान से उठता है तो उसे विश्राम मिलता है अर्थात् जब वह ध्यान में था, तब उसे विश्राम नहीं था ! तो क्या यह भी साधन है कि ध्यानकाल में विश्राम न मिले ? —सफलता की कुंजी

49. किसी व्यक्ति का विध्यात्मक साधन क्या है ? उसका निर्णय किसी अन्य की तो कौन कहे, वह बेचारा स्वयं भी उस समय तक नहीं कर सकता, जब तक विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध तथा विश्वास का त्याग न करे। असत् के त्याग द्वारा सत् का संग ही साधन-निर्माण में हेतु है। —दर्शन और नीति

50. साधन-भेद होने पर साध्य में भेद स्वीकार करना साधन को ही साध्य मान लेना है। —दर्शन और नीति

51. यद्यपि प्रत्येक पद्धति किसी-न-किसी साधक के लिए हितकर अवश्य है; परन्तु ऐसी कोई पद्धति हो ही नहीं सकती, जो सर्वांश में सभी के लिए हितकर सिद्ध हो; क्योंकि पद्धति की उत्पत्ति व्यक्ति की योग्यता, रुचि एवं परिस्थिति आदि से होती है। सर्वांश

में समान योग्यता, रुचि तथा परिस्थिति दो व्यक्तियों की भी नहीं होती, तो फिर किसी पद्धति को इतना महत्त्व देना कि उसे सभी मान लें, यह उस पद्धति के समर्थक के अहम्-भाव का विकार है।
—चित्तशुद्धि

52. साधन में किसी प्रकार की पराधीनता, असमर्थता एवं असफलता नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक साधक प्रत्येक दशा में साधन करने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। —चित्तशुद्धि

53. यह नियम है कि निषेधात्मक साधन की पूर्ति में सभी साधक स्वाधीन हैं; क्योंकि उसके लिए किसी अप्राप्त वस्तु आदि की अपेक्षा नहीं होती और उसमें कभी असिद्धि भी नहीं होती। जैसे, 'हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे' -इस साधन में किसी भी साधक को कोई भी कठिनाई नहीं है और उसकी सिद्धि भी वर्तमान में ही हो सकती है। —चित्तशुद्धि

54. निषेधात्मक साधन ही वास्तविक साधन है। विध्यात्मक साधन तो केवल उसका शृंगार मात्र है। विध्यात्मक साधन से तो साधक का प्रकाशन होता है, पर साधक की साधना से अभिन्नता तो निषेधात्मक साधन से ही होती है। —चित्तशुद्धि

55. 'साधन' वही है, जिसके करने में साधक समर्थ तथा स्वाधीन है और 'साध्य' वही है, जिसकी प्राप्ति अवश्यम्भावी है।
—चित्तशुद्धि

56. समस्त साधन विवेकशक्ति, भावशक्ति और क्रियाशक्ति के सदुपयोग से सिद्ध होते हैं। —चित्तशुद्धि

57. ममता और कामना का त्याग किये बिना साधना के मार्ग में बढ़ा ही नहीं जा सकता। —सन्त-जीवन-दर्पण

58. जिस प्रकार बिना प्राण का शरीर कितना ही सुन्दर क्यों न हो, बेकार होता है, उसी प्रकार व्याकुलतारहित साधन कितना ही उत्तम क्यों न हो, बेकार हो जाता है। —सन्त-समागम 1

59. जिस प्रकार सभी मिठाइयों में मिठास चीनी की होती है, उसी प्रकार सभी साधनों में प्रधानता व्याकुलता की होती है।
—सन्त-समागम 1

60. उपासना का वास्तविक तत्त्व यह है कि उपास्यदेव से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है, उसका अभाव हो जाए अथवा उपास्य देव से भिन्न और किसी की सत्ता शेष न रहे। —सन्त-समागम 1

61. उपासना करने से पहले उपासक को यह भली प्रकार जान लेना चाहिए कि वह अपने को निराकार मानता है अथवा साकार; क्योंकि साकार मानकर निराकार की उपासना नहीं कर सकता और निराकार मानकर साकार की उपासना नहीं कर सकता। उपासना तो वास्तव में साकार तथा सगुण की ही होती है; क्योंकि जिसको इन्द्रियों की अपेक्षा निराकार कहते हो, वह बुद्धि की अपेक्षा साकार है।
—सन्त-समागम 1

62. जो साधन साधक के अहंभाव से उत्पन्न नहीं होता, वह साधक के लिए शृंगार-मात्र है, जीवन नहीं।
—सन्त-समागम 2

63. भगवान् की ओर मन लगाकर काम करना उतना अच्छा नहीं है, जितना अच्छा काम भगवान् का समझकर करना है।
—सन्त-समागम 2

64. किसी से कुछ न चाहें और किसी का अहित न करें, तो भक्त को भगवान्, अशान्त को चिर शान्ति और दु:खी को दु:ख-निवृत्ति मिल जाएगी।
—संत-उद्बोधन

65. यह भली प्रकार समझ लो कि जो प्राणी सद्भावपूर्वक एक बार भगवान् का हो जाता है, उसका पतन नहीं होता। अत: 'मैं भगवान् का हूँ' यह महामन्त्र जीवन में घटा लो। ऐसा करने पर सभी उलझनें अपने-आप सुलझ जाएँगी।
—सन्त-समागम 2

66. साधन वही सार्थक है, जो साधक को साध्य से अभिन्न कर सके। वह तभी हो सकता है कि जब जीवन ही साधन बन जाए, साधन जीवन का अंगमात्र न रहे।
—सन्त-समागम 2

67. भक्त होने पर भक्ति स्वत: आ जाती है, जिज्ञासु होने पर विचार स्वत: उत्पन्न होता है, सेवक होने पर सेवा स्वभावत: आ जाती है; क्योंकि मन, इन्द्रिय आदि की चेष्टा अहंभाव के विपरीत नहीं होती।
—सन्त-समागम 2

68. जिज्ञासु हुए बिना किया हुआ विचार बुद्धि का व्यायाम है, सेवक हुए बिना की हुई सेवा पुण्य-कर्म है और भक्त हुए बिना किया हुआ भगवच्चिन्तन भोगप्राप्ति का साधन मात्र है, भक्ति नहीं।...... अत: प्रत्येक साधन का जन्म अहंभाव से होना चाहिए अर्थात् जिस लक्ष्य को प्राप्त करना है, उसके अनुरूप अहंता बना लो।
—सन्त-समागम 2

69. विश्वास-मार्ग तथा विचार-मार्ग -ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र मार्ग हैं। विश्वास में विचार के लिए और विचार में विश्वास के लिए कोई स्थान नहीं है। —सन्त-समागम 2

70. जप केवल स्वीकृतिमात्र से हो सकता है; परन्तु स्मरण तब तक नहीं हो सकता है, जब तक प्राणी सद्भावपूर्वक उनका न हो जाए; क्योंकि स्मरण सम्बन्ध के बिना किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। जब तक स्मरण उत्पन्न न हो, तब तक जप करना परम अनिवार्य है।......... जप करने से समरण करने की शक्ति आ जायगी।

—सन्त-समागम 2

71. व्याकुलता के बिना न तो सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, न तत्त्वज्ञान। व्याकुलतारहित निर्जीव यन्त्र की भाँति साधन करना क्रिया-परिवर्तन से भिन्न कुछ अर्थ नहीं रखता।

—सन्त-समागम 2

72. जिस प्रकार जीवन की पूर्णता मृत्यु में बदलती है, उसी प्रकार प्रत्येक साधन आगामी साधन में अपने-आप बदल जाता है।

—सन्त-समागम 2

73. संसार से सच्ची निराशा एवं अपने को सब ओर से हटा लेना अध्यात्म-उन्नति का सर्वोत्कृष्ट सुगम साधन है।

—सन्त-समागम 2

74. साधन में कठिनता का भाव केवल साधक का प्रमाद है, अथवा कठिनता का कारण साधक की योग्यता के प्रतिकूल साधन है, अथवा साधक आवश्यकता होने से पूर्व आवेश में आकर साधन में प्रवृत्त हुआ है, अथवा विश्वास की शिथिलता है तथा अनुभूति का निरादर करता है, अर्थात् ऐसा साधक निज ज्ञान के अनुरूप जीवन नहीं जीता। इन सभी कारणों से साधक को साधन में कठिनता प्रतीत होती है। —सन्त-समागम 2

75. तुम को सब लोगों के साथ रहते हुए भी अकेले के समान रहना चाहिए अर्थात् किसी भी व्यक्ति से इतनी घनिष्ठता न हो कि वह व्यक्ति तुम से बेकार बातें करे, अर्थात् तुम किसी को भी अपने मन बहलाने का साधन मत बनाओ। —सन्त-समागम 2

76. व्यक्तिगत साधन का आग्रह यह सिद्ध करता है कि जिस साधन का वह आग्रह कर रहा है, वह वास्तव में उसका जीवन नहीं है। जैसे, कोई भूखा प्राणी भोजन की प्रशंसा तो करता हो, पर स्वयं भूखा रहता हो। —मंगलमय विधान

77. बाहरी साधनों में अपने को अधिक मत फँसाओ। जहाँ तक हो सके, हृदय से प्रेमपात्र को पुकारो। —सन्त-समागम 2

78. जो प्राणी बाहरी साधनों में अपने को अधिक बाँध लेता है, उसमें साधन का मिथ्या अभिमान आ जाता है। बाहरी साधन निर्बलताओं को ढक देता है, मिटा नहीं पाता।......... छिपा हुआ साधन बाहरी साधनों से कहीं अधिक सबल होता है। छिपा हुआ त्याग तथा प्रेम बढ़ जाता है, छिपी हुई प्रीति सच्ची व्याकुलता उत्पन्न करती है, जो वास्तव में सच्चा भजन है। किसी ने भी बहुमूल्य वस्तुओं को बाहर निकालकर नहीं रखा, सब छिपाकर ही रखते हैं। अत: प्रीति जैसी अमूल्य वस्तुओं को हृदय में छिपाकर रखना चाहिए। —सन्त-समागम 2

79. अपने साध्य में अगाध, अनन्त, नित नव प्रियता ही साधन-तत्त्व है। —साधन-तत्त्व

80. निषेधात्मक साधन सभी साधकों के लिए समान है; क्योंकि असाधन का त्याग ही निषेधात्मक साधना है। असाधन के त्याग के बिना विध्यात्मक साधना, जो प्रत्येक साधक की अलग-अलग होती है, सिद्ध हो ही नहीं सकती। —साधन-तत्त्व

81. निषेधात्मक साधना ही सभी साधकों में स्नेह की एकता सुरक्षित रखती है अर्थात् विध्यात्मक साधना अलग-अलग होने पर भी साधक होने के नाते परस्पर में एकता बनी रहती है। —साधन-तत्त्व

82. साधन वर्तमान की वस्तु है, भूत और भविष्य की नहीं। —साधन-तत्त्व

83. साधन वही है, जो साधक का जीवन हो जाए। —साधन तत्त्व

84. जिस साधन में स्वाभाविक प्रियता नहीं होती, वह साधन साधक का जीवन नहीं हो सकता। जो साधन जीवन नहीं हो सकता, वह अखण्ड नहीं हो सकता। जो अखण्ड नहीं हो सकता, वह वास्तव में साधन नहीं है। —साधन-तत्त्व

85. साध्य सभी का एक होने पर भी साधन-सामग्री दो साधकों की भी सर्वांश में समान नहीं है। साधन-सामग्री के सदुपयोग का ही नाम साधन है। अत: साधन-सामग्री में भेद होने से साधन में भेद अनिवार्य है। —साधन-तत्त्व

86. स्वाभाविकता उसी साधन में हो सकती है, जिसमें साधक को लेशमात्र भी सन्देह न हो अर्थात् साधन निज विवेक के अनुरूप हो; क्योंकि विवेक-विरोधी साधन में निस्सन्देहता सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, अन्य साधन द्वारा सिद्धि का प्रलोभन भी साधक को अपने साधन से विचलित न कर सके, अपितु उसमें यही भाव दृढ़ रहे कि मुझे अपने ही साधन द्वारा सिद्धि प्राप्त करना है।
—साधन-तत्त्व

87. यह नियम है कि सक्रिय साधन के बिना 'करने के राग' का नाश सम्भव नहीं है। —साधन-तत्त्व

88. जिस साधन में निस्सन्देहता होती है, उसमें 'बुद्धि' और जो साधन रुचिकर होता है, उसमें 'मन' अपने-आप लग जाता है। मन-बुद्धि के लगने से साधन में स्वाभाविकता आ जाती है; क्योंकि मन-बुद्धि आदि को लगाने-हटाने में जो अस्वाभाविकता है, वह नाश हो जाती है। कारण कि हटाना और लगाना श्रमसाध्य है। श्रम कभी भी अखण्ड नहीं हो सकता। —साधन-तत्त्व

89. सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं; किन्तु सत् की लालसा, जो साधनरूप है, असत् को खाकर साधक को सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि साध्य की अपेक्षा साधन का कहीं अधिक महत्त्व है। हाँ, यह अवश्य है कि साधन में सत्ता साध्य की ही होती है। —साधन-तत्त्व,

90. साधन कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसमें कभी न करने की बात आए। साधन वही है जो स्वभाव से ही निरन्तर होता रहे। यदि साधन में व्यवधान पड़ता है तो यह समझना चाहिए कि साधन के भेष में किसी असाधन को अपना लिया है। —साधन-तत्त्व

91. जो साधन जीवन के किसी एक अंश में प्रतीत होता है, वह वास्तव में साधन के भेष में असाधन ही है; क्योंकि साधक का समस्त जीवन साधन है। —साधन-तत्त्व

92. साधन और जीवन में एकता प्राप्त करने के लिए किसी अप्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। परिस्थिति-परिवर्तन की कामना

उन्हीं प्राणियों में रहती है, जो परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं।

—साधन-तत्त्व

93. अपने सुख-दु:ख का कारण दूसरों को मानना साधन का सबसे बड़ा विघ्न है।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

94. यदि हम दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग कर दें तो पूरा गृहस्थ-जीवन साधनयुक्त हो जाएगा और किसी प्रकार की कठिनाई मालूम नहीं पड़ेगी।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

95. कामना को लेकर जो ईश्वर का भजन-चिन्तन किया जाता है, वह कामना की पूर्ति होने पर या न होने पर ईश्वर से विमुखता प्रदान करता है।

—संत-सौरभ

96. आप सुनना और सीखना बन्द करें, और जानना और मानना प्रारम्भ करें, तो काम बन जाएगा। जानने के स्थान पर 'मेरा कुछ नहीं है' -इसके सिवाय और कुछ नहीं जानना है, और मानने के स्थान पर सिवाय परमात्मा के और कोई मानने में आता नहीं है।

—संत-उद्‌बोधन

97. ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि मैं किसी भी काल में देह नहीं हूँ और न देह मेरा है। आस्था-श्रद्धा-विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि अपने में अपने प्रेमास्पद सदैव मौजूद हैं। बस, यही सफलता की कुंजी है।

—संतपत्रावली 2

98. परमात्मा के सम्बन्ध का जो प्रभाव जीवन में आ जाता है, उसी को साधना कहते हैं।

—संतवाणी 7

99. साधन का अर्थ यह कभी नहीं है कि हम वह साधन करें कि जो हमारे जीवन से कभी भी अलग हो सके।

—संतवाणी 7

100. सच मानिये, साधन उसका नाम नहीं है, जिसको आपने बाहर से भरा है। साधन का असली अर्थ ही यह है कि जिसकी अभिव्यक्ति साधक में से हो।

—संतवाणी 4

101. जो साधन अपने द्वारा होता है, उसी साधन से सिद्धि होती है। जो साधन अपने द्वारा नहीं होता, पराश्रय से होता है, उस साधन से बाह्य विकास तो दिखाई देता है, लेकिन अपने को कुछ नहीं मिलता।

—संतवाणी 4

102. अगर आप यह मानते हैं कि सिद्धि (वर्तमान में) नहीं हो सकती, तो साधन करने की क्यों सोचते हैं ? आप कहेंगे कि साधन करने की तो इसलिए सोचते हैं कि कालान्तर में, जन्म-जन्मान्तर में हम को सिद्धि मिलेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि अभी हम असाधन-जनित सुख का भोग करना चाहते हैं। —संतवाणी 4

103. अपने लिए तप करना भी भोग है, पर प्रभु के लिए झाड़ू लगाना भी पूजा है। —संत-उद्बोधन

104. आप दशा से परिचित होते नहीं, जरूरत से परिचित होते नहीं, साधन से परिचित होना चाहते हैं। जो साधन आप की जरूरत के अनुसार नहीं होगा, जो जरूरत आपकी मौजूद दशा में से नहीं निकलेगी, यह कैसे ठहरेगी आपके जीवन में ! प्यासे आदमी को पानी की बात सुनने को मिले तो वह फौरन पकड़ लेता है; क्योंकि प्यास लगी है, उसे जरूरत है। पहले आप अपनी मौजूदा हालत देखिए, क्या है ? फिर अपनी जरूरत देखिए, क्या है ? फिर उपाय पूछिए अपनी जरूरत को सामने रखकर, तो जरूरत का अनुभव होना ही एक बहुत बड़ा उपाय हो जाएगा।
—संत-उद्बोधन

105. व्यथित हृदय से इतना ही कह दीजिए कि हे प्यारे, हम आपको अपना मानना चाहते हैं, पर मान नहीं पाते; हम ममता तोड़ना चाहते हैं, पर तोड़ नहीं पाते। व्यथित हृदय से इतना कहकर मौन हो जाइए। आपको पता भी न चलेगा कि ममता कैसे टूट गयी और आत्मीयता कैसे आ गयी। क्यों ? जो करना चाहते हैं आप, चाहते हैं और नहीं कर पाते, तो जो चाहना है, वही करना है और कुछ नहीं करना है। —जीवन-पथ

106. विवेकपूर्वक देह आदि की असंगता वास्तविक साधना है। कारण कि किसी की असंगता ही किसी की अभिन्नता हो जाती है।
—पाथेय

107. असंगता किसी भी अभ्यास से साध्य नहीं है। कारण कि अभ्यास उन वस्तुओं से तादात्म्य करा देता है, जिनसे साधक को असंग होना है। —दु:ख का प्रभाव

108. निष्काम हुए बिना असंगता किसी भी अभ्यास से साध्य नहीं है।
—दु:ख का प्रभाव

109. आत्मीयता ही वास्तविक भजन है और ममता का अन्त ही वास्तविक साधन है। —संतपत्रावली 2

110. जिसको साधन कहते हैं, जिसको भजन कहते हैं, वह शरीर-धर्म नहीं है। —संतवाणी 3
111. भजन के दो भाग हैं -एक भाग है 'सेवा' और दूसरा 'प्रियता'। सेवा प्रवृत्तिकाल में और प्रियता निवृत्तिकाल में। इसका नाम है -भजन। —प्रेरणा पथ
112. सेवा, त्याग और प्रेम तीनों इकट्ठे हो गए, भजन हो गया। भजन में सेवा भी है, त्याग भी है और प्रेम भी है। —संत-उद्बोधन
113. याद आना, प्यारा लगना, अभिलाषा पैदा होना -यही तो भजन है। विचारकों ने इसे 'साधन' कह दिया और श्रद्धालुओं ने 'भजन' कह दिया। —संत-उद्बोधन
114. अभ्यास का नाम भजन नहीं है, प्रियता ही सच्चा भजन है। —सन्त-जीवन-दर्पण
115. प्रभु के नाते किया हुआ काम भजन हो जाता है।—संतवाणी 8
116. जो सबसे सम्बन्ध तोड़कर एकमात्र भगवान् को ही अपना मान लेता है, उससे भजन अपने-आप होता है, उसे करना नहीं पड़ता। —संत-सौरभ
117. भगवान् को अपना मानेंगे, तब भजन होगा कि किसी क्रिया-विशेष से भजन होगा ? अपना मानेंगे तब भजन होगा। —संतवाणी 7
118. यह जो परमात्मा को अपना मानना है, यही सच्चा भजन है। क्यों? अपना मानने से वह प्यारा लगता है। —संतवाणी 3
119. बिना कुछ भी चाहे, जो भगवान् को अपना मानता है, वही भजन कर सकता है। —संत-उद्बोधन
120. सब कामों के अन्त में सोते समय और सोकर उठते समय एवं जो कोई काम करो, उसके अन्त में भजन जरूर करना चहिए। जो मनुष्य हरेक काम के अन्त में कम-से-कम एक बार भी निश्चित रूप से भगवान् को याद कर लेता है, उसको मरते समय भगवान् जरूर याद आ जाएँगे। —संत-सौरभ
121. हमारे विचार से भजन की प्राप्ति तीन प्रकार से होती है -स्तुति, उपासना और प्रार्थना से। 'स्तुति' का तात्पर्य है -परमात्मा के अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार करना। 'उपासना' का अर्थ है -परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करना। और 'प्रार्थना' का बोधार्थ है -परमात्मा के प्रेम की आवश्यकता अनुभव करना। —संतवाणी 3

सामर्थ्य (बल)

1. जितनी आपके जीवन में निश्चिन्तता रहेगी, उतना आप में सामर्थ्य का विकास होगा। —संतवाणी 4
2. निर्मम होने से ही निष्काम होने की सामर्थ्य आती है, और निष्काम होने से ही असंग होने की सामर्थ्य आती है। ऐसा नियम ही है। —साधन-त्रिवेणी
3. वैज्ञानिक दृष्टि से निश्चिन्तता आवश्यक सामर्थ्य की जननी है और निर्भयता प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग कराने में हेतु है। —संतपत्रावली 2
4. मानसिक अशान्ति से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, कोई लाभ नहीं होता, यह ध्रुव सत्य है। इस कारण विचारशील प्रत्येक दशा में मानसिक शान्ति सुरक्षित रखते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि उन्हें प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की सामर्थ्य मंगलमय विधान से मिल जाती है। —संतपत्रावली 2
5. श्रम-रहित हुए बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। —पाथेय
6. शक्तिहीनता की अनुभूति यह सिद्ध करती है कि सामर्थ्य किसी व्यक्ति की अपनी नहीं है। यह उसी की देन है, जिसके प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशित है। —जीवन-दर्शन
7. असमर्थता सामर्थ्य के दुरुपयोग से उत्पन्न होती है। सामर्थ्य का सदुपयोग करने से उत्तरोत्तर उसकी वृद्धि ही होती रहती है। —सफलता की कुंजी
8. प्राकृतिक नियमानुसार बल का उपयोग एकमात्र शरीर, परिवार, समाज, संसार आदि की सेवा में ही किया जा सकता है। उसके द्वारा अविनाशी जीवन की उपलब्धि नहीं हो सकती। —सफलता की कुंजी

9. बल का दुरुपयोग करते ही विरोधी शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि जो अपने को सबल मानता था, वही निर्बल हो जाता है और फिर उसके प्रति वही होने लगता है, जो उसने अन्य के प्रति किया था। —दर्शन और नीति
10. सामर्थ्यशाली वही है, जो बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं करता, और जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर नहीं रहती, एवं जो सभी के लिए उपयोगी तथा हितकर सिद्ध होता है। जिससे कभी किसी का अहित नहीं होता, वही सामर्थ्यवान् है। —दर्शन और नीति
11. प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्त सामर्थ्य किसी असमर्थ की धरोहर है। वह उसी के काम आनी चाहिए अर्थात् सर्वहितकारी प्रवृत्ति में ही सामर्थ्य का सद्व्यय है। —चित्तशुद्धि
12. सामर्थ्यशाली देश, समाज, वर्ग, जाति, व्यक्ति आदि वे ही माने जा सकते हैं कि जिनके द्वारा किसी का अहित न हो और जिनकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर न हो। —चित्तशुद्धि
13. वास्तविक बल वही है, जो सबल और निर्बल में एकता उत्पन्न कर दे। —चित्तशुद्धि
14. जिस बल से निर्बलों की सेवा नहीं होती, अपितु ह्रास होता है, वह बल स्वत: मिट जाता है। —चित्तशुद्धि
15. वास्तविक सामर्थ्यशाली वही है, जिसे वस्तुओं की खोज नहीं है, अपितु वस्तुएँ जिसकी खोज में रहती हैं। कारण कि आवश्यकता की पूर्ति अनन्त के विधान से स्वत: होती है। —चित्तशुद्धि
16. दु:खी की पुकार में वही सामर्थ्य है, जो विचारशील के विचार में है। —चित्तशुद्धि
17. शरीरादि संसार की सभी वस्तुओं पर भरोसा करना ही निर्बलता है। यदि संसार की सहायता का त्याग कर दिया जाए तो साधक अत्यन्त सबल हो जाता है और फिर संसार उसके अनुकूल होने के लिए मजबूर हो जाता है। —सन्त-समागम 1
18. उनका (भगवान् का) हो जाने पर निर्बलता भी महान् बल है और उनका बिना हुए महान् बल भी परम निर्बलता है।......

निर्बल-से-निर्बल भी उनका होकर, बड़ी-से-बड़ी समस्याओं से पार होकर, उनसे अभिन्न हो जाता है। —सन्त-समागम 2

19. मिली हुई शक्ति का सदुपयोग करने पर आवश्यक शक्ति अपने-आप आ जाती है। —सन्त-समागम 2
20. असत्य कितना ही सबल हो, किन्तु निर्बल ही होता है। सत्य बाह्य दृष्टि से कितना ही निर्बल हो, किन्तु सबल ही होता है। —सन्त-समागम 2
21. प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त बल का सदुपयोग निर्बलों की सेवा में ही हो सकता है। प्राणी निर्बलों की अपेक्षा ही अपने को सबल मान लेता है। इतना ही नहीं, निर्बलों के बिना अपनी सबलता का भास ही नहीं होता। इस दृष्टि से सबलता निर्बलों की देन है। —मानवता के मूल सिद्धान्त
22. विश्राम की भूमि में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। —मानवता के मूल सिद्धान्त
23. प्राकृतिक नियमानुसार बल के दुरुपयोग में ही निर्बलता निहित है अर्थात् बल के दुरुपयोग से सबल निर्बल हो जाता है। इसी कारण कालान्तर में विजयी पराजित और पराजित विजयी होता है। —मानवता के मूल सिद्धान्त
24. ज्यों-ज्यों स्वार्थभाव गलता जाता है, त्यों-त्यों प्रकृति उसे सामर्थ्यशाली बनाती है। जैसे, जिन वृक्षों से दूसरे वृक्षों को पोषण मिलता है, उनकी आयु भी अपेक्षाकृत अधिक होती है और वे दूसरे वृक्षों से पोषित भी होने लगते हैं। —चित्तशुद्धि
25. बल का उपयोग एकमात्र सेवा में है। —संतवाणी 5
26. विश्राम के बिना सामर्थ्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। और विश्राम कब मिलता है ? जब असत् की कामना न रहे। —संतवाणी 4
27. बड़े-से-बड़ा, सबल-से-सबल व्यक्ति, वर्ग तथा समाज उस समय तक हमें असमर्थ नहीं बना सकता, जब तक हम मिले हुए बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर नहीं करते । —दर्शन और नीति

❖◆◆◆◆❖◆◆◆◆❖

सुख और दुःख

1. सुख का सदुपयोग उदारता और दुःख का सदुपयोग विरक्ति है।
—मानव की माँग

2. यह जो हम आज दुःखी होते हैं और हमारा विकास नहीं होता है, उसका कारण एकमात्र यही है कि हम दुःख का कारण दूसरों को मानते हैं। —मानव की माँग

3. यह नियम है कि जिस कठिनाई को शान्तिपूर्वक सहन कर लिया जाता है, वह कठिनाई स्वयं हल हो जाती है। शान्तिपूर्वक सहन करने का अर्थ है, अपने दुःख का कारण किसी और को न मानकर दुःख को सहन कर लेना। —मानव की माँग

4. दुःखों की निवृत्ति तो भगवान् को बिना माने भी हो सकती है। आप निष्काम हो जाएँ, आपके दुःखों की निवृत्ति हो जाएगी।
—संतवाणी 7

5. जो प्रवृत्तियाँ अपने लिए सुखद हों और दूसरों के लिए दुःखद हों, वे कभी साधनयुक्त नहीं हो सकतीं। जो सुख किसी का दुःख बनकर आता है, वह कालान्तर में घोर दुःख बन जाता है और जो दुःख किसी के हित के लिए आता है, वह हमें आनन्द से अभिन्न कर देता है। —सफलता की कुंजी

6. तुम्हारे दुःख का कारण दूसरा नहीं हो सकता। यदि हमारे दुःख का दूसरा कोई कारण हो, तो दुःख मिटाने का प्रश्न ही जीवन में नहीं रहता। —प्रेरणा पथ

7. अपने दुःख का कारण किसी दूसरे को न मानकर अपने को ही मान लेते तो हमारा दुःख मिट जाता। —प्रेरणा पथ

8. दुःख देने वाली सृष्टि तो व्यक्ति ने अपने-आप में से ही उत्पन्न की है, जाने हुए असत् का संग करके। —जीवन-पथ

9. जिस समय सुख का प्रलोभन नहीं होगा, सुख का भोग नहीं होगा, उसी समय वह दुःख, जिसे आप दुःख मानते हैं या अनुभव करते हैं, नहीं रहेगा, अपितु वहाँ दुःखहारी होगा। —जीवन-पथ
10. दुःख का मूल 'भूल' है। अगर हमारी भूल नहीं है तो हमारे जीवन में दुःख हो ही नहीं सकता। —साधन-त्रिवेणी
11. दुःख आने पर अचाह हो जाओ, सुख आने पर उदार हो जाओ। अगर तुम उदार हो जाओ तो सुख के बन्धन से छूट जाओगे। अगर तुम अचाह हो जाओ तो दुःख के भय से छूट जाओगे। —साधन-त्रिवेणी
12. सुख से अरुचि उन्हीं को नहीं होती, जो सुख की वास्तविकता को नहीं जानते अथवा पराए दुःख से दुःखी नहीं होते। —मानव की माँग
13. दुःख के प्रभाव की पहचान क्या है ? किसी भी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था और परिस्थिति से सम्बन्ध न रहे; न किसी से कुछ आशा रहे। दुःख के प्रभाव और दुःख के भोग में बड़ा अन्तर है। दुःख का प्रभाव साधन है और दुःख का भोग असाधन है। —संत-उद्बोधन
14. ऐसा कोई सुख नहीं है, जिसका जन्म किसी दुःख से न हो और ऐसा भी कोई सुख नहीं है, जिसका दुःख में अन्त न हो। —मानव की माँग
15. सुख से दुःख दबता है, मिटता नहीं और यह नियम है कि दबा हुआ दुःख बढ़ता है, घटता नहीं। इस दृष्टि से दुःख मिटाने के लिए सुख अपेक्षित नहीं है, दुःख बढ़ाने के लिए सुख भले ही अपेक्षित हो। —मानव की माँग
16. मानव-जीवन सुख-दुःख भोगने के लिए नहीं मिला, अपितु सुख-दुःख का सदुपयोग करने को मिला है। —मानव की माँग
17. यदि जीवन में से दुःख का भाग निकाल दिया जाए तो न तो सुख का सम्पादन ही हो सकता है और न मानव सुख की दासता से रहित हो सकता है। —मानव-दर्शन
18. अहंता तथा ममता से ही दुःख-सुख का जन्म होता है। अहम् और मम अविवेकसिद्ध हैं। निज-विवेक का आदर करने पर अहम् और

मम शेष नहीं रहते, और फिर दुःख का भय तथा सुख की दासता भी नहीं रहती। सुख की दासता का सर्वांश में अन्त होते ही दुःख स्वतः नाश हो जाता है। —मानव-दर्शन

19. दुःख निन्दनीय नहीं है, अपितु सुख की दासता निन्दनीय है। —मानव-दर्शन
20. प्राकृतिक नियमानुसार सुख देकर जो दुःख लिया जाता है, वह मानव को आनन्द से अभिन्न करता है और दुःख देकर जो सुख-सम्पादन किया जाता है, वह मानव को घोर दुःख में आबद्ध करता है। —मानव-दर्शन
21. जो सुख चाहते हुए भी चला गया, उसकी दासता बनाए रखना और जिस दुःख से सर्वतोमुखी विकास हुआ, उससे भयभीत होना, उसके प्रभाव को न अपनाना प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। —मानव-दर्शन
22. सुख की अपेक्षा दुःख कहीं अधिक जीवन का आवश्यक अंग है। —संतवाणी 8
23. सुख जाता ही है और दुःख आता ही है। इस विधान में मानव का अमंगल नहीं है, अपितु मंगल ही है। —साधन-निधि
24. कोई भी मनुष्य जब तक अपने को दुःखी नहीं बनाता, तब तक दूसरे को दुःखी नहीं कर सकता। —संतपत्रावली 1
25. यह नियम ही है कि जो आता है, वह चला जाता है, तो इस दृष्टि से सुख और दुःख दोनों ही सदैव नहीं रह सकते। जो नहीं रह सकता, उसका सदुपयोग कर सकते हैं, उसमें जीवन-बुद्धि नहीं कर सकते। कारण कि उससे नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता। —मानव-दर्शन
26. दुःख मिटाने के पहले सुख का त्याग करो, फिर बेचारा दुःख स्वयं दुःखी होकर भाग जाएगा। —संतपत्रावली 1
27. सुख जीवन की सबसे बुरी अवस्था है; क्योंकि आनन्द की अभिलाषा जाग्रत् नहीं हो पाती। आनन्द यद्यपि अपनी जातीय वस्तु है, पर इस अभागे सुख ने उस जातीय वस्तु से हटाकर अपनी ओर आकर्षित कर दीन बना दिया है। परमप्रिय दुःख की शरण लेकर सुख को हटाओ —संतपत्रावली 1

28. दुःखी 'त्याग' से और सुखी 'सेवा' से उन्नति करता है।
—संतपत्रावली 1

29. दुःख प्राणी को त्याग का पाठ पढ़ाने के लिए आता है। ज्यों-ज्यों त्याग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों दुःख अपने-आप मिटता जाता है।
—संतपत्रावली 1

30. सत्य की आवाज को किसी व्यक्ति की आवाज, सत्य के ज्ञान को किसी व्यक्ति का ज्ञान, सत्य के प्रेम को किसी व्यक्ति का प्रेम, सत्य के आनन्द को किसी व्यक्ति का आनन्द और सत्य के सौन्दर्य को किसी व्यक्ति का सौन्दर्य समझना परम भूल है। इस भूल के होने से ही व्यक्तियों से राग हो जाता है, जो दुःख का मूल है। राग से दुःख तथा त्याग से आनन्द अवश्य मिलता है।
—संतपत्रावली 1

31. यह सभी भाई-बहनों का अनुभव है कि गहरी नींद में जितना सुख मिलता है, उतना किसी वस्तु या व्यक्ति के संग से नहीं मिलता। तभी तो हम गहरी नींद के लिए सभी वस्तुओं का संग छोड़ते हैं।........... सभी से अलग होने की जो हमारी अनुभूति है, वह हमें वस्तुओं से अतीत के जीवन का संकेत करती है।
—मानव की माँग

32. जिस मंगलमय विधान से दुःख आया है, उसने दण्ड नहीं दिया है, अपितु मानव के हित के लिए दुःख का प्रादुर्भाव किया है।
—दुःख का प्रभाव

33. जब आया हुआ सुख भी अपने-आप चला गया तो अप्राप्त सुख की आशा से क्या लाभ होगा ? सुख माँगने से नहीं मिलता। विधान से अपने-आप आता-जाता है। उसके लिए प्रयास प्राप्त सामर्थ्य का दुर्व्यय ही है, और कुछ नहीं। —दुःख का प्रभाव

34. प्राप्त-सुख के सद्व्यय से ही मानव समाज के ऋण से मुक्त होता है। अप्राप्त-सुख की कामना के त्याग से साधक विश्राम पाता है। इस दृष्टि से प्राप्त-सुख के सद्व्यय में परहित और उसकी कामना के नाश में अपना हित है। —दुःख का प्रभाव

35. प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक सुख के आदि और अन्त में दुःख का प्रादुर्भाव स्वतः होता है। —दुःख का प्रभाव

36. सर्वांश में सुख की आशा का अन्त करते ही प्रत्येक दु:खी स्वतः दु:ख से रहित हो जाता है। —दु:ख का प्रभाव
37. बेचारा दु:ख साधकों को दु:ख से रहित करने के लिए ही आता है। —दु:ख का प्रभाव
38. विश्व के इतिहास और व्यक्तिगत अनुभूतियों से यह सिद्ध नहीं हुआ कि कोई ऐसी परिस्थिति भी है, जिसमें केवल सुख हो, दु:ख न हो और न कोई ऐसा प्राणी है, जिसे सुख भोगते हुए विवश हो कर दु:ख न भोगना पड़ा हो। —दु:ख का प्रभाव
39. मंगलमय विधान से दु:ख का प्रादुर्भाव एकमात्र सुख की दासता से मुक्त करने के लिए ही होता है। —दु:ख का प्रभाव
40. गम्भीरता पूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि दु:ख-दाता ही दु:खहारी है। इतना ही नहीं, साधक को सुख की दासता से मुक्त करने के लिए दु:खहारी ही दु:ख के वेश में अवतरित होते हैं। —दु:ख का प्रभाव
41. सुखद अनुभूति उसी क्षण में होती है, जिस क्षण में निष्कामता उदित होती है। कामना-निवृत्ति से निष्कामता की अभिव्यक्ति स्थायी-रूप से होती है और कामनापूर्ति-काल में निष्कामता अल्पकाल के लिए स्वतः आती है। प्राणी प्रमादवश उस सरस अनुभूति को वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि के आश्रित मान बैठता है। —दु:ख का प्रभाव
42. सुख की आशा से मिलना, अलग होने की तैयारी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। —जीवन-दर्शन
43. दु:खी का दु:ख तभी मिट सकता है, जब वह अपने दु:ख का कारण किसी और को न माने। —दर्शन और नीति
44. जाग्रत और स्वप्न में सुख-दु:ख की अनुभूति होती है, पर सुषुप्ति में किसी को भी दु:ख की अनुभूति नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता, तब दु:ख नहीं होता। इस अनुभूति के आधार पर यदि जाग्रत में ही सुषुप्ति प्राप्त कर ली जाए तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दु:ख का अन्त हो सकता है। —जीवन-दर्शन

45. 'सुख' सेवा के लिए है, उपभोग के लिए नहीं और 'दुःख' विवेक का आदर करने के लिए है, भयभीत होने के लिए नहीं।
—जीवन-दर्शन

46. साध्य से भिन्न जो कुछ भी होगा, वह आपके साथ रह नहीं सकता। इसलिए आया हुआ सुख भी नहीं रहेगा और आया हुआ दु:ख भी नहीं रहेगा। —सफलता की कुंजी

47. दु:ख का होना कोई दोष नहीं है, पर उसके भय से भयभीत होकर सुख का चिन्तन करना वास्तविक दोष है। —चित्तशुद्धि

48. यह कैसा अनुपम विधान है कि सुख-लोलुपता के नाश के लिए सुख-लोलुप के जीवन में दु:ख अपने-आप आता है। दु:ख का प्रभाव सुख के प्रलोभन का नाश कर दु:खी को सदा के लिए दु:ख से रहित कर देता है। —सफलता की कुंजी

49. वस्तुओं और व्यक्तियों के विश्वास और सम्बन्ध को अल्प-से-अल्प काल के लिए भी यदि तोड़कर अनुभव किया जाए तो उस जीवन में कितना रस है -इसकी तुलना उस सुख से नहीं की जा सकती, जो अनन्तकाल से वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध से मिलता रहा है। —चित्तशुद्धि

50. दु:ख जितना गहरा होता है, उतनी ही स्पष्ट जागृति आती है; क्योंकि दु:ख ही एक ऐसा मूल मन्त्र है, जिससे वस्तु, व्यक्ति आदि के स्वरूप का बोध होता है। वस्तु आदि का यथार्थ ज्ञान वस्तुओं से असंगता प्रदान करने में समर्थ है। —चित्तशुद्धि

51. ऐसा कोई सुख है ही नहीं, जिसके आदि और अन्त में दु:ख न हो। आदि और अन्त के दु:ख को ही मध्य के सुख में देखना चाहिए। —चित्तशुद्धि

52. आए हुए दु:ख को सुख तथा सुख की आशा से दबाने तथा मिटाने का प्रयास सर्वदा निरर्थक एवं अहितकर ही सिद्ध होता है; क्योंकि सुख नवीन दु:ख को जन्म देता है, और प्रत्येक सुख के आरम्भ में भी किसी-न-किसी प्रकार के दु:ख को अपनाना ही पड़ता है।
—चित्तशुद्धि

53. अपने-आप आए हुए दु:ख को सुख के द्वारा दबाने की रुचि क्यों होती है, और जाने हुए दोष को बनाए रखने का स्वभाव क्यों बन

गया है ? सुख-भोग की आसक्ति के कारण ही प्राणी आए हुए दुःख को सुख से दबाने का प्रयास करता है, और सुख को सुरक्षित बनाए रखने के लिए ही जाने हुए दोष को अपनाता है।

—चित्तशुद्धि

54. जिन वस्तुओं से सुख की आशा करते हैं, क्या उनसे प्राणी का नित्य-सम्बन्ध है ? अथवा जिन व्यक्तियों से सुख की आशा करते हैं, क्या वे स्वयं दुःखी नहीं हैं ? अथवा जिस परिस्थिति को सुखद मानते हैं, क्या उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है ? अथवा जिस अवस्था में सुख का भास होता है, क्या उसमें परिवर्तन नहीं है ? किसी भी वस्तु से नित्य-सम्बन्ध सम्भव नहीं है। कोई भी व्यक्ति दुःख से रहित नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति अभावयुक्त है और प्रत्येक अवस्था में परिवर्तन है। तो फिर उनसे सुख की आशा करना प्रमाद के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है ?

—चित्तशुद्धि

55. प्राणी का व्यक्तिगत दुःख उसे सामूहिक दुःख का बोध कराने में साधन मात्र है।

—चित्तशुद्धि

56. परिस्थितिजन्य दुःख से कोई भी प्राणी बच नहीं सकता। जिससे बच नहीं सकते, उससे भयभीत होना कुछ अर्थ नहीं रखता।

—चित्तशुद्धि

57. प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त सुख दुखियों की वस्तु है। उसे अपना मानना और उसका भोग करना परायी वस्तु को अपना मानना है।

—चित्तशुद्धि

58. दुःख कोई देता नहीं, बल्कि दुःखी से स्वयं दूसरों को दुःख होता है, जिस प्रकार अग्नि स्वयं जल कर दूसरों को जलाती है।

—सन्त-समागम 1

59. दुःखी का दुःख उसी समय तक जीवित है, जब तक अभागा दुःखी दुःख को संसार की सहायता से मिटाना चाहता है। संसार से निराश होते ही दुःखहारी हरि दुःख को स्वयं हर लेते हैं।

—सन्त-समागम 1

60. बेचारा जड़ संसार दुःख दे नहीं सकता और आनन्दघन भगवान् के यहाँ दुःख है नहीं, इसलिए दुःख दुःखी की भूल से होता है।

—सन्त-समागम 1

61. दुःख उसको होता है, जो न तो जड़ है और न चेतन है; परन्तु जो जड़ से मिलकर जड़-सा और चेतन से मिलकर चेतन-सा हो जाता है अर्थात् वह 'अहम्' जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता, बल्कि अपने में किसी प्रकार के माने हुए स्वभाव को स्वीकार कर लेता है। उस स्वभाव की अनुकूलता में 'सुख' और प्रतिकूलता में 'दुःख' का अनुभव करता है। —सन्त-समागम 1

62. ऐसी कोई अच्छाई नहीं कि जिसका जन्म दुःख से न हो। —सन्त-समागम 1

63. आप के निज स्वरूप में अपार आनन्द छिपा है, जो दुःख की कृपा से मिलेगा, सुख की कृपा से नहीं। —सन्त-समागम 1

64. सुख से दुःख दब जाता है और आनन्द से मिट जाता है। 'आनन्द' इच्छाओं की निवृत्ति होने पर और 'सुख' इच्छाओं की पूर्ति होने पर होता है। —सन्त-समागम 1

65. दुःख तो सुख से मिला है, और सुख संसार की सत्ता स्वीकार करने से मिला है। —सन्त-समागम 1

66. जिसने सुख दिया है, उसने सुख देना सिखाया है। सुख दाता को तो सुख दे नहीं सकते; अतः दुखियों को सुख देना ही सुखदाता के ऋण से छूट जाना है। —सन्त-समागम 1

67. दुःख का भोक्ता होता है, ज्ञाता नहीं। भोक्ता कभी ज्ञाता नहीं होता और ज्ञाता कभी भोक्ता नहीं होता। —सन्त-समागम 1

68. दुःख का होना तो आनन्दघन भगवान् की परम कृपा है; क्योंकि यदि दुःख न हो तो विषय-सुख से अरुचि किसी प्रकार नहीं हो सकती। —सन्त-समागम 1

69. भला जिस सुख का जन्म किसी के दुःख से होगा, वह अन्त में हम को दुःख के अतिरिक्त और क्या दे सकता है ? —सन्त-समागम 2

70. विचारशील उस सुख का उपभोग नहीं करते, जो किसी का दुःख हो, प्रत्युत् उस दुःख को प्रसन्नतापूर्वक अपना लेते हैं, जो किसी का सुख हो। —सन्त-समागम 2

71. हमारे दुःखी होने से केवल हमीं को दुःख नहीं होता, बल्कि हम विश्व में भी दुःख उत्पन्न करते रहते हैं। यदि हम दुःखी नहीं रहेंगे, तो हमारे जीवन से किसी को भी दुःख न होगा। —सन्त-समागम 2

72. जब हम अपने को अपने प्रेम-पात्र को और शरीर विश्व को दे डालेंगे, तो बस, दुःख का अन्त हो जाएगा। विश्व को शरीर की आवश्यकता है; क्योंकि शरीर विश्व की वस्तु है। प्रेम-पात्र हमारी प्रतीक्षा करते हैं; क्योंकि हम प्रेम-पात्र के हैं। —सन्त-समागम 2

73. हम संसार की ओर दौड़ते हैं, परन्तु पकड़ नहीं पाते। संसार का मीठापन यही है कि दौड़ते-दौड़ते जब थक जाते हैं, तब आराम पाते हैं अर्थात् थकावट ही संसार का सुख है। प्यारे, प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में किसी को भी शक्तिहीनता के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। —सन्त-समागम 2

74. सुख बाँटने की वस्तु है, रखने की नहीं। जो प्राणी सुख को रखने का प्रयत्न करता है, उससे सुख छिन जाता है, मिलता कुछ नहीं। और जो प्राणी सुख बाँट देता है, उसको आनन्द मिल जाता है।

—सन्त-समागम 2

75. दुःख जीवन में परम आवश्यक वस्तु है। दुःख के बिना जीवन की पूर्णता सिद्ध नहीं होती। दुःख सब प्रकार के विकारों को मिटाकर अन्त में अपने-आप मिट जाता है। —सन्त-समागम 2

76. निरन्तर अखण्ड प्रसन्न रहने का स्वभाव बनाओ। ज्यों-ज्यों प्रसन्नता बढ़ती जाएगी, प्रतिकूलता लज्जित होकर हटती जाएगी। प्यारे, प्रसन्न की ओर सभी देखते हैं; अतः सारा विश्व आपकी ओर देखेगा। दुःखी की ओर दुःखहारी के अतिरिक्त और कोई नहीं देखता। —सन्त-समागम 2

77. दुःखी प्राणी अभागे नहीं होते। सच तो यह है कि अभागे वही हैं, जो सुखी हैं; क्योंकि दुःखी को आनन्दघन भगवान् मिलते हैं, सुखी को भोग।............. हाँ, दुःखी उसी समय तक अभागा है, जब तक संसार की ओर देखता है। संसार से सच्ची निराशा होते ही दुःखहारी हरि दुःख अवश्य हर लेते हैं। —सन्त-समागम 2

78. जो दुःखी त्याग नहीं करता और जो सुखी सेवा नहीं करता, उसकी उन्नति नहीं होती। —सन्त-समागम 2

79. सर्वतोमुखी विकास के लिए सुख का जाना और दुःख का आना अनिवार्य है। —मंगलमय विधान

80. प्राकृतिक विधान की दृष्टि से जिस सुख की उत्पत्ति किसी के दुःख तथा अहित से होती है, वह सुख अन्त में घोर दुःख में बदल जाता है और सुखभोगी का अहित ही होता है। —साधन-तत्त्व

81. अभाव, अशान्ति, नीरसता एवं पराधीनता—यह चार भयंकर दुःख हैं, जो संसार को पसन्द करने से मिलते हैं।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

82. अपराध की प्रवृत्ति के मूल में व्यक्तिगत सुख का प्रलोभन है। किसी के ह्रास, विनाश तथा दुःख से अपने सुख का सम्पादन करना ही मूल अपराध है। इस कारण निरपराधता की अभिव्यक्ति जीवन में तभी हो सकती है, जब मानव व्यक्तिगत सुख-लोलुपता से रहित हो जाए। —मानवता के मूल सिद्धान्त

83. जिस जीवन का आरम्भ ही दुःख से हुआ है, उस जीवन में किसी प्रकार का दुःख न हो, यह सोचना ही बेकार है।—संतवाणी 8

84. नीरसता केवल प्रतिकूलता से ही नहीं आती और सरसता केवल अनुकूलता की ही देन नहीं है।............ यह नियम है कि सुख से दुःख दब जाता है, मिटता नहीं। दबा हुआ दुःख बढ़ता ही है, घटता नहीं। अतः अनुकूलता ही से नीरसता मिटेगी, यह मान लेना भूल है। —चित्तशुद्धि

85. प्रकृति से जितना सुख लोगे, उतना दुःख भी भोगना पड़ेगा। वैज्ञानिक उन्नति क्या है ? 3/4 को 75/100 करना।
—सन्त-जीवन-दर्पण

86. दूसरों से सुख की आशा करने का परिणाम यह हुआ है कि आज हम दुःखी हैं। अपने दुःख का कारण दूसरों को मानने का परिणाम यह हुआ है कि हम अपने दुःख को मिटा नहीं पाते।
—संतवाणी 5

87. यह जो सुख और दुःख हमको-आपको प्रतीत होता है, इसके मूल में कोई परिस्थिति हेतु नहीं है, कोई अवस्था हेतु नहीं है, कोई वस्तु हेतु नहीं है। इसके मूल में हेतु है -अपने देह का अभिमान।
—संतवाणी 4

88. जगत् और जगत्पति से अपने सुख की माँग न की जाए, अपितु जगत् के प्रति उदारता और जगत्पति के प्रति प्रेम को अपनाया जाए तो स्वतः शान्ति, समता और स्वाधीनता की प्राप्ति हो जाती है।
—सफलता की कुंजी

सुखभोग

1. हृदयहीन हुए बिना, बेईमान हुए बिना, अपना मूल्य घटाए बिना और पराधीन हुए बिना कोई आदमी सुख नहीं भोग सकता।
—संतवाणी 6
2. अगर आपके जीवन में से दु:ख का भाग निकाल दिया तो क्या आप सुख का भोग कर सकते हैं ?......... दु:ख के बिना सुखभोग हो ही नहीं सकता। —संतवाणी 6
3. जब हम भोग का आश्रय लेते हैं, तब सुख भोगते हैं रुचि से, लेकिन दु:ख भोगना पड़ता है विवशता से। —संतवाणी 4
4. सुख के भोगी को दु:ख भोगना ही पड़ता है। —साधन-त्रिवेणी
5. अभागे सुख ने ही हमें अपने अभीष्ट तत्त्वज्ञान, भगवत्प्रेम एवं सद्‌गति से विमुख किया है। इसी कारण मानव-जीवन में सुख के सदुपयोग का स्थान है, उसके भोग का नहीं। —मानव की माँग
6. यह नियम है कि जिस हृदय में करुणा निवास करती है, उस हृदय में सुखभोग की आसक्ति नहीं रहती। —मानव की माँग
7. सुख का जो भोग प्राप्त होता है, उसके भोगने के लिए किसी-न-किसी दोष को अपना लेना अनिवार्य हो जाता है।
—मानव की माँग
8. यदि वास्तव में रस होता तो सुखभोग का अन्त नीरसता में न होता।
—मानव की माँग
9. कोई भी भोक्ता भोग्य वस्तु के काम नहीं आता, अपितु भोक्ता के द्वारा भोग्य वस्तु का विनाश ही होता है। —मानव-दर्शन
10. सुख-लोलुपता के रहते हुए क्या किसी भी प्रकार दु:ख का अन्त सम्भव है ? कदापि नहीं। —मानव-दर्शन
11. भोग की रुचि का सर्वांश में नाश वास्तविक माँग की जागृति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से नहीं होता। तप आदि से रुचि दब

जाती है, मिटती नहीं है। माँग की जागृति से भोग की रुचि सर्वांश में सदा के लिये नाश हो जाती है। —पाथेय

12. सुख-भोग से अविवेक पोषित होता है। —दु:ख का प्रभाव
13. कोई भी प्राणी अपने को केवल देह मानकर कभी भी भोग की वासनाओं से रहित नहीं हो सकता। —जीवन-दर्शन
14. विषयों के उपभोग काल में विषयों को देख नहीं पाते और जब विषयों को देखते हैं, तब उनका उपभोग नहीं कर सकते। अत: देखना तभी सम्भव हो सकता है, जब उपभोग काल न हो। भोग प्रवृत्ति भोग का देखना नहीं है, अपितु भोग के आरम्भ का सुख और परिणाम का दु:ख भोगना है। —जीवन-दर्शन
15. भोग का परिणाम रोग तथा शोक है। —जीवन-दर्शन
16. जो साधक भोग के परिणाम पर दृष्टि रखता है, उसे भोग से अरुचि हो जाती है। —चित्तशुद्धि
17. भोग्य वस्तुओं का विनाश और भोगने की शक्ति का ह्रास होने पर भी यदि भोग की रुचि का नाश नहीं होता तो इससे बढ़कर कोई और असावधानी नहीं हो सकती। —दर्शन और नीति
18. सुख-भोग की आशा सुख-भोग से भी अधिक भयंकर दोष है; क्योंकि सुखभोग से अरुचि स्वाभाविक होती है, पर सुख की आशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है।......... सुख की आशा रहते हुए न कोई सेवा कर सकता है और न प्रेम। —जीवन-दर्शन
19. भोग में प्रवृत्ति होने पर भोगने की शक्ति का ह्रास और भोग्य वस्तु का विनाश अपने-आप हो जाता है। —दर्शन और नीति
20. भोग की वास्तविकता जानने के लिए ही मर्यादित भोग अपेक्षित है। —दर्शन और नीति
21. सुख-भोग से प्रमाद, हिंसा आदि विकार स्वत: उत्पन्न हो जाते हैं, जिससे अपना अकल्याण और समाज का अहित होने लगता है। —चित्तशुद्धि
22. भोग की रुचि में जितनी मधुरता है, उतनी तो भोग-प्रवृत्ति में भी नहीं है। भोग-प्रवृत्ति के आरम्भ काल में जितना सुख है, उतना मध्य में नहीं है, और अन्त में तो सुख की गन्ध भी नहीं रहती,

अपितु उसके परिणाम में तो अनेक प्रकार के रोग ही उत्पन्न होते हैं। —चित्तशुद्धि

23. जिसकी प्रसन्नता किसी और पर निर्भर है, वही भोगी है अथवा यों कहो कि जो देहजनित व्यापार में ही जीवन-बुद्धि रखता है, वही भोगी है। —चित्तशुद्धि

24. सुख देने की रुचि सुख-भोग की आसक्ति को खा लेती है। —जीवन-दर्शन

25. प्रमाद तथा हिंसा के बिना भोग की सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि अपने को भोक्ता स्वीकार करना 'प्रमाद' है और भोग्य वस्तुओं के विनाश में 'हिंसा' है। —चित्तशुद्धि

26. चाहे कैसा ही सुन्दर भोग क्यों न हो तथा समाज के भी नियम के अनुकूल हो और भोगने की शक्ति भी हो, फिर भी शक्तिहीनता होनी अनिवार्य है। —सन्त-समागम 1

27. ऐसा कोई भोगी नहीं है, जो इन तीन विकारों से बचा हो -पराधीनता से, जड़ता से और शक्तिहीनता से।

—सन्त-समागम 2

28. सिनेमा भाव से विषयों का उपभोग करना विषयी की चतुरता है। प्यारे, विचारशील को तो विषयों का अन्त करना है। सिनेमा की दृष्टि से तो विषयों की रक्षा होती है। —सन्त-समागम 1

29. भोग से अरुचि प्रत्येक भोगी को होती है; किन्तु जो भोगी उस अरुचि को स्थायी नहीं कर पाता, उसकी ही प्रवृत्ति भोगों में बार-बार होती है। —सन्त-समागम 1

30. यद्यपि भोग में जो रस है, वह भी निवृत्ति का ही है, परन्तु साधारण व्यक्ति उसे भोग का रस मान लेते हैं।

—सन्त-समागम 1

31. विषयों की इच्छा की तो पूर्ति होती ही नहीं; क्योंकि विषय तथा विषय की इच्छा स्वरूप से कुछ नहीं हैं, केवल प्रतीति मात्र हैं। विषयों की प्रवृत्ति में जो क्षणिक पूर्ति-सी प्रतीत होती है, वह तो केवल प्रवृत्ति न होने की शक्तिहीनता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ....विषयों की प्रवृत्ति में शक्तिहीनता होती है, पूर्ति नहीं।

—सन्त-समागम 1

32. सुख का उपभोग करने पर प्राणी के जीवन में प्रमाद, बेईमानी, हृदय-हीनता एवं परतन्त्रता आ जाती है। —सन्त-समागम 2
33. मानव-जीवन में सुखोपभोग के लिए कोई स्थान नहीं है।......... सुख का उपभोग पशु-जीवन है। —सन्त-समागम 2
34. मानव-जीवन में उपभोग का स्थान केवल भोग के यथार्थ ज्ञान के लिए है; क्योंकि भोग का यथार्थ ज्ञान होने पर भोग से अरुचि अपने-आप हो जाती है। —सन्त-समागम 2
35. सुख के भोगी से प्राणिमात्र भयभीत हो जाता है; क्योंकि हिंसा तथा प्रमाद के बिना सुख-भोग की सिद्धि ही नहीं होती। —साधन-तत्त्व
36. सुख-भोग की रुचि का नाश हुए बिना नित्य योग की प्राप्ति सम्भव नहीं है। किसी अभ्यास विशेष से अल्पकाल के लिए शान्त हो जाना एक अवस्था है, नित्ययोग नहीं। —मानवता के मूल सिद्धान्त
37. सुख का भोग हम करते हैं अपनी मरजी से और दुःख का भोग करना पड़ता है बेबसी से। —संतवाणी 8
38. जब हम अपने द्वारा अपने लिए परमात्मा की आवश्यकता अनुभव करेंगे, तब सुख-भोग की रुचि नाश हो जाएगी।.......... सुख-भोग की रुचि का नाश होने से शरीर और संसार का सम्बन्ध टूट जाता है। —संतवाणी 8
39. जो सुख-भोग चाहता है, उसी को महत्त्व देता है, वह चरित्र की रक्षा नहीं कर सकता। —संत-सौरभ
40. जो किसी का भोगी नहीं है, उससे किसी को भय नहीं है। आप मानें या न मानें, भोक्ता से सभी को भय होता है।...... भोक्ता सभी को भय देता है और स्वयं पराधीन रहता है। —संतवाणी 6
41. योग प्राप्त होने पर जब तक 'हम योगी हैं' यह भाव है, तब तक योग के भोगी हैं। और ज्ञान प्राप्त होने पर जब तक 'हम ज्ञानी हैं', तब तक ज्ञान के भोगी हैं। और प्रेम प्राप्त होने पर जब तक 'हम प्रेमी हैं', तब तक हम प्रेम के भोगी हैं। और भाई, जो प्रेम का भोगी है, वह कभी-कभी 'काम' का भोगी हो सकता है। और जो ज्ञान का भोगी है, वह कभी-कभी 'अज्ञान' का भोगी हो सकता है। और जो योग का भोगी है, वह कभी-कभी 'भोग' का भोगी हो सकता है। —संतवाणी 5
42. भोग से क्या होता है कि मनुष्य असमर्थता की ओर और पराधीनता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। —संतवाणी 2

सेवा

1. यदि आपको वस्तु नहीं मिलती है तो इसका अर्थ यह है कि आपने बल दूसरों की सेवा में लगाया नहीं। —संतवाणी 3
2. मोहयुक्त सेवा वास्तव में सेवा नहीं है। उस सेवा से तो जिसकी सेवा की जाती है, उसमें भी मोह की ही वृद्धि होती है। —पाथेय
3. आप स्वयं सभी सम्बन्ध तोड़कर 'उससे' सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। और जब उससे सम्बन्ध जोड़ेंगे, तो सभी की सेवा का दायित्व आप पर आ जाएगा; क्योंकि सभी उसके हैं।.......... किन्तु किसी और को अपना न मानने से किसी से सुख की आशा नहीं कर सकते। —संतवाणी 5
4. सेवक हम कब होंगे ? जब यह अनुभव करें कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। —संतवाणी 7
5. सेवा करने से मोह का नाश होता है और प्यार पुष्ट होता है। —संतवाणी 7
6. सबसे बड़ी सेवा धन् से नहीं हो सकती, योग्यता से नहीं हो सकती, बल से नहीं हो सकती, कानून से नहीं हो सकती। सबसे बड़ी सेवा हो सकती है-किसी का बुरा न चाहने से, किसी को बुरा न समझने से और किसी के साथ किसी भी कारण से बुराई न करने से। —संतवाणी 7
7. जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना होता है, वही सेवा कर पाता है। —संतवाणी 7
8. आप चाहे जिसकी सेवा करें, लेकिन सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए। जब सेवा का अन्त त्याग में होगा, तब त्याग का अन्त बोध में होगा और बोध का अन्त प्रेम में होगा। —संतवाणी 7
9. अगर आपकी कोई शारीरिक सेवा करेगा तो आप उसका उपकार इसलिए नहीं मानते कि उसने सेवा की है, आप इसलिए मानते हैं

कि शरीर को आपने अपना माना है। ऐसे ही सेवा करने वाला आप पर एहसान करता है तो समझिए कि वह सेवा नहीं करता। वह परमात्मा की दी हुई वस्तु को अपनी मानकर, बेईमान बनकर संसार में मिथ्या अभिमान करता है। —प्रेरणा पथ

10. सेवा वह तत्त्व है, जिसका हल्के-से-हल्का बोझ भी सेव्य पर न जाए। —जीवन-पथ

11. भलाई का फल मत चाहो और बुराई-रहित हो जाओ, यही तो सेवा का स्वरूप है। —साधन-त्रिवेणी

12. अगर आप अकिंचन और अचाह नहीं होते तो क्या अपनी सेवा कर सकते हैं ? अगर आप उदार नहीं बनते तो क्या आप विश्व की सेवा कर सकते हैं? अगर आप प्रभु को अपना नहीं मानते तो प्रभु की सेवा कर सकते हैं क्या ? —साधन-त्रिवेणी

13. मन, वाणी, कर्म से अगर हम बुराई-रहित हो जाएँ तो यह सारे 'विश्व की सेवा' कहलाती है। ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार दूसरों के काम आ जाएँ तो यह 'समाज-सेवा' कहलाती है। यदि अचाह हो जाएँ तो यह 'अपनी सेवा' कहलाती है। यदि हम प्रभु की प्रियता प्राप्त कर लें तो यह 'प्रभु की सेवा' कहलाती है। —साधन-त्रिवेणी

14. सेवा करने की सामर्थ्य उन्हीं साधकों को प्राप्त होती है, जो दुखियों को देख करुणित और सुखियों को देख प्रसन्न होते हैं। —संत-उद्‌बोधन

15. वास्तव में जब तक संसार से हमारा सम्बन्ध रहता है और उससे हम कुछ लेना चाहते हैं, तभी तक उसकी सेवा का हमारा कर्तव्य रहता है। —संत-उद्‌बोधन

16. शरीर से काम कर देने तथा वस्तु दे देने का नाम ही सेवा नहीं है। सेवा तो हृदय का भाव है, जो हर परिस्थिति में मानव भली प्रकार कर सकता है। —संत-उद्‌बोधन

17. सेवा का मूल मन्त्र यह है कि जो हमको मिला है, वह मेरा नहीं है और मेरे लिए भी नहीं है। यहाँ से सेवा का आरम्भ होता है। —संत-उद्‌बोधन

18. अपना सुधार कर लेना ही सच्ची सेवा है। जिसने अपना सुधार कर लिया, उसको सारे विश्व की पूरी सेवा से उत्पन्न होने वाले फल की प्राप्ति होती है। —संत-उद्बोधन

19. संसार की सेवा का अर्थ है -संसार से मिली हुई वस्तुओं को संसार को भेंट कर देना, अथवा यों कहो कि ईमानदार हो जाना, जो वास्तव में मानवता है। —मानव की माँग

20. मुझे जो कुछ मिला है, वह व्यक्तिगत नहीं है, अपितु किसी की सेवा-सामग्री है। —मूक सत्संग

21. मान और भोग की रुचि रखते हुए कभी भी सेवक होना सम्भव नहीं है। —मानव-दर्शन

22. संसार की तो केवल सेवा करनी है। उसको अपना मानने से न तो अपना कोई लाभ होता है और न संसार का। —मानव की माँग

23. भोगी के द्वारा सेवा की बात सेवा का उपहास है, और कुछ नहीं। —मानव-दर्शन

24. यदि कोई कहे कि राग के बिना हम अपने प्रियजनों की सेवा कैसे करेंगे ? तो कहना होगा कि सेवा करने के लिए राग अपेक्षित नहीं है, अपितु उदारता की अपेक्षा है। —मानव की माँग

25. यदि हमारी की हुई सेवा हमारे जीवन में पद-लोलुपता तथा जिनकी सेवा की है, उनसे किसी प्रकार की आशा उत्पन्न कर देती है तो समझना चाहिए कि हमने सेवा के नाम पर किसी अपने स्वार्थ की ही सिद्धि की है। ऐसी सेवा तो वह बुराई है, जो भलाई का रूप धारण करके आती है। —मानव की माँग

26. अध्यात्मवाद का आरम्भ त्याग से होता है और अन्त सेवा में, और भौतिकवाद का आरम्भ सेवा से होता है और अन्त त्याग में। —मानव-दर्शन

27. यदि अपने को जगत्पति को अर्पित करना है, तो शरीर को जगत् की सेवा में लगाना है। वास्तव में तो जगत् जगत्पति का ही प्रकाश है। शरीर द्वारा जगत् की सेवा करने में भी जगत्पति की ही सेवा है। जगत्पति ने जगत् का निर्माण अपने ही में से किया है। इस दृष्टि

से जगत् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अत: जगत् की सेवा जगत्पति की पूजा है। —साधन-निधि

28. जन्म देने वाले माता-पिता से अधिक सास-ससुर की सेवा स्नेहपूर्वक करनी चाहिए, और बहिन-भाई से अधिक ननद तथा देवर-जेठ आदि प्रियजनों को सम्मान तथा स्नेह देना चाहिए; क्योंकि जन्म की अपेक्षा भाव का सम्बन्ध उत्कृष्ट होता है। —संतपत्रावली 2

29. दुखियों को देखकर करुणित और सुखियों को देखकर प्रसन्न होने का स्वभाव बनाओ, जो वास्तविक सेवा है। —संतपत्रावली 2

30. सेवा का अवसर प्रभु-कृपा से ही मिलता है। उसे कभी नहीं खोना चाहिए। —संतपत्रावली 2

31. सेवक के जीवन में अपने दु:ख के लिए कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि उसका हृदय तो सर्वदा पराए दु:ख से करुणित रहता है अथवा सुखियों को देखकर प्रसन्न रहता है। —पाथेय

32. समस्त विश्व अपने अधिकार की पूर्ति में प्रसन्न होता है। सभी के अधिकारों की रक्षा ही वास्तविक सेवा है। —सत्संग और साधन

33. पराए दु:ख से दु:खी होने के समान और कोई उत्कृष्ट सेवा नहीं है। पर यह सेवा वे ही साधक कर सकते हैं, जो वर्तमान निर्दोषता के आधार पर किसी को बुरा नहीं समझते, किसी का बुरा नहीं चाहते और न किसी के प्रति बुराई करते हैं।—दु:ख का प्रभाव

34. व्यक्तियों की सेवा हमें मोहरहित बनाने में समर्थ है। —जीवन-दर्शन

35. 'सेवा' माने हुए सम्बन्ध को तोड़ने में और 'प्रेम' जिससे जातीय एकता है, उससे अभिन्न करने में समर्थ है। —जीवन-दर्शन

36. सेवा त्याग में और त्याग उस प्रेम में विलीन हो जाता है, जो अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। —जीवन-दर्शन

37. शरीर की सेवा में ही विश्व की सेवा निहित है; क्योंकि शरीर की सेवा करने पर शरीर विश्व के काम आने लगता है। अब विचार यह करना है कि शरीर की सेवा का स्वरूप क्या है? तो कहना

होगा कि जितेन्द्रियता, निर्विकल्पता और समता के द्वारा ही शरीर की पूर्ण सेवा हो सकती है। जितेन्द्रियता के द्वारा शरीर में 'शुद्धि' आती है, मन की निर्विकल्पता के द्वारा 'सामर्थ्य' आती है और बुद्धि की समता के द्वारा 'शान्ति' आती है। शुद्धि, सामर्थ्य और शान्ति आ जाने पर सर्वहितकारी प्रवृत्तियाँ स्वत: होने लगती हैं, जो विश्व की सेवा है।

—जीवन-दर्शन

38. सेवा त्याग की भूमि तथा प्रेम की जननी है। —जीवन-दर्शन

39. जिन साधनों से सेवा की जाए, उनमें भी ममता न हो और जिनकी सेवा की जाए, उनमें भी ममता न हो, तभी वास्तविक सेवा हो सकती है।

—जीवन-दर्शन

40. लोभ और मोह में आबद्ध प्राणी सेवा नहीं कर सकता।

—जीवन-दर्शन

41. संसार की दी हुई वस्तु के द्वारा यदि हम संसार की सेवा नहीं कर सकते तो इससे बढ़कर और कोई बेईमानी तो हो नहीं सकती और इससे बढ़कर और कोई सुगम साधन भी नहीं हो सकता कि किसी की दी हुई वस्तु से हम उसकी पूजा कर दें।

—सफलता की कुंजी

42. सेवक को सेवा के फल की तो कौन कहे, सेवक कहलाने की लालसा का भी त्याग करना अनिवार्य है। —दर्शन और नीति

43. सच्चा सेवक वही हो सकता है, जिसने अपनी सेवा की हो। अपनी सेवा करने के लिए अपने को अपने सम्बन्ध में ही विचार करना होगा अर्थात् अपने जाने हुए असत् का त्याग करने पर ही मानव अपनी सेवा कर सकता है। —दर्शन और नीति

44. जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, उसकी सेवा की जा सकती है; उससे ममता करना अथवा उससे सुख की आशा करना भूल है।

—चित्तशुद्धि

45. सेवा की पूर्णता में 'पूजा' का उदय अपने-आप होता है।........ पूजा की पूर्णता में 'प्रेम' का उदय है। —चित्तशुद्धि

46. सुख-लोलुपता में आबद्ध प्राणी कभी भी सेवा करने में समर्थ नहीं होता।

—चित्तशुद्धि

47. सेवा का मूल्य प्रभु देता है, संसार नहीं दे सकता।
—सन्त-जीवन-दर्पण

48. सेवा भाव है, कर्म नहीं। इस दृष्टि से छोटी या बड़ी सेवा समान अर्थ रखती है। सेवा का स्वरूप है प्राप्त सुख किसी दुःखी की भेंट कर देना और उसके बदले में सेवक कहलाने तक की भी आशा न करना।
—चित्तशुद्धि

49. जिसका हृदय पराए दुःख से भरा रहे, वह सेवा कर सकता है; क्योंकि सेवा सुख देकर दुःख लेने का पाठ पढ़ाती है। पराया दुःख अपना हो जाने पर प्राणी दुःखी नहीं रहता; क्योंकि पर-दुःख से दुःखी होने में जिस रस की निष्पत्ति होती है, उसकी समानता किसी भी सुख-भोग में नहीं है।
—चित्तशुद्धि

50. यदि कोई यह कहे कि व्यक्तियों की सेवा से तो मोह की वृद्धि होगी, पर बात ऐसी नहीं है। कारण कि मोह की वृद्धि तो व्यक्तियों के द्वारा सुख की आशा करने पर होती है, सेवा से नहीं। व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों के मोह से रहित कर देती है; क्योंकि सेवा वही कर सकता है, जो सुख की आशा से रहित है।
—चित्तशुद्धि

51. प्रभु का एक विधान है कि अशरीरी जीवन से सेवा होती है, शरीर-बद्ध जीवन से नहीं।
—सन्त-जीवन-दर्पण

52. दुखियों की सेवा वह कर सकता है, जिसको अपने लिए संसार की आवश्यकता नहीं होती।
—सन्त-समागम 1

53. जो स्वयं दुःखी है, वह 'सेवा' नहीं कर सकता, किन्तु 'विचार' कर सकता है। बेचारे सुखी प्राणी में सुखासक्ति के कारण विचार का उदय नहीं होता, प्रत्युत् वह 'सेवा' कर सकता है।
—सन्त-समागम

54. जिस प्रकार प्रकाश सूर्य का और गन्ध पुष्प का स्वभाव है, उसी प्रकार सेवा सेवक का स्वभाव है। सेवा की नहीं जाती, होने लगती है।
—सन्त-समागम 2

55. सेवक में सेवा करने से कभी थकावट नहीं आती, प्रत्यत् ज्यों-ज्यों सेवा बढ़ती है, त्यों-त्यों उसकी शक्ति भी बढ़ती जाती है।
—सन्त-समागम 2

56. सेवक दो प्रकार के होते हैं -एक तो गंगा की भाँति प्रत्यक्ष जन-समाज के सामने लहराते हैं और दूसरे हिमालय की भाँति अचल होकर मूक सेवा करते हैं। —सन्त-समागम 2
57. सेवा करने के लिए बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। बाह्य वस्तुओं के संगठन से तो पुण्यकर्म होता है।
—सन्त-समागम 2
58. वस्तुओं का संग्रह करना विश्व का ऋणी होना है। अत: वस्तुओं को विश्व के कार्य में लगा देना ऋण से मुक्त होना है, सेवा करना नहीं। —सन्त-समागम 2
59. सेवक होना उन्नति का साधन है; परन्तु सेवक कहलाना अवनति का कारण है। —सन्त-समागम 2
60. नौकर के द्वारा सेवा नहीं हो सकती। जो बेचारा स्वयं उपभोग से ग्रसित है, वह सेवा नहीं कर सकता। सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन भिक्षा के आधार पर निर्भर हो, और जो अर्थ और काम की वासनाओं से मुक्त हो। —सन्त-समागम 2
61. सेवा वही कर सकता है, ज़िसको अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता नहीं होती। —सन्त-समागम 2
62. आजकल प्राणी शुभ-कर्म को सेवा मान लेते हैं, इसी कारण उसमें बँध जाते हैं। सच्ची सेवा वस्तुओं तथा इन्द्रियों द्वारा नहीं होती।........... सच्ची सेवा का अधिकार तब प्राप्त होता है, जब प्राणी को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता।
—सन्त-समागम 2
63. सेवा सुखी प्राणियों का साधन है, दुखियों का नहीं। दुखियों का साधन एकमात्र त्याग है। अत: तुमको त्याग अपना लेना चाहिए अर्थात् शरीर, मन आदि किसी भी वस्तु तथा सम्बन्धी को अपना मत समझो। —सन्त-समागम 2
64. जिनसे माना हुआ सम्बन्ध है, उनकी सेवा करना अनिवार्य है। सम्बन्ध बनाये रखना और सेवा से अपने को बचाना साधन-निर्माण में विघ्न है।......... जिसे किसी भी कारण से सेवा न करना हो, उसके लिए माने हुए सभी सम्बन्धों का विवेकपूर्वक अन्त करना अनिवार्य है। —साधन-तत्त्व

65. कर्म का महत्त्व केवल करने का राग मिटाने के लिए और सुन्दर समाज के निर्माण में ही है। पर वह तभी हो सकता है, जब कर्म सेवा-भाव से सम्पादित किया जाए, उसमें स्वार्थ की गन्ध भी न रहे। —साधन-तत्त्व

66. संसार से कुछ न लेना -यही सेवा है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

67. स्कूल, अस्पताल खोलना सेवा नहीं, यह तो संग्रह का प्रायश्चित्त है। —सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

68. मानव जिसमें अविचल आस्था स्वीकार करता है, वही उसका सेव्य है और उसी के नाते सेवा की जाती है।

—मानवता के मूल सिद्धान्त

69. बालक, रोगी, वृक्ष और पशु -इनकी सेवा का दायित्व मानव मात्र पर है। इनकी यथेष्ट सेवा किए बिना न तो दरिद्रता ही नाश होगी और न समाज आवश्यक वस्तुओं से ही परिपूर्ण होगा। अतः संग्रहीत सम्पत्ति रोगी, बालक, वृक्ष तथा पशुओं की ही है।

—दर्शन और नीति

70. प्राकृतिक नियम के अनुसार संग्रहीत सम्पत्ति समाज के उसी वर्ग की है, जो वर्ग उपार्जन में असमर्थ है अथवा जिन्हें अवकाश नहीं है। जो वर्ग उपार्जन में समर्थ है, उसका अधिकार संग्रहीत सम्पत्ति पर नहीं है। अतः रोगियों, बालकों और सत्य की खोज में रत व्यक्तियों की सेवा संग्रहीत सम्पत्ति द्वारा करना अनिवार्य है।

—दर्शन और नीति

71. सेवा का क्रियात्मक रूप भले ही ससीम हो, पर भाव असीम होना चाहिए। ससीम भाव से की हुई सेवा परस्पर व्यक्तियों, वर्गों और देशों में संघर्ष उत्पन्न करती है। सेवा की पूर्णता प्रेम के प्रादुर्भाव में है, संघर्ष में नहीं। —मानवता के मूल सिद्धान्त

72. बुराई-रहित होकर भलाई का फल न माँगें, न चाहें -यह संसार की सबसे बड़ी सेवा है।........ यह तो संसार की सेवा हुई। फिर हमारी सेवा कैसे होगी ? हमारी सेवा होगी अचाह होने से। 'मुझे कुछ नहीं चाहिए' -इसके द्वारा हम अपनी सेवा कर सकेंगे।

—संतवाणी 8

73. 'परमात्मा' के नाते जगत् की सेवा करें तो प्रत्येक प्रवृत्ति 'पूजा' हो गयी, 'आत्मा' के नाते जगत् की सेवा करें तो 'साधना' हो गयी और 'जगत्' के नाते जगत् की सेवा करें तो 'कर्तव्य' हो गया।
—संतवाणी 8

74. जैसे गंगाजल से गंगा की पूजा कर दें तो बताइए कि पूजा करने में क्या कोई खर्च होगा ? वैसे ही संसार की वस्तु से संसार की सेवा कर देनी है।
—संतवाणी 7

75. पुण्य-कर्म में और सेवा में अन्तर क्या है ? अपनी वस्तु मानकर आप किसी की सहायता करते हैं तो वह पुण्य-कर्म है, सेवा नहीं है।
—संतवाणी 5

76. सेवा का अर्थ यह कभी नहीं होता कि हम जिसकी सेवा करते हैं, उसे कुछ देते हैं। सेवा का अर्थ ही इतना है कि उसकी धरोहर जो अपने पास है, वह उसे भेंट करते हैं। यानी जिसकी जो वस्तु है, उसी को उसे दे देना -इसका नाम 'सेवा' है। —संतवाणी 5

प्राकृतिक नियम के अनुसार संग्रहीत सम्पत्ति समाज के उसी वर्ग की है, जो वर्ग उपार्जन में समर्थ है, अथवा जिन्हें अवकाश नहीं है। जो वर्ग उपार्जन में समर्थ है, उसका अधिकार संग्रहीत सम्पत्ति पर नहीं है। अतः रोगियों, बालकों और सत्य की खोज में रत व्यक्तियों की सेवा संग्रहीत सम्पत्ति द्वारा करना अनिवार्य है।

स्वरूप

1. शरीर नहीं रहेगा तो मेरी क्षति हो जाएगी –यह मानना बड़ा भारी पागलपन है। —संतवाणी 7
2. ईमानदारी की बात तो यह है कि शरीर और संसार का आप से कभी मिलन हुआ ही नहीं। —संतवाणी 7
3. तुम चिन्मय लोक की निवासिनी हो, भौतिक देह से तुम्हारी जातीय भिन्नता है अर्थात् तुम किसी भी काल में देह नहीं हो। देह तो विश्व की विभूति है। उसे विश्व की भेंट करना है। जब तुम अपने को देह के वेश में छिपा लेती हो, तब तुम्हारे प्रियतम विश्व का वेश धारण कर तुम्हें अनेक प्रकार से लाड़ लड़ाते हैं।—पाथेय
4. यह जान लेने पर कि 'मैं देह नहीं हूँ', देह की ममता का भी त्याग करना होगा अर्थात् यह भली-भाँति जानना होगा कि 'देह मेरा नहीं है'। —पाथेय
5. शरीर के बनने तथा बिगड़ने से तुम्हारा कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। —पाथेय
6. स्वरूप का निश्चय नहीं होता, बल्कि स्वरूप का बोध होता है। यह निश्चय वाली बात अज्ञान-काल में ज्ञान को बढ़ाने के लिए कहते हैं। प्यारे, शास्त्र साधन है, सिद्धान्त नहीं। —सन्त-समागम 1
7. आप अपने निज स्वरूप से अलग होकर शरीर तथा संसार रूपी जंगल में खेलने आयी हैं। यह स्थान आपके खेलने का नहीं है।............ जिनको आप माता, पिता तथा बन्धु कहती हैं, वे इस जंगल के कटीले वृक्ष हैं। —सन्त-समागम 1
8. तुम अपनी दशा मत देखो, अपितु अपने स्वरूप को देखो। भला तुम तक कभी भी सृष्टि पहुँच सकती है ? कदापि नहीं। —पाथेय

9. अपने लिए अपने से भिन्न की आवश्यकता कदापि नहीं हो सकती; क्योंकि भिन्नता से एकता होनी सर्वथा असम्भव है।
—सन्त-समागम 2
10. जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं के बिना हम सर्वदा स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकते हैं। —सन्त-समागम 2
11. 'मैं क्या हूँ' यह जानने के लिए भी दूसरे की आवश्यकता हो गई, क्या ही विचित्र बात है ! —सन्त-समागम 2
12. माना हुआ 'मैं' चोर के समान है। 'मैं नित्य हूँ' यह भाव आते ही माना हुआ 'मैं' भाग जाएगा। इस भाव को भी बुद्धि का विषय न बनाओ; क्योंकि ज्ञान का चिन्तन ही अज्ञान है।
—सन्त-समागम 2
13. हम को शरीर में देश, जाति, सम्प्रदाय आदि का भाव आरोपित नहीं करना चाहिए, न परिवर्तनशील शरीर को अपना जीवन समझना चाहिए, और न उसकी आवश्यकता सदा के लिए समझनी चाहिए। —सन्त-समागम 2
14. 'मैं ब्रह्म हूँ' -यह आप जानते नहीं, मानते हैं।........... जानने के आधार पर कोई भाई, कोई बहन यह कह ही नहीं सकते हैं कि 'मैं क्या हूँ' ? बस, यही कह सकते हैं कि 'यह मैं नहीं हूँ'। निषेधात्मक ज्ञान है आपको अपने सम्बन्ध में। —संतवाणी 5
15. दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही अपने द्वारा अपना परिचय होता है। बस, यही 'मैं क्या हूँ ?' इस प्रश्न को हल करने का उपाय है। —मानव-दर्शन
16. 'ओम्' का जप करने का अर्थ यही है कि 'मैं शरीर नहीं, बल्कि आनन्दघन आत्मा हूँ'। —संतपत्रावली 1
17. जड़ में अवस्था-भेद होता है, चेतन में नहीं। —सन्त-समागम 1

समाज का जो वर्ग उत्पादन में समर्थ है, वह यदि वर्तमान उपयोगिता से अधिक संग्रहीत सम्पत्ति का अधिकारी अपने को मान लेता है, तब उसके जीवन में मिथ्या अभिमान, आलस्य तथा विलास की उत्पत्ति हो जाती है, जो उसके सर्वनाश में हेतु है।

स्वाधीनता

1. स्वाधीनता का अर्थ ही यह है कि आप जब स्वाधीनता पसन्द करेंगे तो शरीर की भी आप आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे।
—संतवाणी 5

2. यदि हमें और आपको यह मालूम हो जाए, यह अनुभव हो जाए कि कुछ न करने में भी जीवन है, कुछ न करने पर भी हम हैं और हमारा जीवन है, तो अभी-अभी स्वाधीन हो जाएँ।
—संतवाणी 6

3. स्वाधीन किसे कहते हैं ? जिसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, जिसके पास अपना करके कुछ न हो। —प्रेरणा पथ

4. जिसने ज्ञानपूर्वक अनुभव किया कि इतने बड़े संसार में मेरा करके कुछ भी नहीं है, उसी ने स्वाधीनता पाई। —संत-उद्बोधन

5. स्वाधीनता के पुजारी को मूक सत्संग से भिन्न और कुछ नहीं करना है। —मूक सत्संग

6. स्वाधीनता एकमात्र सहज निवृत्ति तथा शरणागति में ही है। प्रवृत्ति मात्र पराधीनता का प्रतीक है। —संतपत्रावली 2

7. बे-मन के जीवन में ही जीवन है। सामान-रहित होने में ही स्वाधीनता निहित है। —पाथेय

8. पराधीन प्राणी से ही पर-पीड़ा होती है। स्वाधीन जीवन से किसी को पीड़ा नहीं होती और स्वाधीनता स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त की जा सकती है। —सफलता की कुंजी

9. मानव दूसरों के मन की बात पूरी करने में जितना स्वाधीन है, उतना अपने मन की बात दूसरों द्वारा पूरी कराने में स्वाधीन नहीं है। —दर्शन और नीति

10. अपने को देह मानकर कोई भी व्यक्ति स्वाधीन नहीं हो सकता।
—चित्तशुद्धि

11. स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन कभी परतन्त्रता नहीं हो सकती अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्त करने का साधन भी स्वतन्त्र है; क्योंकि स्वतन्त्रता प्राणी की निज की वस्तु है।........... पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिए प्राणी स्वेच्छापूर्वक सर्वदा स्वतन्त्र है। —सन्त-समागम 2
12. यदि हमारे में किसी प्रकार का दासत्व न होता, तो हम किसी को भी परतन्त्र करने का प्रयत्न न करते। जो स्वयं स्वतन्त्र है, वह किसी को परतन्त्र नहीं करता। —सन्त-समागम 2
13. यद्यपि स्वाधीनता सभी को स्वाभाविक प्रिय है, परन्तु कामनापूर्ति के प्रलोभन के कारण साधक पराधीनता को स्वाधीनता के समान ही महत्त्व देने लगता है। —साधन-तत्त्व
14. जिस व्यक्ति को अपनी प्रसन्नता के लिए दूसरों की ओर देखना नहीं पड़ता, उसी का जीवन स्वाधीन जीवन है।

—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)
15. हम शरीर की जरूरत को अपनी जरूरत मानकर अपने को पराधीन बना लेते हैं। —संतवाणी 8
16. अचाह होने पर ही व्यक्ति स्वाधीन होता है; उसे किसी की आवश्यकता नहीं रहती। —संतवाणी 7
17. जब सुख का प्रलोभन और दुःख का भय नहीं रहता, तब अपने-आप स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश पाते हैं।

—संतवाणी 6
18. स्वाधीनता आपको स्वाधीनतापूर्वक प्राप्त होती है। किसी 'पर' के आश्रय से स्वाधीनता मिलती हो, ऐसा है नहीं। —संतवाणी 6

उपार्जन करने वाले वर्ग को अपने दैनिक श्रम का कुछ भाग उस वर्ग के लिए अवश्य ही समर्पित करना चाहिए, जो वर्ग उपार्जन में असमर्थ है।

'है'

1. 'है' क्या है ? जो उत्पत्ति-विनाश से रहित है अथवा उत्पत्ति-विनाश से पूर्व है ? जिससे उत्पत्ति और विनाश प्रकाशित हैं, उसी को 'है' के अर्थ में लेना चाहिए। —मानव की माँग
2. 'है' उसे कह सकते हैं, जिसका कभी नाश न हो और जिससे कभी विभाजन न हो। —संतवाणी 5
3. प्रेम 'है' से ही हुआ करता है। योग 'है' का ही हुआ करता है। बोध 'है' का ही हुआ करता है। तो भाई, जो 'है', उससे योग करना है। जो 'है', उसका बोध है। जो 'है', उसमें प्रेम करना है। तो योग, बोध, प्रेम की प्राप्ति वर्तमान की वस्तु है। —संतवाणी 4
4. 'मै' अनेक मान्यताओं के रूप में स्वीकार किया गया है और 'मैं' का अर्थ सीमित रूप में अनेक बार किया गया है। इस कारण 'है' को 'मैं' कहने में प्रमाद हो सकता है। —जीवन-दर्शन
5. 'है' का वर्णन संकेत-भाषा से ही सम्भव है। कारण कि जिन साधनों से हम 'है' का वर्णन कर सकते हैं, वे सब 'है' से ही प्रकाशित हैं और 'है' की सत्ता से ही सत्ता पाते हैं। जो साधन जिससे सत्ता पाते हैं, वे उसका वर्णन कैसे कर सकते हैं ? केवल संकेत ही कर सकते हैं। —मानव की माँग
6. 'नहीं' में 'है'-बुद्धि स्वीकार करने से ही 'है' से विमुखता होती है। —मानव-दर्शन
7. प्रतीति से विमुख हुए बिना दृश्य की यथार्थता स्पष्ट नहीं होती और 'है' से अभिन्न हुए बिना 'है' का बोध नहीं होता। —मानव-दर्शन
8. 'नहीं' की प्रतीति है, पर प्राप्ति नहीं और जो 'है', उसकी प्राप्ति होती है, प्रतीति नहीं। —मानव-दर्शन

9. 'नहीं' को 'नहीं' अनुभव करते ही 'है' की प्राप्ति स्वत: होती है।
—मानव-दर्शन

10. प्रत्येक वस्तु स्वभाव से ही गतिशील है। गतिशीलता में किसी का आकृषर्ण है। सभी का आकर्षण उसी के प्रति हो सकता है, जो 'है'।
—मानव-दर्शन

11. 'है' को स्वीकार करो अथवा न करो; किन्तु प्राप्ति तो 'है' की ही होती है।
—साधन-निधि

12. 'नहीं' की निवृत्ति बिना ही श्रम के स्वत: होती है और 'है' की प्राप्ति में भी श्रम हेतु नहीं है।
—मूक सत्संग

13. खोज उसी की होती है, जो 'है' और आस्था भी उसी में की जाती है, जो 'है'। 'है' का संग सत् का संग है।
—मूक सत्संग

14. 'है' एक है, अनेक नहीं। अत: वह कैसा है, यह विवेचन उतना अपेक्षित नहीं है, जितना उसका संग।
—मूक सत्संग

15. 'है' की 'मैं' के रूप में तथा निर्विकारता, परमशान्ति, स्वाधीनता, अमरत्व आदि विभूतियों के रूप में 'है' की ही प्राप्ति होती है। किन्तु 'है' की 'है' के रूप में प्राप्ति का मूल मन्त्र 'है' की अगाधप्रियता ही है।
—मूक सत्संग

16. 'मैं' और 'है' का भेद 'है' में नहीं है, यह 'है' की ही महानता है; किन्तु 'मैं' 'है' को अस्वीकार कर 'मैं' को ही स्वीकार करे, क्या यह 'मैं' की भूल नहीं है ?
—मूक सत्संग

17. 'यह' की आसक्ति 'मैं' का 'यह' से सम्बन्ध जोड़ती है, जो वास्तव में भूलजनित है। 'है' की प्रीति 'यह' की आसक्ति को खाकर 'मैं' को 'है' से अभिन्न करती है।
—मूक सत्संग

18. 'है' 'नहीं' को मिटाता नहीं, प्रत्युत् प्रकाशित करता है। 'है' की आवश्यकता 'नहीं' को खाकर 'है' से अभिन्न करती है। प्राणी 'है' से अभिन्न होकर ही 'है' को जानता है। अत: 'है' को जानने के लिए मन, बुद्धि आदि बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है।
—सन्त-समागम 2

19. 'नहीं' की निवृत्ति के बिना 'है' की प्राप्ति हो सकती है क्या ? कभी नहीं हो सकती।
—संतवाणी 5

20. 'है' में यदि हमारी प्रियता नहीं है, तो भजन कैसा ! और 'है' का यदि बोध नहीं है, तो तत्त्व-साक्षात्कार कैसा ! और 'है' से यदि योग नहीं है, तो परमशान्ति कैसी ! —संतवाणी 5
21. निर्मम और निष्काम होने के बाद 'मैं' का स्वतन्त्र अस्तित्व कुछ नहीं रहता। हाँ, फिर 'है' रहता है। —संतवाणी 3

अपने श्रम का पूरा मूल्य अपने पर व्यय करना, अथवा मनमाने ढंग से विवेक-विरोधी कार्यों में लगाना अनर्थ है। कारण, कि प्रत्येक व्यक्ति समाज के सहयोग से ही पोषित होता है। उस काल का ऋण उपार्जन-काल में चुकाना अनिवार्य है।

प्रकीर्ण

एकान्त

1. एकान्त का पूरा लाभ तब होता है, जब हमारा सम्बन्ध एक ही से रह जाए। अनेक सम्बन्ध लेकर एकान्त में जाते हैं तो उतना लाभ नहीं होता, जितना होना चाहिए। —संत-उद्‌बोधन
2. बाह्य साधन न होने पर भी दुखियों के दुःख से दुःखी होने वाला एकान्त में बैठा हुआ दुखियों के दुःख का अन्त कर रहा है; क्योंकि इच्छाशक्ति लीलामय भगवान् की योगमाया है, जो सब कुछ कर सकती है। —सन्त-समागम 1
3. प्रेमी और प्रेमपात्र के सिवा किसी तीसरे को स्थान न देना ही सच्चा एकान्त है, जो बाजार में भी हो सकता है।

—सन्त-समागम 1

'करना' और 'होना'

1. जो हो रहा है, वह सभी के लिए हितकर है, पर जो कर रहे हैं, उसी पर विचार करना है। —मंगलमय विधान
2. जो हो रहा है, उसमें सभी का हित विद्यमान है। अतः 'होने में प्रसन्न तथा करने में सावधान' रहने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। —जीवन-दर्शन
3. जो कर रहे हैं, वही पूजा और जो हो रहा है, वही लीला है। —संतपत्रावली 2
4. जो कुछ हो रहा है, उसमें किसी का अमंगल नहीं है तो फिर होने में प्रसन्न न रहना भूल के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है ?

—चित्तशुद्धि

5. अशान्ति की गन्ध किसमें नहीं होती ? जो 'होने में तो प्रसन्न' रहता है, किन्तु 'करने में सावधान' रहता है। —संत-उद्‌बोधन

6. करने में सावधान रहने में ही अकर्तव्य का नाश है। होने में प्रसन्न रहने में ही असंगता निहित है। —साधन-तत्त्व
7. प्राकृतिक नियम के अनुसार जो करने में सावधान है, वही होने में प्रसन्न रह सकता है और जो होने में प्रसन्न रहता है, वही करने में सावधान हो सकता है। —चित्तशुद्धि
8. स्वतन्त्र अस्तित्व किसका नहीं है ? जो 'हो-होकर मिट रहा है'। यही 'हो रहा है' का अर्थ है। —दर्शन और नीति
9. होनहार का सच्चा अर्थ है विनाश; क्योंकि वास्तव में होना क्या है? उत्पत्ति का विनाश। —संतपत्रावली 2
10. होनहार में तो सभी का हित निहित है, किसी का ह्रास नहीं। ह्रास का एकमात्र कारण करने में असावधानी ही है, होनहार नहीं। —मानव की माँग
11. जो हो रहा है, उस पर यदि विचार किया जाए तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिसे हम उत्पत्ति कहते हैं, वह किसी का विनाश है और जिसे हम विनाश कहते हैं, वह किसी की उत्पत्ति है। —चित्तशुद्धि

क्षमा

1. जिनसे ममता नहीं है, उन्हीं के प्रति क्षमाशीलता का प्रयोग हितकर सिद्ध होता है। मोहयुक्त क्षमा से किसी का भी हित नहीं होता-न अपना और न उसका, जिसमें मोह है। —चित्तशुद्धि
2. क्षमायाचना करने पर यदि कोई क्षमा न करे तो लेशमात्र भी चिन्तित नहीं होना चाहिए; क्योंकि क्षमा करने की क्षमता उस अनन्त में ही है। व्यक्ति के रूप में उसी से क्षमायाचना की जाती है। —चित्तशुद्धि
3. 'सेवा' वही कर सकता है, जिसकी सभी के हित में रति है। 'त्याग' वही कर सकता है, जो संसार के स्वरूप को भलीभाँति जानता है। और 'क्षमाशील' वही हो सकता है, जो अपने दु:ख का कारण किसी और को नहीं मानता। —साधन-तत्त्व
4. किसी ने हमें दु:ख दिया है, यदि ऐसा प्रतीत हो तो समझना चाहिए कि दु:ख देने वाला स्वयं दु:खी है, इसलिए उसने दु:ख दिया है; अत: वह क्षमा का पात्र है। —संत-उद्बोधन

तीर्थयात्रा

1. यात्रा करने से रजोगुणी प्राणियों को लाभ होता है।

—संतपत्रावली 1

2. जो प्राणी अपने को केवल स्थूल शरीर मानते हैं अर्थात् शरीर को ही अपना-आप जानते हैं, उनके लिए 'तीर्थ' सबसे प्रथम साधन है; क्योंकि वहाँ जाने पर दान-स्नान आदि का करना अनिवार्य हो जाता है। तीर्थों में लोकान्तर का भाव रखना चाहिए, ऐसा करने से लाभ अवश्य होगा।

—सन्त-समागम 1

3. निर्बल, निर्धन और श्रद्धाहीन मनुष्य को तीर्थयात्रा नहीं करनी चाहिए।

—संत-सौरभ

4. तीर्थ-सेवन का अधिकारी वह होता है, जो तीर्थस्थानों में दिव्य लोकान्तरों का अनुभव करता है अर्थात् जिसकी तीर्थों में भौतिक-बुद्धि नहीं है।

—संत-सौरभ

पाप-पुण्य

1. अपनी प्रसन्नता अपने से भिन्न किसी अन्य के आश्रित जीवित रहे, यही 'पाप' है।

—सन्त-समागम 1

2. पापी को मिटाने के लिए उसका पाप ही काफी है अर्थात् पाप स्वयं पापी को मिटा देगा।

—सन्त-समागम 2

3. जो पतित सूर्य का प्रकाश पाता है, जल जिसकी प्यास बुझाता है, वायु जिसे श्वास लेने देती है, आकाश जिसे अवकाश देता है, पृथ्वी जिसे आश्रय देती है, आप उसे प्यार नहीं दे सकते ?

—जीवन-पथ

प्रारब्ध

1. 'प्रारब्ध' माने प्राकृतिक न्याय अर्थात् साधन-सामग्री; और 'पुरुषार्थ' माने उस सामग्री का सदुपयोग। ये दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। एक ही चीज के दो पहलू हैं।

—संतवाणी 7

2. प्रारब्ध किसी के पतन का कारण नहीं होता। —संत-सौरभ

3. प्रारब्ध को बुरा मत समझो, भला मत समझो। प्रारब्ध से कोई भाग्यशील या अभागा नहीं होता। जो बुराई-रहित हो जाता है, वही भाग्शील होता है। —संतवाणी 7

भूत-भविष्य-वर्तमान

1. भूतकाल को भूलकर, भविष्य की आशा को छोड़कर और वर्तमान की आवश्यक नियमानुसार क्रियाओं से असंग हो जाने पर आत्मानुभव अवश्य होगा। —संतपत्रावली 1

2. वर्तमान समय को सबसे उत्तम-समझो; क्योंकि वर्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत और आने वाला भविष्य अपने-आप सँभल जाता है। —संतपत्रावली 1

3. भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूलना अनिवार्य है। प्रत्येक घटना का अर्थ पथ-प्रदर्शन कर सकता है; क्योंकि घटना का अर्थ विवेकयुक्त होता है। —दर्शन और नीति

4. भूतकाल की अशुद्धि का त्याग वर्तमान में हो सकता है, परन्तु वर्तमान की शुद्धि भविष्य में मिट नहीं सकती।
—चित्तशुद्धि

5. यह नियम है कि वर्तमान कार्य ठीक होने पर ही बिगड़े हुए भूत का परिणाम मिट सकता है और भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। इस दृष्टि से वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। —चित्तशुद्धि

6. वर्तमान कार्य को भविष्य पर छोड़ना और भविष्य के कार्य का वर्तमान में चिन्तन करना, जो स्वयं कर सकते हैं, उसके लिए दूसरों की ओर देखना और जो अपने करने का नहीं है, उसके लिए स्वयं चिन्तन करना -यही असफलता का कारण है।
—जीवन-दर्शन

7. जो दशा पत्र लिखते समय होती है, वह दशा पत्र पहुँचते समय तक रहेगी -क्या यह बात सन्देह-रहित है ? कदापि नहीं। पत्र का मिलना भूतकाल की चर्चा है, और कुछ नहीं। —पाथेय

तीर्थयात्रा

1. यात्रा करने से रजोगुणी प्राणियों को लाभ होता है।

—संतपत्रावली 1

2. जो प्राणी अपने को केवल स्थूल शरीर मानते हैं अर्थात् शरीर को ही अपना-आप जानते हैं, उनके लिए 'तीर्थ' सबसे प्रथम साधन है; क्योंकि वहाँ जाने पर दान-स्नान आदि का करना अनिवार्य हो जाता है। तीर्थों में लोकान्तर का भाव रखना चाहिए, ऐसा करने से लाभ अवश्य होगा। —सन्त-समागम 1

3. निर्बल, निर्धन और श्रद्धाहीन मनुष्य को तीर्थयात्रा नहीं करनी चाहिए। —संत-सौरभ

4. तीर्थ-सेवन का अधिकारी वह होता है, जो तीर्थस्थानों में दिव्य लोकान्तरों का अनुभव करता है अर्थात् जिसकी तीर्थों में भौतिक-बुद्धि नहीं है। —संत-सौरभ

पाप-पुण्य

1. अपनी प्रसन्नता अपने से भिन्न किसी अन्य के आश्रित जीवित रहे, यही 'पाप' है। —सन्त-समागम 1

2. पापी को मिटाने के लिए उसका पाप ही काफी है अर्थात् पाप स्वयं पापी को मिटा देगा। —सन्त-समागम 2

3. जो पतित सूर्य का प्रकाश पाता है, जल जिसकी प्यास बुझाता है, वायु जिसे श्वास लेने देती है, आकाश जिसे अवकाश देता है, पृथ्वी जिसे आश्रय देती है, आप उसे प्यार नहीं दे सकते ?

—जीवन-पथ

प्रारब्ध

1. 'प्रारब्ध' माने प्राकृतिक न्याय अर्थात् साधन-सामग्री; और 'पुरुषार्थ' माने उस सामग्री का सदुपयोग। ये दो अलग-अलग चीजें नहीं हैं। एक ही चीज के दो पहलू हैं। —संतवाणी 7

2. प्रारब्ध किसी के पतन का कारण नहीं होता। —संत-सौरभ

3. प्रारब्ध को बुरा मत समझो, भला मत समझो। प्रारब्ध से कोई भाग्यशील या अभागा नहीं होता। जो बुराई-रहित हो जाता है, वही भाग्शील होता है। —संतवाणी 7

भूत-भविष्य-वर्तमान

1. भूतकाल को भूलकर, भविष्य की आशा को छोड़कर और वर्तमान की आवश्यक नियमानुसार क्रियाओं से असंग हो जाने पर आत्मानुभव अवश्य होगा। —संतपत्रावली 1
2. वर्तमान समय को सबसे उत्तम-समझो; क्योंकि वर्तमान के सँभल जाने से बिगड़ा हुआ भूत और आने वाला भविष्य अपने-आप सँभल जाता है। —संतपत्रावली 1
3. भूतकाल की घटनाओं के अर्थ को अपनाकर घटनाओं को भूलना अनिवार्य है। प्रत्येक घटना का अर्थ पथ-प्रदर्शन कर सकता है; क्योंकि घटना का अर्थ विवेकयुक्त होता है। —दर्शन और नीति
4. भूतकाल की अशुद्धि का त्याग वर्तमान में हो सकता है, परन्तु वर्तमान की शुद्धि भविष्य में मिट नहीं सकती। —चित्तशुद्धि
5. यह नियम है कि वर्तमान कार्य ठीक होने पर ही बिगड़े हुए भूत का परिणाम मिट सकता है और भविष्य उज्ज्वल हो सकता है। इस दृष्टि से वर्तमान कार्य ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है। —चित्तशुद्धि
6. वर्तमान कार्य को भविष्य पर छोड़ना और भविष्य के कार्य का वर्तमान में चिन्तन करना, जो स्वयं कर सकते हैं, उसके लिए दूसरों की ओर देखना और जो अपने करने का नहीं है, उसके लिए स्वयं चिन्तन करना -यही असफलता का कारण है। —जीवन-दर्शन
7. जो दशा पत्र लिखते समय होती है, वह दशा पत्र पहुँचते समय तक रहेगी -क्या यह बात सन्देह-रहित है ? कदापि नहीं। पत्र का मिलना भूतकाल की चर्चा है, और कुछ नहीं। —पाथेय

मत-सम्प्रदाय

1. प्रत्येक मत तथा वाद साधन-दृष्टि से आदरणीय तथा माननीय है; किन्तु उनकी ममता व्यक्तियों को पागल बना देती है। औषधि का सेवन आरोग्यता के लिए अपेक्षित है, ममता के लिए नहीं। उसी प्रकार मत, सम्प्रदाय आदि की अपेक्षा परिस्थिति के अनुरूप अपने को सुन्दर बनाने में है, परस्पर संघर्ष के लिए नहीं।
—दर्शन और नीति
2. जब तक मानव अपने मत, सम्प्रदाय एवं वाद के अनुसार अपने को सुन्दर बनाकर इनकी सीमा से अतीत नहीं हो जाएगा, तब तक उसके जीवन में पूर्णता की अभिव्यक्ति नहीं होगी।
—दर्शन और नीति
3. जीवन का जो सत्य होता है, वह किसी मजहब की बात नहीं होती, किसी सम्प्रदाय की बात नहीं होती, वह सभी की अपनी बात होती है।
—संतवाणी 8
4. दूसरों को हमारी प्रणाली अभीष्ट नहीं है, अपितु सहयोग एवं स्नेह अभीष्ट है।
—मंगलमय विधान
5. किसी भी संघ, संस्था, राष्ट्र, मजहब, इज़्म में यदि जीवन है तो मानवता का। मानवता-रहित संघ, संस्था आदि केवल संघर्ष को ही जन्म देती हैं, जो विनाश का मूल है।
—मानव-दर्शन

सत्-असत्

1. यह नियम है कि सत्य असत्य को मिटाने में समर्थ नहीं है। कारण कि सत्य तो असत्य को सत्ता देकर प्रकाशित करता है; किन्तु सत्य की लालसा असत्य को मिटाने में तथा सत्य से अभिन्न करने में समर्थ है।
—मानव की माँग
2. असत् का आकर्षण जितना मधुर प्रतीत होता है, उतनी मधुरता असत् की ओर गतिशील होने में नहीं है। प्रवृत्ति की रुचि जितनी आकर्षक है, उतनी प्रवृत्ति नहीं।
—मानव-दर्शन
3. सत् असत् का प्रकाशक है, नाशक नहीं। सत् की प्रियता ही एकमात्र असत् की नाशक है, जो सत् की आत्मीयता से ही साध्य है।
—मानव-दर्शन

4. असतू के अस्तित्व की स्वीकृति ही असत् को जीवित रखती है।
—मानव-दर्शन

5. असत् से बिना हटे असत् का कथन नहीं कर सकते और सत् से बिना मिले सत् का अनुभव नहीं कर सकते। —सन्त-समागम 1

सन्त-महात्मा

1. साधारण मनुष्यों में और सन्त में यही अन्तर होता है कि सन्त जैसा जानता है, वैसा मानता है और जैसा मानता है, वैसा ही करता है। —संत-उद्‌बोधन

2. सत्पुरुषों ने अपनी साधना के आधार पर कोई दल अथवा मत नहीं बनाया है। दलों और मतों को उनके पीछे चलने वालों ने अपने देहाभिमान के वशीभूत होकर जन्म दिया है। —मानव की माँग

3. जिस प्रकार समुद्र का पानी भाप बनकर अनेक स्थानों पर फैल जाता है, उसी प्रकार तत्त्ववेत्ता तत्त्वनिष्ठ होकर सर्वत्र फैल जाता है। तत्त्वनिष्ठ वही हो सकता है, जो तीनों स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों से अपने को असंग कर लेता है। —संतपत्रावली 1

4. दुनिया में आज तक जितने सन्त हुए, महात्मा हुए, बड़े आदमी हुए, पीर हुए, पैगम्बर हुए, उन सबके जीवन में आप तीनों ही बातें देखेंगे -आपको 'सेवा' दिखायी देगी, आपको 'त्याग' दिखायी देगा, आपको 'प्रेम' दिखायी देगा। —संतवाणी 8

5. जब तक उदार नहीं हैं, स्वाधीन नहीं हैं, प्रेमी नहीं हैं, तब तक आप महात्मा नहीं हैं, चाहे कितना ही बढ़िया व्याख्यान हम दे लें। व्याख्यान देने से महात्मा नहीं हो जाते। —संतवाणी 2

योग-बोध-प्रेम (कर्मयोग-ज्ञानयोग-भक्तियोग)

1. योग, बोध और प्रेम 'प्राप्त' में और भोग, मोह और आसक्ति 'अप्राप्त' में प्रवृत्त कराते हैं। —चित्तशुद्धि

2. 'योग' की पूर्णता में बोध तथा प्रेम, और 'बोध' की पूर्णता में योग तथा प्रेम, और 'प्रेम' के प्राकट्य में योग तथा बोध स्वतः सिद्ध है। —चित्तशुद्धि

3. 'योग' में शक्ति और शान्ति है, 'बोध' में मुक्ति है, और 'प्रेम' में भक्ति है।
—संतवाणी 6

4. यदि कुछ 'करना' चाहते हो तो सेवा करो, यदि 'जानना' चाहते हो तो अपने को जानो, और यदि 'मानना' चाहते हो तो प्रभु को मानो अर्थात् अपने को जानना है, प्रभु को मानना है और सेवा करना है।
—मानव की माँग

5. उदारता, त्याग तथा प्रेम में रस-भेद भले हो, स्वरूप-भेद नहीं है।
—मूक सत्संग

6. सेवा करते जाओ, त्याग को अपनाते जाओ और प्रेम की भूख बढ़ाते जाओ।
—संतवाणी 7

7. जिज्ञासा की दृष्टि से जो 'ज्ञान' है, वैराग्य की दृष्टि से वही 'योग' है, और समर्पण की दृष्टि से वही 'प्रेम' है। —पाथेय

8. दूरी के नाश में ही 'योग' और भेद के नाश में ही 'बोध' तथा भिन्नता के नाश में ही 'प्रेम' का प्रादुर्भाव होता है।
—मानव-दर्शन

9. मिले हुए का दुरुपयोग न करने पर 'कर्तव्यपरायणता' स्वत: आती है, और जाने हुए का आदर करने पर 'असंगता' प्राप्त होती है, एवं बिना जाने में आस्था होने पर स्वत: 'शरणागति' उदित होती है।
—मानव-दर्शन

10. जो बिना सीखे हो, वही सच्चा 'ज्ञान' है अर्थात् स्वभावत: आ जाए। जो बिना हेतु के हो, वही सच्चा 'प्रेम' है। और जो बिना किए हो, वही सच्चा 'त्याग' है; क्योंकि सच्चा त्याग करना नहीं पड़ता, हो जाता है।
—संतपत्रावली 1

11. 'कर्तव्य' की विस्मृति में ही अकर्तव्य और 'स्वरूप' की विस्मृति में ही देहाभिमान एवं 'प्रेमास्पद' की विस्मृति में ही अनेक आसक्तियों की उत्पत्ति हो जाती है, जो विनाश का मूल है।
—दु:ख का प्रभाव

12. योग, ज्ञान और प्रेम का विभाजन नहीं हो सकता।
—जीवन-दर्शन

13. 'सेवा' सुन्दर समाज के निर्माण में, 'त्याग' अपने कल्याण में तथा आत्मीयता से उत्पन्न हुई 'प्रियता' अनन्त को रस प्रदान करने में हेतु है। —दर्शन और नीति
14. अपना मूल्य कम न होने पाए, यही 'पुरुषार्थ' है। शरीर से लेशमात्र भी सम्बन्ध न रहे, यही 'त्याग' है। अपने से भिन्न किसी प्रकार की सत्ता स्वीकार न हो, यही 'प्रेम' है। —सन्त-समागम 2
15. कुछ लोग संसार को मानते हैं, उन्हें बुराई-रहित होना पड़ेगा। कुछ लोग अपने को मानते हैं, उन्हें अचाह होना पड़ेगा। कुछ लोग प्रभु को मानते हैं, उन्हें प्रेमी होना पड़ेगा। —संतवाणी 8
16. मेरे जानते, बुराई-रहित होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। अचाह होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। भगवान् को अपना मानना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। —संतवाणी 7
17. इन तीन बातों से सारे जीवन की समस्याएँ हल हो जाती हैं (1) मुझे कुछ नहीं चाहिए, (2) प्रभु अपने हैं, (3) सब कुछ प्रभु का है। यही जीवन का सत्य है। इसको स्वीकार करने से उदारता, स्वाधीनता और प्रेम प्राप्त होगा। —संतवाणी 7
18. योग की प्राप्ति में, बोध की प्राप्ति में, प्रेम की प्राप्ति में कुछ न चाहना ही मूल मन्त्र है। —संतवाणी 6
19. 'सेवा' का जो तत्त्व है, वह तो बुराई-रहित होना है। 'त्याग' का जो तत्त्व है, वह तो अचाह होना है, निर्मम होना है, तादात्म्य-रहित होना है। 'आस्था' का जो तत्त्व है, वह तो भगवान् से भिन्न किसी और के अस्तित्व को अस्वीकार करना है और केवल भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार करना है। —संतवाणी 7
20. 'कर्तव्यपरायणता' आते ही, आप चाहो तो, न चाहो तो, आपका जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाएगा। 'असंगता' प्राप्त होते ही आपके न चाहने पर भी आपका जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाएगा और 'आत्मीयता' प्राप्त होते ही आपका जीवन प्रभु के लिए उपयोगी हो जाएगा। —संतवाणी 5
21. बोध में से, ज्ञान में से 'प्रेम' को निकाल दीजिए तो शून्य आ जाएगा। प्रेम में से 'ज्ञान' निकाल दीजिये तो काम आ जायगा। और

ज्ञान और प्रेम में से 'योग' निकाल दीजिये, असमर्थता आ जायगी।
—संतवाणी 4

22. आस्तिक दर्शन का अर्थ है -प्रभु-विश्वास। अध्यात्म दर्शन का अर्थ है—विवेक-विरोधी सम्बन्ध का त्याग। और भौतिक दर्शन का अर्थ है—विवेक-विरोधी कर्म का त्याग। —संतवाणी 4

23. भौतिक विकास की चरम सीमा 'योग' है, आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा 'बोध' है, और आस्तिक विकास की चरम सीमा 'प्रेम' है।
—संतवाणी 3

24. प्रभु-विश्वासी का प्रत्येक कार्य 'पूजा' है, और अध्यात्मवादी का प्रत्येक कार्य 'साधना' है, तथा भौतिकवादी का प्रत्येक कार्य 'कर्तव्य' है।
—संत-उद्बोधन

25. अगर आप परमात्मा का अस्तित्व मानते हैं तो शरणागत हो जाइए। अपना अस्तित्व मानते हैं तो अचाह और अकिंचन हो जाइए, और जगत् का अस्तित्व मानते हैं तो सेवा कीजिए। —संतवाणी 2

विविध

1. सीधे-सादे जो बात आप चाहते हैं दूसरों से, उन से कहिए -देखिए, हम चाहते हैं कि आप ऐसा कर दीजिए। बस इतना ही त्याग रखिए कि यदि इन्कार कर दें तो बुरा मत मानिए।
—संतवाणी 4

2. अकेले रहने में बुरा लगता है तो नित्य साथी की याद करो।
—संतवाणी 4

3. 'साधु' माने यही कि जो संसार का सम्बन्ध तोड़ दे, चाहे घर में रहकर, चाहे वन में जाकर।........... भेष के साधु सब नहीं हो सकते, लेकिन बिना भेष के साधु हर भाई, हर बहिन हो सकती है।
—सन्तवाणी (प्रश्नोत्तर)

4. कम सामान रखोगे तो तुम को आराम ज्यादा मिलेगा। जिसको परायी कमाई खाना है, जिसको समाज के आश्रित रहना है, उसकी जरूरतें कम-से-कम हों तो अच्छी बात है यह। —संतवाणी 3

5. अपना सुधार जो नहीं कर सकता, वह किसी का सुधार नहीं कर सकता, सुधार के नाम पर अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। —संतवाणी 5
6. लकड़ी स्वयं जलकर दूसरों को जलाती है, किसी को जलाना सिखाती नहीं। दूसरों के सुधार एवं सिखाने की बात सीमित गुणों का अभिमान एवं अपनी योग्यता का परिचय देना है।

—सन्त-समागम 2
7. यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो देखने में आता है, उसकी प्राप्ति नहीं और जिसकी प्राप्ति होती है, वह देखने में नहीं आता।

—संत-उद्‌बोधन
8. मैं मूल रूप से कहूँगा कि तीन भूलें हमसे हुई हैं। एक भूल तो यह हुई है कि हम मिले हुए बल का दुरुपयोग कर बैठते हैं। दूसरी भूल यह हुई है कि हम जाने हुए का अनादर कर बैठते हैं। तीसरी भूल यह हुई है कि जिसको सुना है केवल, जाना नहीं है, उसमें अश्रद्धा कर बैठते हैं। —जीवन-पथ
9. जो मिला है, वह दूसरों के लिए है और मौजूद है, वह अपने लिए है। —प्रेरणा पथ
10. सिद्धान्त रूप से कोई भी 'गैर' नहीं है, कोई 'और' नहीं है। किसी-न-किसी नाते सभी अपने हैं और सभी में अपने प्रेमास्पद हैं। —संत-उद्‌बोधन
11. जब कोई 'और' है ही नहीं, तो भय कैसा ? जब कोई 'गैर' नहीं, तो प्रीति क्यों नहीं ? —संतवाणी 6
12. जैसा हम अपने को मान लेते हैं, वैसे ही हमसे कर्म होते हैं और कर्म के अन्त में हम वैसे ही बन जाते हैं। —मानव की माँग
13. की हुई भूल पर पश्चाताप करने के समान कोई 'प्रायश्चित्त' नहीं। भविष्य में भूल न करने के निश्चय के समान कोई दूसरा 'व्रत' नहीं। —संत-उद्‌बोधन
14. की हुई बुराई को पुनः न करना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है।

—सन्त-समागम 2
15. जैसे किसी पक्ष के विरोधी को मैं सजग नहीं मानता, वैसे किसी पक्ष के समर्थक को भी मैं सजग नहीं मानता। मस्तिष्क उसी का सजग रहता है, जो ईमानदारी से न विरोधी है, न समर्थक है।

—जीवन-पथ

16. जिसे कोई भी अपना साथी चाहिए, वह ईमानदारी पूर्वक ब्रह्मचारी नहीं रह सकता। —सन्त-समागम 2
17. हमारे जीवन में जितनी भी दुर्बलताएँ हैं, उनका मूल कारण एकमात्र प्राप्त बल का दुरुपयोग है, और जितनी बेसमझी है, उसका मूल कारण एकमात्र विवेक का अनादर है। —मानव की माँग
18. सद्गुरु-वाक्य है कि आवश्यक वस्तु बिना माँगे ही मिलती है और आवश्यक कार्य स्वत: होते रहते हैं। —पाथेय
19. प्रत्येक कार्य समस्त विश्व के हित के भाव से किया जाए, तो फिर कार्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती; कारण कि प्यारे प्रभु की योगमाया उसके अनुकूल हो जाती है। —पाथेय
20. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी और अहं अभिमानशून्य करना स्वयं को सुन्दर बनाने के लिए अत्यन्त अनिवार्य है। —मानव की माँग
21. क्रियाशीलता, जड़ता, निरर्थक चिन्तन, सार्थक चिन्तन आदि अवस्थाओं से निर्विकल्प अवस्था श्रेष्ठ है। —मानव-दर्शन
22. जिसका नाश अभीष्ट हो, उसको आश्रय न दो, उसका समर्थन तथा विरोध मत करो। उसे अस्तित्वहीन जानो। —मूक सत्संग
23. सभी को अपना स्वीकार करना अथवा 'अपने में अपना करके कुछ नहीं है' यह अनुभव समान अर्थ रखता है। —मूक सत्संग
24. उत्तम पुरुषों का परिवर्तन 'ज्ञान' से, मध्यम पुरुषों का 'लालच' से तथा निकृष्ट पुरुषों का 'भय' से होता है। —संतपत्रावली 1
25. कोई भी नियम क्रोध तथा आवेश में आकर नहीं बनाना चाहिए और न किसी नियम को जीवन भर के लिए करना चाहिए। —संतपत्रावली 1
26. जब कुछ नहीं चाहता, तब सब कुछ प्राप्त होता है। जब कुछ चाहता है, तब कुछ नहीं हाथ आता। कुछ न करने से सब कुछ होता है, कुछ करने से कुछ नहीं होता। जब कुछ नहीं जानता, तब सब कुछ जानता है। जब कुछ जानता है, तब कुछ नहीं जानता -ऐसा मेरा अनुभव है। —संतपत्रावली 1

27. पत्र सुनने पर जो भाव उत्पन्न होता है, वही उसका सच्चा उत्तर है। भाव शब्द की अपेक्षा व्यापक है। इतना ही नहीं, सद्भाव से हृदय बदलता है, और सुन्दर-सुन्दर शब्दों का केवल मस्तिष्क पर ही प्रभाव होता है। —संतपत्रावली 1
28. तुम्हारी आत्म-कथा का सपना बड़ा ही सुन्दर तथा सरस है, पर यह जानती हो कि स्वप्न का साक्षी सर्वदा स्वप्न से अतीत है और स्वप्न सर्वदा सत्ता-शून्य है। —पाथेय
29. बालिकाओं के रंग-रूप के सम्बन्ध में जो सामाजिक भावना बन रही है, वह बड़ी शोचनीय है। जब बालिकाएँ रोटी के लिए विवाह नहीं करेंगी, तभी यह भावना नष्ट होगी। वास्तव में विवाह एक निश्चित कार्यक्रम है। जो होना होगा, होगा ही। उसके लिए चिन्ता करना भूल है। दिल की सफाई व चरित्र का सौन्दर्य तथा योग्यता का आभूषण बालिकाओं की रक्षा करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। —संतपत्रावली 2
30. दुखियों के वेश में प्रेमास्पद को देखकर तुम क्षोभित होती हो अथवा करुणित ? यदि क्षोभित होती हो तो भूल है और यदि करुणित होती हो तो स्वाभाविकता है। क्षोभित होने से सुख का महत्त्व बढ़ता है और उसकी दासता अंकित होती है। करुणित होने से सुख का राग मिटता है और उदारता उदित होती है, जो भोगासक्ति को खाकर मन को निर्मल बना देती है। —पाथेय
31. सब कुछ करने पर वही प्राप्त होता है, जो करने के आरम्भ से पूर्व था। —सत्संग और साधन
32. मिले हुए के सदुपयोग के लिए ही 'विवेक'-रूपी विधान मिला है, और भोग की रुचि का नाश करने के लिए ही 'दु:ख' का प्रादुर्भाव हुआ है। —दु:ख का प्रभाव
33. यह सभी का दैनिक अनुभव है कि प्रिय-से-प्रिय वस्तुओं एवं व्यक्तियों से प्रतिदिन वियोग अपनाए बिना कोई भी भाई तथा बहन नहीं रह सकते। गहरी नींद तथा समाधि की आवश्यकता सभी अनुभव करते हैं। —दु:ख का प्रभाव
34. कोई बात पूरी नहीं होती तो समझो कि वह जरूरी नहीं है। —सन्त-जीवन-दर्पण

35. उत्पत्ति, रक्षा और विनाश विधान के अधीन हैं।

—दर्शन और नीति

36. अनेक प्रकार का निर्णय ही 'अविवेक' है, अनेक विश्वासों का होना ही 'अविश्वास' है, और जिसके करने पर कर्ता में करने का राग शेष रहे, वही 'अकर्तव्य' है। —जीवन-दर्शन

37. जब तक सन्देह की वेदना अत्यन्त तीव्र नहीं हो जाती, तब तक सन्देह मिटाने की योग्यता नहीं आती। यहाँ तक कि यदि किसी को प्यास लगी हो और उससे कहा जाए कि तुम पहले पानी पीना चाहते हो अथवा निस्सन्देह होना चाहते हो ? इस पर यदि वह यह कहे कि मुझे निस्सन्देह होना है, पानी नहीं पीना है, तो समझना चाहिए कि सन्देह की वेदना जाग्रत हो गयी। असह्य वेदना होते ही उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। —जीवन-दर्शन

38. हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम हमीं तक सीमित नहीं रहता, अपितु समस्त विश्व में फैलता है। —जीवन-दर्शन

39. प्राकृतिक विधान यह है कि दूसरों के साथ हम जो कुछ भी करेंगे, वह कालान्तर में अनेक गुणा होकर अपने साथ होगा।

—प्रेरणा पथ

40. दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर हमारे प्रति स्वतः होने लगता है। —जीवन-दर्शन

41. किसी की अवनति के द्वारा प्राप्त की हुई उन्नति अवनति ही है। आरम्भ में भले ही ऐसा प्रतीत हो कि किसी की हानि में किसी का लाभ है, पर परिणाम में तो यही सिद्ध होगा कि किसी हानि से उत्पन्न हुआ लाभ एक बड़ी हानि की तैयारी है।

—दर्शन और नीति

42. उपनिषदों और वेदान्त पर टीकाएँ कर डालीं और फिर भी दशा यह है कि ममता नाश नहीं हुई, कामना नाश नहीं हुई ! और बुद्धिमानी यह कि बात समझ में तो आती है, ठीक भी है, पर जीवन में नहीं उतरती। —प्रेरणा पथ

43. सभी को अपना मान लेने में, किसी एक को ही अपना मान लेने में अथवा किसी को भी अपना न मानने में जीवन की सार्थकता निहित है।

—जीवन-दर्शन

44. 'श्रम' का स्थान आलस्य मिटाने में है, प्रिय के पाने में नहीं। 'अरुचि' का स्थान सुख-भोग के त्याग में है, प्रीति के उदय में नहीं। —जीवन-दर्शन

45. प्राकृतिक विधान के अनुसार जिसकी वास्तव में उपयोगिता अपेक्षित है, उसकी रक्षा के साधन अपने-आप प्राप्त होते हैं।
—दर्शन और नीति

46. जो अप्राप्त है, उसकी चाह से रहित होना है; जो जानते हैं, उसी का आदर करना है; और जो कर सकते हैं, उसी को कर डालना है। अप्राप्त की चाह से रहित होते ही 'योग' स्वतः सिद्ध होगा। जो जानते हैं, उसका आदर करते ही स्वतः 'बोध' होगा। जो कर सकते हैं, उसके करते ही स्वतः सुन्दर परिस्थिति प्राप्त होगी।
—चित्तशुद्धि

47. अपने से अपनी दशा को छिपाना नहीं चाहिए। वस्तुस्थिति का वास्तविक परिचय होते ही या तो व्याकुलता की अग्नि प्रज्वलित होगी अथवा आनन्द की गंगा लहराएगी। —चित्तशुद्धि

48. यह नियम है कि भोग, मोह और आसक्ति की उत्पत्ति तभी होती है, जब प्रतीति में प्राप्त-बुद्धि स्वीकार कर ली जाए।
—चित्तशुद्धि

49. यह नियम है कि जिसका होना असह्य होता है, वह मिट जाता है और जिसका न होना असह्य होता है, वह प्राप्त हो जाता है।
—चित्तशुद्धि

50. ज्ञान, सामर्थ्य और वस्तुएँ असीम हैं, उनकी गणना तथा सीमा नहीं हो सकती। व्यक्ति उनकी खोज भले ही कर सके, पर उन्हें उत्पन्न नहीं कर सकता। यह नियम है कि खोज उसी की होती है, जो है। इस दृष्टि से विज्ञान विज्ञानवेत्ता की, दर्शन दर्शनकार की और कला कलाकार की खोज है, उपज नहीं। —चित्तशुद्धि

51. यह नियम है कि प्राणी जिसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है, उसका अस्तित्व भासने लगता है। जिसका अस्तित्व भासने लगता है, उस पर विश्वास होने लगता है। जिस पर विश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध हो जाता है। जिससे सम्बन्ध हो जाता है, उसमें प्रियता स्वतः उत्पन्न होती है। जिसमें प्रियता उत्पन्न हो जाती है, उसकी

स्मृति स्वतः होने लगती है। जिसकी स्मृति होने लगती है, उसमें आसक्ति हो जाती है। और जिसमें आसक्ति हो जाती है, उसमें सत्यता, सुखरूपता, सुन्दरता प्रतीत होने लगती है, और फिर प्राणी उसके अधीन हो जाता है। —चित्तशुद्धि

52. देने की रुचि का अन्त तभी हो सकता है; जब प्राणी देने के अभिमान से और लेने की आशा से रहित हो जाए अर्थात् दी हुई वस्तु को उसी की जाने, जिसको दी है। अपनी मानकर देने से लेने की आशा अवश्य उत्पन्न होती है। लेने की आशा रहते हुए देने की बात कहना ईमानदारी नहीं है अथवा यों कहो कि देने के रूप में लेना ही है, देना नहीं। इतना ही नहीं, उस प्राणी का लेना भी देना हो जाता है, जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता। जिसे अपने में अपना कुछ भी प्रतीत होता है, उसका देना भी लेना है अर्थात् उसका त्याग भी राग है और प्रेम भी मोह है। उसके द्वारा की हुई सेवा भी स्वार्थ है। —चित्तशुद्धि

53. सज्जनता बढ़ा लेने पर ही दुर्जनता का अन्त कर सकते हो। दुर्जनता से दुर्जनता किसी प्रकार भी मिटायी नहीं जा सकती। —सन्त-समागम 1

54. कर्म और संसार दोनों का स्वरूप एक है, इसलिए कर्म से संसार की प्राप्ति होती है। —सन्त-समागम 1

55. प्यारे, भाषा तथा भाव दोनों से परे रहो। भाषा तथा भाव किसी की सत्ता प्रकाशित नहीं करते, किन्तु संकेत करते हैं। —सन्त-समागम 1

56. प्यारे, जब सच्चाई भाव तथा भाषा से परे है, तो फिर उसकी व्याख्या ही क्या हो सकती है ? —सन्त-समागम 1

57. कोई भी शब्द अपना अर्थ आप तो प्रकाशित करते नहीं, इसलिए जो बात जिस भाव से कही हो, उसको उसी भाव से देखो। शब्दों पर मत जाओ। —सन्त-समागम 1

58. अनुभव बुद्धि द्वारा कथन नहीं किया जा सकता, केवल संकेत किया जा सकता है। गीता आदि भी संकेत ही करती है। —सन्त-समागम 1

59. विषयी का कथन विषयों के विषय में माननीय नहीं हो सकता; क्योंकि उस बेचारे को विषयों का ज्ञान तो है नहीं।

—सन्त-समागम 1

60. प्रकृति स्वाभाविक क्रियाएँ अहितकारी किसी प्रकार नहीं हो सकतीं; क्योंकि कोई भी अपने साथ अहित नहीं करता। शरीर आदि प्रकृति के हैं; अत: उनके सुधार में प्रकृति भूल नहीं कर सकती। प्रकृति की भूल सिर्फ राग-द्वेष के कारण दिखाई देती है।

—सन्त-समागम 1

61. बुद्धि आदि द्वारा प्रकृति की भूल पकड़ना यही अर्थ रखता है कि 'कुल' भूल करता है और 'जुज़' भूल पकड़ता है, यद्यपि 'जुज़' हर काल में 'कुल' के आश्रित है अर्थात् परतन्त्र है। 'जुज़' को जो कुछ हानि दिखायी देती है, वह 'जुज़' का दोष है, 'कुल' का नहीं। गहराई से देखो, क्या आँख सूरज का दोष पकड़ सकती है ? .... आँख में आसक्त बुद्धि सूर्य की व्यर्थ आलोचना करती है।

—सन्त-समागम 1

62. 'कुल' से 'जुज़' की हानि नहीं होती। यदि यह स्वीकार करते हो कि कुल जुज़ की हानि करता है तो जुज़ कुल से अलग क्यों नहीं हो जाता ? जब तक जुज़ कुल से अलग नहीं हो पाता, तब तक कुल पर 'जुज़' का आक्षेप करना शोभा नहीं देता।

—सन्त-समागम 1

63. यदि भिखारी बनना पसन्द है तो ऐसे भिखारी बनो कि दाता को ही भिक्षा में ले लो, जिससे बार-बार माँगना शेष न रहे।

—सन्त-समागम 1

64. 'मानना' वही सार्थक होता है, जिसमें अटल विश्वास हो और 'जानना' वही सार्थक होता है, जिसका आदर हो।

—सन्त-समागम 2

65. आज वेजिटेबिल मिल के लिए तो सम्पत्ति है; किन्तु डेयरी फार्म के लिए नहीं। पूँजीपतियों की इस भूल ने मानव के स्वास्थ्य को खा लिया है। वे ऊपर से तो अहिंसा के गीत गाते हैं; किन्तु पशुओं को न खाकर मनुष्यों को खा जाते हैं !

—सन्त-समागम 2

66. जीवन की प्रत्येक घटना कुछ-न-कुछ अर्थ रखती है। विचारशील अर्थ को अपनाते हैं, घटना को भूल जाते हैं।

—सन्त-समागम 2

67. गुण के आश्रय ही दोष, भलाई के आश्रित ही बुराई, कर्तव्य के सहारे ही अकर्तव्य और सत्य के आश्रय ही असत्य प्रकाशित होता है।
—साधन-तत्त्व

68. किसी भी व्यक्ति को बुरा तथा भला मत समझो; क्योंकि दूसरों को बुरा समझने से मन में बुराई आ जाती है, और प्रेमपात्र के अतिरिक्त दूसरों को भला समझने से प्रेमपात्र का विश्वास मिट जाता है और मन संसार का दास बन जाता है, जो दु:ख का मूल है।
—सन्त-समागम 2

69. जिस सद्ग्रन्थ में उसकी (साधक की) श्रद्धा है, उसमें अपनी समस्या हल करने के उपाय की ही खोज करे, सारा ग्रन्थ समझने का प्रयास न करे; क्योंकि जाने हुए असत् का त्याग किए बिना कोई भी साधक किसी भी सद्ग्रन्थ को सर्वांश में नहीं जान सकता। सद्ग्रन्थ भले ही सूर्य के समान हो, किन्तु सूर्य का प्रकाश नेत्रविहीन के काम नहीं आता।
—साधन-तत्त्व

70. व्यक्तिगत भिन्नता एक-दूसरे की पूरक है। —मंगलमय विधान

71. जो किसी की दासता में बँधा है, वही किसी को दास बनाने के प्रयास में लगा है।
—जीवन-पथ

72. यह कैसी विडम्बना है कि कोई भी मानव वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि की दासता को सुरक्षित नहीं रख पाता अर्थात् जिसकी दासता स्वीकार करता है, वह नहीं रहता, केवल दासता ही रह जाती है।
—मानव-दर्शन

73. अशान्ति नाश होती है निष्कामता से, भय नाश होता है निर्मोहता से और दरिद्रता नाश होती है निर्लोभता से। —संतवाणी 8

74. अपना सम्मान तथा शान्ति सुरक्षित रखने में दूसरों से आशा करना प्रमाद ही है। शान्ति निष्कामता में और सम्मान असंगता में है।
—संतपत्रावली 2

75. जो मनुष्य अपने दोष की ओर ध्यान न देकर दूसरों को दोषी मानता है और इस ख्याल से कि 'यहाँ मेरा आदर नहीं है, मेरे साथ लोग व्यवहार ठीक नहीं करते', एक जगह छोड़कर दूसरी जगह जाता है, उसको वहाँ भी आदर नहीं मिलता; क्योंकि दूसरों से सुख चाहने वाले मनुष्य का कोई भी आदर नहीं करता।
—संत-सौरभ

76. आदर तथा प्यार की भूख प्राणिमात्र को है और उसके आदान-प्रदान की सामर्थ्य मानव मात्र में है। परन्तु किसी गुण-विशेष के दर्शन बिना आदर तथा प्यार देने की अभिरुचि नहीं होती। मानव यह भूल जाता है कि गुणों के आधार पर दिया हुआ आदर तथा प्यार अपनी निर्बलता का परिचय है, आदर तथा प्यार नहीं। —दर्शन और नीति

77. प्राय: देखा जाता है कि जिसके पास धन नहीं है, वह बाहर से अपने शरीर को जितना सजाता है, धनी आदमी उतना नहीं सजाता; क्योंकि जो योग्यता जिसमें सचमुच होती है, उसे उसका प्रदर्शन करने का शौक नहीं होता। वह तो उसका स्वभाव बन जाता है। —संत-सौरभ

78. अगर हम शरीर को जगत् की मरजी पर छोड़ दें और अपने को प्रभु की मरजी पर छोड़ दें तो जीवन की जितनी समस्याएँ हैं, वे सब हल हो सकती हैं। —संतवाणी 2

79. जो 'क्रियाशक्ति' उपभोग में व्यय नहीं होती, वही सेवा में व्यय होती है। जो 'प्रीति' किसी वस्तु में आबद्ध नहीं होती, वही प्रेमपात्र (सर्वसमर्थ भगवान्) तक पहुँचती है। जो 'ज्ञान' पदार्थों के उपार्जन में व्यय नहीं होता, वही परमतत्त्व से अभिन्न होता है। —सन्त-समागम 2

80. प्राकृतिक नियम के अनुसार 'प्राप्ति' किसी अन्य की नहीं होती, प्रत्युत् उसी की होती है, जो नित्य प्राप्त है। 'कामना' उसी की होती है, जिसका भास हो, पर अस्तित्व नित्य न हो, और 'आवश्यकता' उसी की होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, पर भास नहीं। —चित्तशुद्धि

81. संसार की दासता मन से निकाल दो, यही 'त्याग' है। संसार से अपना मूल्य बढ़ा लो, यही 'तप' है। सब प्रकार से प्रेमपात्र के हो जाओ, यही 'भक्ति' है। अपनी प्रसन्नता के लिए किसी अन्य की ओर मत देखो, यही 'मुक्ति' है। —सन्त-समागम 2

82. भगवान् प्यारे लगें, उनकी याद बनी रहे, मन लग जाए –इसी का नाम 'भजन' है। यही तो 'भक्ति' है। परहित का भाव हो, सबके साथ सद्भावना हो –यही तो 'सेवा' है। कुछ नहीं चाहना ही तो

'त्याग' है। भगवान् के समर्पण हो जाना ही तो 'प्रेम' हैं इसी का नाम सच्चा भजन है। अपने स्थान पर ठीक बने रहें तो सभी 'धर्मात्मा' हैं। काम छोटा-बड़ा कोई नहीं है। अपने वर्णाश्रम के अनुसार सही बना रहे -यही 'धर्म' है। विचारपूर्वक सबसे असंग रहना ही सच्चा 'वेदान्त' है। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान् की शरण ग्रहण करना ही 'वैष्णवता' है। —संत-उद्‌बोधन

83. संसार से सुख की आशा के रहते 'त्याग' नहीं होता। ममता के रहते 'विकार' नहीं मिटते। कामनाओं के रहते 'शान्ति' नहीं मिलती। चाह-रहित हुए बिना 'योग' की सिद्धि नहीं मिलती। असंगता के बिना 'बोध' नहीं हो सकता। आत्मीयता के बिना 'प्रेम' की प्राप्ति नहीं हो सकती। ये सब बातें ध्रुव सत्य हैं। या कहो कि प्रभु का ऐसा कुछ विधान ही है। —संत-उद्‌बोधन

84. जीवनोपयोगी महावाक्य (1) मेरा कुछ नहीं है, (2) मुझे कुछ नहीं चाहिए, (3) प्रभु ही अपने हैं, और (4) सब कुछ प्रभु का ही है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान सामूहिक सम्पत्ति की सुरक्षा अनिवार्य है और उसका सदुपयोग सावधानीपूर्वक करना है। किन्तु सुख-भोग की दृष्टि से किसी भी सम्पत्ति का व्यय नहीं करना है, हित की दृष्टि से करना है। किसी को हानि पहुँचाकर किसी की सेवा करना, सेवा नहीं है, अपितु भोग है। भोग के राग का नाश करने के लिए मर्यादित भोग करना है। यदि विचारपूर्वक भोग-वासना नष्ट हो जाए, तो भोग-प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं है। भोग की वास्तविकता जानने के लिए ही मर्यादित भोग अपेक्षित है। अतः वस्तुओं का सम्पादन व्यक्तियों की सेवा में है, अपने सुख-भोग में नहीं। स्वार्थ-भाव का अन्त हुए बिना निर्लोभता की अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना दरिद्रता का नाश नहीं हो सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

हृदय-उद्गार

- 'शरीर सदैव मृत्यु में रहता है और मैं सदैव अमरत्व में रहता हूँ, यह मेरा परिचय है। —प्रबोधनी
- 'अरे दुनिया के दुखियो ! अब देर मत करो। व्याकुल हृदय से आनन्दघन भगवान् को बुलाओ। वे अवश्य आएँगे, आएँगे, आएँगे।' —संतपत्रावली 1
- 'हे पतितपावन सर्वसमर्थ भगवान् ! आप अपनी ओर देख अपने इस पतित प्राणी को अपनाइए, जिससे इसका उद्धार तथा आपका नाम सार्थक हो।' —संतपत्रावली 1
- 'तुम यह बात अपने मन से सदा के लिए निकाल दो कि मेरे समीप आने पर ही मेरी सेवा होगी। तुम जितना अपने को सुन्दर बना लोगे, उतनी ही मुझे प्रसन्नता होगी, और वही मेरी सच्ची सेवा होगी।' —संतपत्रावली 2
- 'वास्तव में तो मानवमात्र की अनुभूति ही मानव-सेवा-संघ का साहित्य है।' —पाथेय
- जिसने जाने हुए असत् के त्याग द्वारा असाधन का अन्त कर साधन-परायणता प्राप्त की, उसने तो मेरी बड़ी ही सेवा की है। जो अपने लिए तथा जगत् के लिए एवं प्यारे प्रभु के लिए उपयोगी है, वही मुझे परम प्रिय है। —पाथेय
- 'तुम कभी अपने स्वरूप को मत भूलो। यही मेरी सर्वोत्कृष्ट सेवा है।' —पाथेय
- 'गीता के रचयिता से मेरा बड़ा भारी सम्बन्ध है। वे मेरे बड़े मित्र हैं। मैं गीता का बड़ा आदर करता हूँ; क्योंकि वह मेरे दोस्त की बातचीत है।' —संतवाणी 7

❖ 'लोग अभी से कहने लगे कि शरणानन्द का एक दर्शन है। शरणानन्द का वही दर्शन है, जो सबका दर्शन है। अपने दर्शन में श्रद्धा कर लो, शरणानन्द का दर्शन आपने जान लिया। आप शरणानन्द के दर्शन पर श्रद्धा करना चाहें और अपने दर्शन में अश्रद्धा करें तो आपने शरणानन्द के दर्शन को नहीं समझा। शरणानन्द का दर्शन केवल इतना ही है कि हर भाई, हर बहन अपने दर्शन पर अविचल आस्था करे।' —संतवाणी 4

❖ 'मेरा बचा हुआ काम है -सोई हुई मानवता को जगाना।'

—संतवाणी 3

❖ 'मैं अमर हूँ यार। मेरा यह शरीर न रहे, पर मेरे अनेक शरीर हैं, उनमें मिलता रहूँगा।' सन्त-जीवन-दर्पण

❖ 'अगर आपने हमारी बात सुनी है तो सच मानिए कि आपको अपने लिए किसी भिन्न गुरु की आवश्यकता नहीं होगी।'

—संतवाणी 4

❖ 'जो प्राणी सब प्रकार से प्रभु के होकर रहते हैं, वे मेरे और मैं उनके सर्वदा संग हूँ।' —संतपत्रावली 2

❖ 'मैं सबके साथ हमेशा रहूँगा। जितने भी शरणागत हैं, उन सबसे मैं अभिन्न हूँ। जितने भी ममता-रहित हैं, उन सबके साथ हूँ। यह मत समझना कि मैं नहीं हूँ। मैं सर्वत्र सबके साथ मौजूद हूँ।'

—सन्त-जीवन-दर्पण

प्रार्थना

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतित पावनी,
अहैतुकी कृपा से
मानवमात्र को
विवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें,
एवं हे करुणासागर !
अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का
नाश करें।
सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भवगत् चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार, विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवी, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

क्रान्तिकारी सन्तवाणी

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।